हिन्दी दलित उपन्यास लेखन का विकास
(सन् 1954 से अब तक)

HINDI DALIT UPANYAS LEKHAN KA VIKAS
(1954 SE AB TAK)

Development of Hindi Dalit Novel Writing
(Since 1954 to till now)

पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

2017

शोध-निर्देशक
प्रो. राम चन्द्र

शोधार्थी
मनोज कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली-110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated : 21/07 2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitled **"Hindi Dalit Upanyas Lekhan ka Vikas (1954 Se Ab Tak)" [Development of Hindi Dalit Novel Writing (Since 1954 to till now)]** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

Manoj Kumar
MANOJ KUMAR
(Reserch Scholar)

PROF. RAM CHANDRA
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

Scanned by CamScanner

अनुक्रमणिका

पृष्ठ सं.

प्रस्तावना **i-v**

प्रथम अध्याय : हिन्दी दलित साहित्य लेखन की वैचारिकी और उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि **1–52**

(क) दलित साहित्य लेखन की वैचारिकी

(ख) उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि और दलित

1. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

2. यथार्थ और सृजनात्मकता का अन्तर्सम्बन्ध

द्वितीय अध्याय : हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : कथावस्तु का बदलता स्वरूप **53–102**

तृतीय अध्याय : हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : गरीबी एवं वर्ण–जाति व्यवस्था स्वरूप **103–142**

(क) गरीबी का बदलता समाजशास्त्र एवं दलित उपन्यास

(ख) सत्ता एवं वर्ण–जाति व्यवस्था का सम्बन्ध

चतुर्थ अध्याय : हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : स्त्रियों की बदलती भूमिका **143–193**

(क) दलित स्त्री

(ख) गैर दलित स्त्री

पंचम अध्याय : हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : दलित संस्कृति का बदलता स्वरूप 194-227

षष्ठ अध्याय : हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : भाषा एवं शिल्प का बदलता स्वरूप 228-252

(क) भाषा

(ख) शिल्प

उपसंहार 253-256

संदर्भ ग्रंथ सूची 257-266

प्रस्तावना

दलित साहित्य दलित आन्दोलन की उपज है। सदियों से भारतीय पारम्परिक समाज व्यवस्था जातीय भेदभाव, छुआछूत एवं पितृसत्ता जैसे नकारात्मक मूल्यों से संचालित रही है। इस पारम्परिक समाज व्यवस्था द्वारा निम्न वर्ण–जाति तबके एवं स्त्रियों पर लादी गयी अवमाननाओं के विरोध का आन्दोलन ही दलित आन्दोलन है। दलित आन्दोलन ने परम्परावादी समाज व्यवस्था के विरुद्ध समता, स्वतंत्रता एवं बंधुता जैसे मूल्यों की स्थापना के लिए लगातार संघर्ष किया है। दलित आन्दोलन का संघर्ष बहुआयामी रहा है। इसने परम्परावादी समाज व्यवस्था के विरुद्ध सामाजिक–सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक स्तर पर लगातार संघर्ष किया है। दलित साहित्य, दलित आन्दोलन का साहित्यिक विस्तार है। दलित साहित्यकारों ने महात्मा बुद्ध, बाबा साहब अम्बेडकर, महात्मा फुले, पेरियार आदि के विचारों से प्रेरणा लेकर साहित्य की विभिन्न विधाओं (कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, नाटक आदि) में दलित मुक्ति आन्दोलन की रूपरेखा को प्रस्तुत किया है। दलित साहित्यकारों ने समाज में दलित अवमानना के विभिन्न स्वरूपों एवं स्रोतों को बखूबी पहचान कर अपने सृजनात्मक साहित्य में उनकी मुखालफत की है।

मौजूदा दौर में हिन्दी दलित साहित्य की आत्मकथा तथा काव्य विधा पर साहित्यिक दायरों में जोरदार बहस हुई है तथा इन दोनों साहित्यिक विधाओं ने साहित्यिक दुनिया में अपनी मुकम्मल जगह बनायी है। दलित साहित्य में अभी तक उपन्यास विधा उपेक्षित ही रही है। दलित एवं दलितेतर दोनों ही साहित्यिक दायरों में दलित उपन्यासों को लेकर कोई सार्थक बहस नहीं दिखायी देती है। जबकि आधुनिक जीवन की जटिल समस्याओं को प्रस्तुत करने में उपन्यास विधा काफी उपयुक्त है। साहित्य में अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास विधा जीवन के विस्तृत फलक को प्रस्तुत करने में अधिक सक्षम है। दलित उपन्यासों में पारम्परिक सामाजिक संरचनाओं के शोषणकारी स्वरूप के साथ ही आधुनिक व्यवस्था के सूक्ष्म शोषणकारी स्वरूप की शिनाख्त की

गयी है। इन उपन्यासों में शोषण के विभिन्न स्वरूपों के खिलाफ मुकम्मल प्रतिरोध भी दिखायी देता है। दलित उपन्यासों में परम्परावादी समाज व्यवस्था की आलोचना के साथ भावी समाज के निर्माण की भी कल्पना दिखायी देती है।

दलित उपन्यासों में समय के बदलते दौर के साथ दलित समाज में आ रहे बदलावों को भी चिन्हित किया गया है। दलित समाज में पूंजी एवं बाजार के कारण जिन मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ है, दलित उपन्यासों में इसकी भी शिनाख्त की गयी है। मैंने दलित उपन्यासों के इन्हीं खासियतों के कारण इसे अपने शोध के विषय के रूप में चुना। शोध प्रबंध को व्यवस्थित अध्ययन के लिए छः अध्यायों में विभाजित किया गया है। शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय 'हिन्दी दलित साहित्य लेखन की वैचारिकी और उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि' है। प्रथम अध्याय को दो उप–अध्यायों में बांटा गया है। प्रथम उप–अध्याय 'दलित साहित्य लेखन की वैचारिकी' है जिसमें दलित साहित्य के दार्शनिक पृष्ठभूमि की चर्चा की गयी है। दलित साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि आदिकालीन भौतिकवादी दर्शन परम्परा से प्रारम्भ होकर बुद्ध, कबीर, फुले, अम्बेडकर तक आती है। इस उप–अध्याय में इन्हीं विद्वानों के विचारों पर चर्चा की गयी है। दूसरा उप–अध्याय 'उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि और दलित' है। इस उप–अध्याय को दो भागों में बांटा गया है। पहला भाग 'ऐतिहासिक परिस्थितियाँ' है जिसमें उन परिस्थितियों की विवेचना की गयी है। जिसके कारण समाज के निम्न वर्ण–जाति के तबके को अध्ययन तथा साहित्य लेखन का अवसर मिला। उप–अध्याय का दूसरा भाग 'यथार्थ और सृजनात्मकता का अन्तर्सम्बन्ध' है जिसमें दलित साहित्य से पूर्व साहित्यिक फलक पर दलित यथार्थ की अनुपस्थिति का जायजा लिया गया है। इसी के साथ ही दलित समाज के यथार्थ को दलित उपन्यासकारों ने किस रूप में अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है, इसकी भी विवेचना की गयी है।

शोध–प्रबंध का दूसरा अध्याय 'हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्राः कथा वस्तु का बदलता स्वरूप' है। इस अध्याय में शोध–प्रबंध में सम्मिलित

उपन्यासों की कथावस्तु पर चर्चा की गयी है। इसी अध्याय में हम देख सकते हैं कि दलित उपन्यासकारों ने उपन्यास के कथावस्तु के विषय के चुनाव में पर्याप्त विविधता दिखायी है। हम इस अध्याय में आयी उपन्यास की कथावस्तु में दलितों के शोषण के विभिन्न स्वरूपों को देख सकते हैं। ज्यादातर दलित उपन्यासों में दलित उपन्यासकारों ने ग्रामीण कथा के साथ शहरी कथा को जोड़कर दोनों ही जगहों पर दलितों के शोषण को बेनकाब किया है।

शोध–प्रबंध का तीसरा अध्याय 'हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा–गरीबी एवं वर्ण जाति–व्यवस्था का स्वरूप' है। शोध–प्रबंध में तीसरे अध्याय को दो उप–अध्यायों में बाँटा गया है। पहला उप–अध्याय 'गरीबी का बदलता समाजशास्त्र एवं दलित उपन्यास' है। इस उप–अध्याय में दलित समाज की गरीबी के पीछे जो भी सामाजिक–सांस्कृतिक कारण हैं, उसकी विवेचना की गयी है। इसके साथ ही दलित उपन्यासों में दलितों की गरीबी का स्वरूप किस रूप में आया है तथा उपन्यासकार का गरीबी से मुक्ति का दृष्टिकोण कैसा है, इस पर भी चर्चा की गयी है। तीसरे अध्याय का दूसरा उप–अध्याय 'सत्ता एवं वर्ण–जाति व्यवस्था का सम्बन्ध' है। इस उप–अध्याय में पहले वर्ण–जाति व्यवस्था की स्थापना के कारणों की चर्चा की गयी है। दलित उपन्यासों में वर्ण–जाति व्यवस्था के स्वरूप का चित्रण किस प्रकार किया गया है, इसकी भी विवेचना करने की कोशिश की गयी है। इसके साथ ही उन सामाजिक संरचनाओं की भी पड़ताल की गयी है जिसके कारण समाज का उच्च वर्ण–जाति का तबका निम्न वर्ण–जाति के तबके का शोषण करने में सक्षम होता है।

शोध प्रबंध का चौथा अध्याय हिन्दी 'दलित उपन्यास की विकास यात्रा–स्त्रियों की बदलती भूमिका' है। इस अध्याय के प्रारम्भ में दलित आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी की विवेचना करने की कोशिश की गयी है। इसी क्रम में दलित साहित्य में उभरते दलित स्त्रीवाद के स्वर की भी पड़ताल की गयी है। इसके बाद दलित उपन्यासों में आये स्त्री–चरित्रों का प्रस्तुतीकरण किस प्रकार का हुआ है, इसकी भी चर्चा की गयी है। स्त्री–चरित्रों को देखने

के क्रम में स्त्री–चरित्रों को दलित एवं गैर–दलित स्त्री के रूप में बांटकर देखा गया है।

शोध–प्रबंध का पाँचवां अध्याय 'हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा–दलित संस्कृति का बदलता स्वरूप' है। इस अध्याय में विवेच्य उपन्यासों में आयी दलित संस्कृति के स्वरूप पर चर्चा की गयी है। विवेच्य उपन्यासों का लेखनकाल आजादी के प्रथम दशक से लेकर वर्तमान तक आता है। अतः दलित संस्कृति की चर्चा के माध्यम से उसके स्वरूप में आये परिवर्तनों पर भी बात रखी गयी है। बाजार एवं पूँजीवाद ने दलित समाज में उभर रहे मध्य वर्ग को किस तरह प्रभावित किया है, प्रस्तुत अध्याय में इसकी भी पड़ताल की गयी है।

शोध–प्रबंध का अन्तिम अध्याय (छठा) 'हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा–भाषा एवं शिल्प का बदलता स्वरूप' है। इस अध्याय को अध्ययन की सुविधा के लिए दो उप–अध्यायों में बांटा गया है। प्रथम उप–अध्याय 'भाषा' में विवेच्य उपन्यासों की भाषा पर चर्चा की गयी है। इन दलित उपन्यासों की भाषा किन मायनों में परम्परावादी साहित्यिक भाषा से भिन्न है तथा इन उपन्यासों में देशज एवं श्रम–संस्कृति के आये हुए शब्द, भाषा के कलेवर को किस प्रकार बदलते हैं इसकी भी पड़ताल की गयी है। दूसरा उप–अध्याय 'शिल्प' है। इस उप–अध्याय में दलित उपन्यासों में शिल्प के स्तर पर क्या बदलाव हुए हैं उसकी चर्चा की गयी है।

इस शोध–प्रबन्ध को पूरा करने में मेरे शोध निदेशक प्रो. राम चन्द्र का विशेष योगदान है। उनके सुझावों–निर्देशों ने शोध–प्रबंध को पूरा करने में अमूल्य सहायता की। उन्होंने अकादमिक दुनिया के अलावा मेरी ज़िंदगी की निजी समस्याओं को समझते हुए सक्रिय सहयोग किया। इन सारी बातों के लिए उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करना गुस्ताख़ी होगी। मैं अपनी पत्नी सुमन, बेटी मधु एवं बेटे आरूष, तरूष को भी धन्यवाद दूँगा। शोध के दौरान पत्नी सुमन का खास योगदान रहा, उसने बच्चों के साथ ज़िंदगी से अकेले संघर्ष किया।

शोध के दौरान मित्र विशेष एवं डॉ. सर्वेश मौर्य की बहसों–मुबाहिसों ने विषय–वस्तु को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। हिन्दी विभाग के सहपाठियों में प्रेमपाल, अभिषेक, उज्ज्वल आलोक, ऊषा, मनीषा, कविता और खास तौर से देविना एवं प्रमोद रंजन का विशेष सहयोग मिला। निजी जीवन के मित्रों में जोजेफ, रूचिरा, अखिलेश, दिनेश, चन्द्रपाल नेगी, एवं शौना को विशेष रूप से धन्यवाद। छात्रावास के मित्रों में हरिओम रूममेट, डेविड, डेनियल, स्वप्निल, श्रवण, बबीता, को भी सहयोग के लिए धन्यवाद। ज.ने.वि. से बाहर के मित्रों में अजीत, डॉ. चन्द्र प्रकाश यादव एवं विषय पर चर्चा परिचर्चा के लिए डॉ. राम नरेश राम का भी धन्यवाद। शोध की प्रूफ रीडिंग में अजय, डॉ. संजय यादव एवं नीरज को विशेष सहयोग के लिए धन्यवाद।

मनोज कुमार

प्रथम अध्याय

हिन्दी दलित साहित्य लेखन की वैचारिकी और उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि

(क) दलित साहित्य लेखन का वैचारिकी

दलित साहित्य मानव मुक्ति आन्दोलन का साहित्य है। सामाजिक–सत्ताओं एवं संरचनाओं के कारण समाज के जिस किसी भी हिस्से का शोषण हुआ है, दलित साहित्य उन सभी लोगों के शोषण से मुक्ति का हिमायती है। बाबा साहब अम्बेडकर ने दलित वर्ग को परिभाषित करने के क्रम में कहा है कि, ''दलित वर्ग की तीन अलग–अलग कोटियां है। एक कोटि उन लोगों की है, जिन्हें आदिम जातियाँ कहते हैं। दूसरी कोटि जरायम–पेशा वर्गों की सूची में शामिल जातियों की है। एक अलग तथा तीसरी श्रेणी उन लोगों की है, जिसे अस्पृश्य वर्ग कहते है।''[1] बाबा साहब ने दलित वर्ग को परिभाषित करने के क्रम में समाज के दलित–शोषित वर्ग के बहुतायत हिस्सों को अपने वैचारिक परिधि में रखा है। समय के साथ दलित आन्दोलन ने अपनी परिधि का विस्तार समाज के उन तबकों तक भी किया है जो कदाचित छूट गये थे या जिन पर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया था।

दलित पैंथर आन्दोलन ने दलित समूह को परिभाषित करने के क्रम में माना है कि ''अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सदस्य, नव–बौद्ध, मजदूर लोग, भूमिहीन तथा गरीब कृषक, महिलाएं तथा वे सभी लोग जिन्हें धर्म के नाम पर एवं राजनैतिक तथा आर्थिक तौर पर शोषित किया जा रहा है।''[2] दलित पैंथर आन्दोलन का दलित आन्दोलन को मानव मुक्ति आन्दोलन में तब्दील करने में एक बडी भूमिका रही है। उसने समाज के विभिन्न शोषित–उत्पीड़ित हिस्सों को एक मंच पर एकत्रित करने की वैचारिक पहल की तथा समाज की शोषणकारी तथा अपमानमूलक संरचनाओं के खिलाफ लड़ने के लिए एक बड़े वर्ग की स्थापना करने का प्रयास किया। हालांकि

दलित शब्द को परिभाषित करने का मुद्दा आज भी जेरे–बहस है क्योंकि इस उत्पीड़ित वर्ग में सम्मिलित समाज के विभिन्न तबकों में भी परस्पर मतभेद है। हम उम्मीद कर सकते हैं कि भविष्य का दलित आन्दोलन इन आपसी मुद्दों को सुलझा लेगा तथा मानव मुक्ति आन्दोलन का एक नया रास्ता अख्तियार करेगा।

दलित साहित्य की वैचारिक आधारभूमि का निर्माण मुख्यतः बुद्ध, कबीर, फुले तथा अम्बेडकर के चिंतन से हुआ है। हालांकि यदि हम इतिहास तथा साहित्य को गौर से देखे तो दलित चिंतन की पृष्ठभूमि वैदिक तथा उत्तर वैदिक साहित्य तक जाती है। उस समय भी शोषणमूलक तथा असमानता वाली विचार धारा के खिलाफ समतावादी विचारधारा के साहित्य का जिक्र मिलता है। इसी चिंतन परम्परा के साहित्य की शिनाख्त करते हुए कंवल भारती जी कहते हैं कि ''आज का दलित लेखन प्राचीन काल से चले आ रहे दलित विरोधी साहित्य के प्रतिरोध का परिणाम है। लेकिन यह मत सही नहीं है। वैदिक और ब्राह्मण ग्रन्थों में दो धारायें समानान्तर दिखायी देती हैं। एक धारा क्रान्ति की दूसरी प्रतिक्रांति की धारा है। यह क्रान्ति की धारा ही दलितों की धारा है।''[3] कंवल भारती के इस विचार से दलित साहित्य की पृष्ठभूमि का विकास वैदिक साहित्य तक जाता है। वैदिक तथा उपनिषद् साहित्य का गौर से अध्ययन करने पर एक तथ्य तो सामने आता ही है कि उस समय भी ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग–नर्क, कर्मफल जैसे कपोल कल्पित भाववादी चिन्तन परम्परा के विरुद्ध एक तार्किक तथा भैतिकवादी चिंतन परम्परा का वजूद था तथा जो भाववादी चिंतन परम्परा के विरुद्ध संघर्षरत थी।

ब्राह्मण–पुरोहितों ने श्रम विशेषीकरण तथा वर्ण विभाजन के कारण उपजे अधिशेष को हड़पने के लिए वेद, वेदांगों की रचना की। ऐसे साहित्य की मदद से उन्होंने ब्रह्म की सर्वव्यापकता, शरीर से इतर आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, कर्म–फल, स्वर्ग–नर्क जैसी अमूर्त धारणाओं को स्थापित किया तथा दलित–शोषित जनता के शोषण के लिए ऐसी संरचनाओं का इस्तेमाल किया। इन अमूर्त धारणाओं के खिलाफ किसी भी तार्किक विरोध के स्वर को दबाने के

लिए ब्राह्मण–पुरोहितों ने वेदों को अपौरुषेय घोषित कर दिया। बाबा साहब अम्बेडकर ने भी इस घोषणा को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि ''जब वैदिक ब्राह्मण कहते है कि वेद अपौरुषेय है तो इसका अर्थ है इनकी रचना मनुष्य ने नहीं की है। क्योंकि यह मनुष्य की रचना नहीं है इसलिए इनमें त्रुटि, संशय, और दोष नहीं हो सकता, जो मानव रचना से संभव है। इसलिए ये संशय रहित है।''[4] बाबा साहब वेदों की महत्ता घोषित करने की चालाकी को समझकर ही उसके मूल मन्तव्य की तरफ इशारा करते है।

वेदों की इन्हीं अमूर्त धारणाओं की चालाकियों को व्याख्यायित करने के क्रम में कर्मफल का विश्लेषण करते हुए के. दामोदरन लिखते हैं कि ''कर्म का ही नियम यह निर्धारित करता था कि अगले जन्म में मनुष्य कौन सी योनि धारण करेगा। यह मनुष्य के कर्मों पर निर्भर होता था। कोई भी मनुष्य अगले जन्म में किसी उच्च अथवा नीच वर्ण में अपने इस जीवन के कर्मों और अपने धर्म के पालन के फलस्वरूप ही जन्म लेगा।''[5] इस प्रकार हम वेदों की अमूर्त धारणाओं की चालाकियों को इस वक्तव्य से समझ सकते हैं। इन धारणाओं ने दलित शोषित जनता में वर्णवादी पारम्परिक व्यवस्था के खिलाफ उठने वाली किसी भी आवाज को दबाने का एक पूरा तंत्र ही स्थापित कर दिया।

इन अमूर्त धाराणाओं के चिंतन के विरुद्ध भौतिकवादी चिन्तन परम्परा के दार्शनिकों की एक लम्बी फेहरिस्त मिलती है। भौतिकवादी दार्शनिकों ने वैदिक पुरोहितों की उत्पादन अधिशेष को हड़पने के लिए यज्ञ–पूजा, हवन इत्यादि के माध्यम से फैलाये गये मायाजाल का तार्किक प्रतिरोध किया। के. दामोदरन अपनी पुस्तक भारतीय चिन्तन की परम्परा में कहते हैं कि ''भारत की वे महान दार्शनिक प्रणालियाँ जो सबसे पहले मैदान में आयीं जैसे लोकायत, सांख्य, न्याय और वैशेषिक सभी भौतिकवादी विचारों से अभिभूत थी। ये सभी प्रणालियाँ विश्व के प्रति रहस्यवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध घनघोर संघर्ष के दौरान उभरी थी।''[6] के. दामोदरन ने जिस घनघोर टकराव का जिक्र किया है वह निश्चित ही उस समय की सत्तासीन ब्राह्मणवादी परम्परा थी जिसने समाज को संचालित करने वाली संरचनाओं पर अपनी

इजारेदारी बना रखी थी। इस इजारेदारी के विरुद्ध उठने वाली चिन्तन परम्पराओं को दलित वैचारिकी अपनी पूर्व चिंतन परम्परा के रूप में देखती है।

ब्राह्मण–पुरोहितों ने बड़ी चालाकी से इन भौतिकवादी विचारकों के चिंतन में आये वैचारिक सिद्धान्तों की तार्किकता को या तो शमित कर दिया या उसे अपने चिंतन में फेरबदल कर मिला लिया तथा उसकी तार्किकता को कुंद कर दिया। जहाँ पर इससे भी काम न बना तो उस पूरे चिंतन परम्परा के साहित्य को समूल नष्ट कर दिया। आमतौर पर ब्राह्मण समुदाय ने समाज में प्रचलित कर दिया कि भौतिकवादी होने का मतलब खा–पीकर मस्त रहने वाला समुदाय या समूह है। जन–प्रचलन की इसी मानसिकता को रेखांकित करते हुए एंगेल्स कहते हैं कि ''भौतिकवाद शब्द का अर्थ फूहड़ व्यक्ति (Philistine) समझता है पेटूपन, पियक्कड़पन, आँख की वासना, शरीर की वासना, अकड़, कामुकता, लालच, कंजूसी, मुनाफे की घुड़दौड़, सट्टा बाजार की धोखाधड़ी–संक्षेप में वे सब पाप जिन्हें वह अकेले में स्वयं करता है।''[7] इस कथन से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणवादी चिंतकों ने भौतिकवादियों का कौन सा 'चेहरा' जनता में प्रचारित किया।

प्राचीन साहित्य में भौतिकवादियों का जो भी उल्लेख वेदों–उपनिषदों में मिलता है वह उनके विरोधियों के स्वर में ही प्राप्त होता है। हिन्दू धर्मग्रन्थों के अलावा बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी कुछ आदिकालीन भौतिकवादी दार्शनिकों का उल्लेख मिलता है जिनमें पुरानकस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केशकंबलि, पकिध कच्चायन आदि थे। भौतिकवादियों के जिक्र के क्रम में के. दामोदरन ने माना है कि ''ऋग्वेद के बृहस्पति भारतीय भौतिकवाद के प्रणेता माने जाते है। उन्होंने ही सर्वप्रथम पदार्थ को परमसत्य घोषित किया था। वह और उनके शिष्य ईश्वर के अस्तित्व से इंकार करते थे। वे आत्मा की अमरता और मृत्यु के बाद जीवन की अवधारणा के विरोधी थे।''[8] शायद इसलिए भी दलितों–पिछड़ों को वेद, उपनिषद् आदि के अध्ययन से दूर रखा गया। यदि यह लोग शिक्षित होते तो इन्हीं ब्राह्मण–ग्रन्थों के अध्ययन से अपने विद्रोही पूर्वजों की परम्परा को खोज निकालते तथा पारम्परिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह कर देते।

भौतिकवादी दार्शनिक परम्परा में कई धाराएँ थी। इनमें से एक धारा का नाम आजीवक सम्प्रदाय है तथा इसके संस्थापक मक्खलि गोसाल को माना जाता है। के.दामोदरन ने आजीवक सम्प्रदाय के सिद्धांतों पर कहा है कि ''आजीवक मतावलंबी पुरोहितों के कर्मकाण्डों का पूरी दृढ़ता से विरोध किया और आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त का मजाक उड़ाते थे। उनकी मान्यता थी कि समस्त ब्रह्माण्ड का आधार ब्रह्म नहीं वरन् चार भौतिक तत्व जल, वायु, पृथ्वी और अग्नि है। संसार में जो कुछ होता है वह कर्म द्वारा नहीं नियति द्वारा निर्धारित होता है।''[9] यहाँ नियति से तात्पर्य एक ऐसे तंत्र से है जो स्वतः प्रचालित है। इन दुनिया को चलाने में ईश्वर या ऐसी किसी ताकत का कोई सहयोग नहीं है। ईश्वर के इस नकार का विकास आगे चलकर हम बौद्ध धर्म की शिक्षाओं में पाते हैं।

आदिकालीन भौतिकवादियों के विचारों का विकास एक दूसरी धारा 'लोकायत' में दिखायी देता है। लोकायत दर्शन को कहीं–कही पर चार्वाक दर्शन भी कहते हैं। चार्वाक दर्शन की कोई मूल पुस्तक नहीं मिली है इसीलिए इसके सिद्धान्तों के बारे में जो भी सूचना मिलती है वह इस सिद्धान्त के विरोधियों द्वारा प्रस्तुत की गयी है। के. दामोदरन ने लोकायत दर्शन के बारे में जिक्र किया है कि ''लोकायत दर्शन के अनुयायी पुरोहितों और उनके कर्मकाण्डों की तीव्र निन्दा करते थे। उनका दावा था कि पुरोहित लोग यज्ञों तथा कर्मकाण्डों के समय जिन वैदिक मंत्रों का पाठ करते थे उनके पीछे कोई देवत्व नहीं है। कुछ मंत्रों का तो कोई अर्थ ही नहीं निकलता, कुछ अस्पष्ट है और कुछ परस्पर विरोधी है। कुछ ऐसे परिणामों का उल्लेख करते हैं जो कभी प्राप्त नहीं होते। अतः वेद न केवल सामान्य मानवों की रचना है बल्कि इससे गयी–बीती चीज है।''[10] वेदों को एक झटके में नकार देने से तत्कालीन पुरोहित परम्परा की भाववादी अवधारणाएँ संकट मे आ गयी। अभी तक की निर्मित की गयी वे संरचनाएँ जिनके कारण पुरोहित वर्ग अशिक्षित दलित–सर्वहारा जनता के धन–सम्पदा को पुण्य–पाप के नाम पर ऐंठता था, वो खतरे में पड़ गयी। इसी कारण तत्कालीन ब्राह्मणवादी साहित्य में इनकी सर्वाधिक आलोचना मिलती है।

बौद्ध दर्शन भौतिकवादी दर्शन की अगली सीढ़ी है। अभी तक चले आ रहे भौतिकवादी दर्शन का व्यवस्थित रूप हमें बौद्ध साहित्य में दिखायी देता है। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक दर्शन–दिग्दर्शन में लिखा है कि ''उपनिषद के जैबलि, आरुणि, याज्ञवल्क्य ऋषियों आदि और चार्वाक दर्शन के स्वतंत्र विचारकों ने जो विचार सम्बन्धी उथल–पुथल पैदा की थी, वह अब पाँचवी सदी ई.पू. में अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी। यह बुद्ध का समय था।''[11] बुद्ध ने तात्कालिक समय में मौजूद भाववादी–रहस्यवादी धारणाओं को अपने चिंतन से खारिज़ किया। चूंकि बुद्ध ने भाववादी–रहस्यवादी परम्परा को खारिज़ करने का माध्यम अपने व्यवहारिक ज्ञान–परम्परा से किया इसीलिए इनके चिंतन का सम्बन्ध इनके पूर्व के भौतिकवादी ज्ञान–परम्परा से जोड़ा जाता है। इनके सिद्धान्त क्षणिकवाद ने ब्रह्म के उस सिद्धान्त को मानने से इन्कार किया जिसमें माना जाता था कि ब्रह्म अनश्वर, अगोचर, आदि–अन्त जैसी धारणाओं से परे है। बुद्ध ने संसार की उपमा बहती हुई नदी से दी है। जिस प्रकार नदी का जल हर क्षण बहता रहता है परन्तु देखने में वह स्थिर प्रतीत होती है उसी प्रकार संसार प्रत्येक क्षण बदलता रहता है परन्तु हमें महसूस नहीं होता है।

इसी प्रकार बुद्ध के अनात्मवाद के सिद्धान्त ने आत्मा की अजरता, अमरता की पारम्परिक अवधारणा को भी नकार दिया। बुद्ध के अनात्मवाद के सम्बन्ध में के.दामोदरन कहते हैं कि ''बुद्ध ने दृढ़तापूर्वक इस अवधारणा का खण्डन किया: कारण कि कोई भी वस्तु वह चाहे भौतिक हो अथवा अध्यात्मिक शाश्वत और अपरिवर्तनशील नहीं हो सकती। उनके अनुसार आत्मा मात्र एक कल्पना थी जिसे सदा परिवर्तन शील, निरन्तर गतिमान अवस्थाओं के पाँच समूहों ने जन्म दिया।''[12] इस प्रकार जब आत्मा की अमरता, अजरता खारिज़ हुई। परिणामस्वरूप इसके साथ ही जीव किसी ब्रह्म का अंश है, का विचार भी खारिज़ हो गया। बुद्ध के इसी सिद्धान्त ने कर्मफल के सिद्धान्त को सीमित अर्थों में समाप्त करने की कोशिश की। कर्मफल के सिद्धान्त के कारण लोग ब्राह्मण–पुरोहितों से यज्ञ, बलि आदि करवाते थे और इसके बदले में

दान–दक्षिणा देते थे। इस सिद्धान्त के प्रचलन में आने के बाद दलित–शोषित जनता की कई भ्रान्तियाँ समाप्त हुई और बौद्ध धर्म ने एक व्यापक समाज सुधार आन्दोलन की नीव डाली। बाबा साहब अम्बेडकर ने भी गौतम बुद्ध के बारे में कहा है कि ''प्रथम समाज सुधारक और उनमें सबसे महान गौतम बुद्ध थे। समाज सुधार का इतिहास बुद्ध से शुरू होता है और कोई भी इतिहास उनकी उपलब्धियाँ बताए बिना अधूरा रहेगा।''[13]

दलित वैचारिक दर्शन में महात्मा बुद्ध का सबसे क्रान्तिकारी कार्य वर्ण–जाति भेद को नकारना है। महात्मा बुद्ध के संघ में सभी वर्ण के लोगों का स्वागत किया जाता था। उदाहरण के रूप में उपालि नाई, भंगी सुणीत, सोपाक आदि को देख सकते हैं। महात्मा बुद्ध के संघ में वर्ण या कुल के आधार पर कोई पद सोपान नहीं था। तत्कालीन समय में वैदिक पुरुष सूक्त के आधार पर चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त प्रचलन में था। चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त पर बाबा साहब लिखते हैं कि ''ब्राह्मणवाद का चातुर्वर्ण्य एक जड़ समाज रचना थी, अपरिवर्तनशील। एक बार ब्राह्मण के घर में जन्म ले लिया, हमेशा के लिए ब्राह्मण। एक बार क्षत्रिय के घर में जन्म ले लिया, हमेशा के लिए क्षत्रिय। एक बार वैश्य के घर में जन्म ले लिया, हमेशा के लिए वैश्य। और एक बार शूद्र के घर में जन्म ले लिया, हमेशा के लिए शूद्र।''[14] चातुर्वर्ण्य के इसी सिद्धान्त ने समाज के उपरी तबकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को विशेषाधिकार दे रखा था। वहीं समाज के निम्न तबकों से उनके सामान्य मानवीय अधिकार तक छीन लिए थे।

महात्मा बुद्ध ने अपने संघ में ऐसे किसी भी सिद्धान्त को साफतौर पर नकार दिया। इतना ही नहीं वरन् अपने संघ में उन्होंने स्त्री को समान दर्जा दिया चाहे वह किसी भी वर्ण से सम्बन्धित हो। के.दामोदरन ने लिखा है कि ''बुद्ध ने शिक्षा दी कि मनुष्य को उनके जन्म से नहीं, अर्थात वर्ण से नहीं, बल्कि जीवन में उसके क्रियाकलापों से परखा जाना चाहिए। अच्छे चरित्र वाला और अच्छे कर्म करने वाला मनुष्य उच्च होता है और ओछे चरित्र और ओछे कर्म करने वाला व्यक्ति नीच होता है।''[15] संघ में सम्मिलित अवर्ण, दास, शूद्र,

स्त्री सभी को शिक्षा–दीक्षा का पूरा अधिकार था। इससे पहले के ब्राह्मण–पुरोहितों ने पुरुषसूक्त तथा इसी प्रकार के धार्मिक विधानों द्वारा समाज के बड़े हिस्से को शास्त्रीय ज्ञान परम्परा से विमुख कर रखा था और इस ज्ञान परम्परा पर उनका एकाधिकार था। इस ज्ञान परम्परा के एकाधिकार को बौद्ध धर्म ने चुनौती देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

महात्मा बुद्ध ने न केवल ज्ञान की सत्ता रखने वालों को चुनौती दी वरन् भाषा के स्तर पर भी उन्होंने संस्कृत भाषा की ज्ञान पर इजारेदारी को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने अपने उपदेश तथा शिक्षायें उस समय की जनभाषा भाषा पाली में दिये। सनद् रहे उस समय संस्कृत भाषा पर उच्च वर्गों का एकाधिकार था। ज्ञान के इसी लोकतान्त्रिक स्वरूप पर बाबा साहब अम्बेडकर ने 'सुधारक और उसकी नियति'' में लिखा है कि ''बुद्ध ने आर्यों के समाज के नेताओं के विरुद्ध जिस अन्य प्रश्न पर लड़ाई लड़ी वह अध्यापक और अध्यापन के शीलाचार का प्रश्न था। आर्यों के समाज के नेताओं की यह धारणा थी ज्ञान और शिक्षा का विशेषाधिकार ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को प्राप्त है। शूद्रों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं है। उनका आग्रह था कि अगर उन्होंने स्त्रियों तथा ऐसे पुरुषों को पढ़ाया जो द्विज नहीं है, तो इससे सामाजिक व्यवस्था के लिए भय उत्पन्न हो जायेगा। बुद्ध ने आर्यों के सिद्धान्त की निन्दा की।''[16] इस कथन से स्पष्ट होता है कि बुद्ध ने अब तक ज्ञानरूपी सम्पदा पर चली आ रही द्विजों की इजारेदारी को समाप्त किया। उन्होंने ज्ञान के मार्ग का रास्ता सदियों से वंचित शूद्र, अवर्ण, दास, स्त्री सभी के लिए खोल दिया।

दलित वैचारिकी महात्मा बुद्ध के लोकतांत्रिक प्रणाली का भी कायल है। महात्मा बुद्ध न केवल अपने विचारों में जनतांत्रिक थे वरन् उन्होंने संघ तथा व्यवहारिक जीवन में भी लोकतंत्र को महत्व दिया। उन्होंने अपने विचारों की तार्किक आलोचना का कभी विरोध नहीं किया वरन् वह अपने उपदेश में स्वयं कहते है कि ''कालामों! मत तुम श्रुत (सुने, वचनों, वेदों) के कारण (किसी बात को मानो) मत तर्क कारण से, मत नय–हेतु से, मत (वक्ता) आकार के विचार

से, मत अपने चिर–विचारित मत के अनुकूल होने से, मत (वक्ता के) भव्य रूप होने से, मत श्रमण हमारा गुरु है से। जब कालामों! जब तुम खुद ही जानो कि ये धर्म (काम या बात) अच्छे, अदोष, अक्षेप विज्ञों से अनिन्दित है, यह लेने ग्रहण करने पर हित, सुख के लिए होते हैं तो कालामों! तुम उन्हें स्वीकार करो।''[17] इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण से हम समझ सकते है कि महात्मा बुद्ध ने अपने विचारों, दर्शनों, उपदेशों को तर्कों की कसौटी पर स्वयं भी कसा तथा वह चाहते थे कि समक्ष व्यक्ति भी उन्हें अपनी कसौटी पर कसे। वह 'अप्प दीपों भवा' का उपदेश इसीलिए देते थे कि ज्ञान का स्त्रोत प्रत्येक व्यक्ति स्वयं बने।

दलित वैचारिकी के विकास की अगली सीढ़ी के चिन्ह हमें नाथ–सिद्धों की रचनाओं में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने जिस साहित्य को साम्प्रदायिक, गूढ़ अभद्र कहकर खारिज़ कर दिया, दलित साहित्य ने उसे अपनी वैचारिकी की पूर्व–परम्परा के रूप में माना है। कंवल भारती लिखते हैं कि– ''सिद्ध–नाथों की परम्परा बुद्ध की परम्परा है। वर्ण व्यवस्था के विरोध और सामाजिक परिवर्तन की जो क्रान्ति बुद्ध ने की थी, सिद्ध कवि उसी क्रान्ति के वाहक है।''[18] दरअसल आदिकालीन नाथ–सिद्ध साहित्य में शूद्र, अवर्ण जातियों से आये संतों की रचनाएँ सर्वाधिक है तथा इस साहित्यिक परम्परा में स्त्री–संतों की रचनाएँ भी शामिल है। इसीलिए सवर्ण समाज के साहित्यकारों ने इस धारा की साहित्यिक महत्ता को द्वेषवश स्वीकार नहीं किया।

दरअसल इस द्वेष का कारण यह है कि सिद्ध–नाथ साहित्य ने ब्राह्मणीय कर्मकाण्डों तथा वर्ण–जाति व्यवस्था पर सीधा प्रहार किया। उन्होंने बिना किसी लाग–लपेट के जनभाषा में अपनी बातों को जनता में प्रचारित किया। आलोचक चौथीराम यादव ने वर्ण–जाति व्यवस्था के खिलाफ सरहपाद के एक चर्यापद के अर्थ को उद्घृत किया है– ''यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चांडाल को भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाए, यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है तो क्यों नहीं चांडालों को भी वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने देते।''[19] जैसा कि हम जानते है कि तत्कालीन समय

में उपनयन संस्कार का अधिकार शूद्रों, अवर्णों तथा स्त्रियों को नहीं था। सरहपाद इसीलिए जोर देते है कि यदि इसी संस्कार से ही कोई ब्राह्मण हो सकता है तो यह संस्कार सभी को दिया जाय। इसमें कोई भेद न हो। सिद्ध साहित्य का मूल्यांकन करते हुए राजेन्द्र प्रसाद सिंह कहते हैं कि ''सचमुच सिद्ध साहित्य में श्रृंगार और शांत रस का अद्‌भुत समागम है। जनभाषा में लिखे उनके चर्या पदों में विभिन्न राग–रागिनियों की योजना है। यह समाज के हाशिए के रचनाकारों का साहित्य है, जिसकी नींव पर हिन्दी साहित्य की बुलंद इमारत खड़ी है।''[20] इस प्रकार हम देखते है कि नाथ–सिद्ध साहित्य निम्न वर्ग से आये संतो की रचना है। चूंकि उन्होंने अपने निजी जीवन में सामाजिक विषमता की पीड़ा झेली थी, इसीलिए उन्होंने वर्ण–जाति व्यवस्था की कठोर निन्दा की। नाथ–सिद्ध परम्परा का विकास भक्तिकाल के संत कवियों की रचनाओं में दिखायी देती है।

भक्तिकाल के बारे में गजानन माधव मुक्तिबोध निष्कर्ष देते हुए कहते हैं कि ''जो भक्ति आन्दोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्‌टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा–आकांक्षाएँ बोलती थी, उसका मनुष्य सत्य बोलता था, उसी भक्ति आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चल कर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके और अनंतर जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर उन्होंने उस पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया।''[21] यहाँ पर मुक्तिबोध ने भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार को स्पष्ट करते हुए उसके परस्पर विरोधी तत्वों को रेखांकित किया है। मूलतः भक्ति आन्दोलन को अभी तक हिन्दी साहित्य के गणमान्य इतिहासकारों ने दक्षिण भारत से जोड़कर देखा या हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति के टकराव के रूप में देखा। उन्होंने सगुण भक्ति तथा निगुर्ण भक्ति के टकराव के सामाजिक आधारों का सरलीकरण करके बड़ी चालाकी से इसका नाम भक्तिकाल दिया तथा टकराव के सामाजिक आधारों को छुपा दिया।

दरअसल भक्तिकाल में आधारतः टकराव का कारण संत कवियों का निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप में विश्वास तथा सगुण भक्त कवियों के अवतारवाद के बीच था। राजेन्द्र प्रसाद सिंह लिखते हैं कि '' सगुण भक्ति का मुख्य आधार

अवतारवाद है, जिसका विरोध हमें निर्गुण भक्ति में मिलता है। सगुण और निर्गुण को एक में गड्डमड्ड करने वाले लोग उसी प्रकार साजिश करते हैं, जैसे वर्ण और जाति को एक में गड्डमड्ड करने वाले लोगों ने पहले किया था।''[22] दरअसल यहाँ पर राजेद्र प्रसाद सिंह भक्तिकाव्य के दार्शनिक पक्ष के टकराव की तरफ संकेत कर रहे हैं। इस टकराव में मूलतः एक तरफ भौतिकवाद, बुद्ध, सिद्ध–नाथ की परम्परा से आये सन्त कवि थे तो दूसरी तरफ वेद–पुराण के रहस्यवादी दर्शन से उभरे हुए सगुण भक्त थे। इतिहासकार इरफान हबीब सन्त काव्य के इस सामाजिक विद्रोह को सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों में देखने की वकालत करते हैं। सल्तनत काल में शिल्पकारी तथा दस्तकारी के विकास ने समाज के निम्न वर्ग में आर्थिक स्वतंत्रता की स्थिति को उत्पन्न किया। इस तथ्य को स्थापित करने के क्रम में उन्होंने विभिन्न संत कवियों का जीविका के लिए किसी न किसी दस्तकारी या शिल्पकारी कर्म में प्रवृत्त होने को विशेष रूप से रेखांकित किया है। इरफान हबीब कहते हैं कि ''संभवतः सामाजिक वातावरण, जाति–प्रथा में दीखने वाली दरार तथा इस विधान को तोड़ने वाला आर्थिक प्रलोभन एकेश्वरवाद के प्रति धार्मिक उत्साह का कारण था।''[23] इस प्रकार हम देखते है कि मध्यकाल के संतकाव्य में मूलतः निम्न वर्ग–जाति से आये श्रमण संतों ने वर्ण–जाति के विरुद्ध साहित्य रचना की। हालांकि इस आन्दोलन के उभरने में तमाम सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों का योगदान हो सकता है परन्तु वैचारिक स्तर पर भौतिकवादी परम्परा, बुद्ध, सिद्ध–नाथ साहित्य की परम्परा ने वर्ण–जाति व्यवस्था के खिलाफ बोलने को उन्हें प्रेरित किया।

बाबा साहब अम्बेडकर ने अपने जिन तीन गुरुओं का उल्लेख किया है उसमें एक नाम कबीर का भी है। सन्त काव्य परम्परा में कबीर, रैदास, पीपा, घासीदास, धन्ना, पल्टूदास आदि उल्लेखनीय है। संत कवियों ने पारम्परिक वेद–शास्त्र की परम्परा को नकारकर अनुभवजन्य ज्ञान की महत्ता को स्थापित किया। कबीर कहते हैं कि–

मैं कहता हूँ आखिन की देखी,

तु कहता कागद की लेखी,

मैं कहता सुरझावन हारी,

तू राख उरझाय रे।

कबीर यहाँ पर न केवल अनुभवजन्य ज्ञान की सार्थकता बता रहे हैं बल्कि तत्कालीन पारम्परिक ब्राह्मणवादी ज्ञान परम्परा की आलोचना भी प्रस्तुत कर रहे हैं। तत्कालीन समय में भारत में मुस्लिम बादशाहों के साथ इस्लाम का आगमन हुआ। इस्लाम ने हिन्दू धर्म के सामने एक सामाजिक–सांस्कृतिक चुनौती प्रस्तुत की तथा वर्ण व्यवस्था, छुआछूत जैसी दरारों को उजागर किया। इस चुनौती के जवाब में हिन्दू धर्म के 'पुरोधाओं' ने हिन्दू धर्म ग्रन्थों पर टीका एवं भाष्य लिखने की शुरुआत की। टीका एवं भाष्य के माध्यम से उन्होंने धार्मिक–आध्यात्मिक प्रपंचों की एक नयी गूढ़ जाल बिछायी और साधारण जनता इन मतों, प्रपंचों के जाल में उलझ सी गयी। कबीर मूलतः इन्हीं मत–मतान्तरों की आलोचना कर रहे थे।

दलित वैचारिकी में सन्त कवियों का सबसे बड़ा योगदान वर्ण–जाति व्यवस्था का लोकभाषा में खुलेआम विरोध करना है। सन्त काव्य परम्परा ने साहित्य में 'मानवीय सत्य' को स्थापित किया। मध्यकालीन समाज में जब व्यक्ति अपने वर्ण–जाति, समुदाय या सम्प्रदाय से ही जाना जाता था तब सन्त काव्य परम्परा ने सभी मानवों की बराबरी की बात की। सन्तकाव्य परम्परा ने जन्मना भेदभाव तथा वर्ण–जाति व्यवस्था का विरोध निम्न शब्दों में किया है–

एक बूँद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।

एक जोति थै सब उतपना कौन ब्राह्मण कौन सूदा।।

वहीं सन्त रैदास भी कहते हैं–

जन्म जात मत पूछिए, का जात और पाँत

रैदास पूत सम प्रभु के, कोई नहिं जात कुजात

दलित वैचारिकी का भी सपना समतामूलक समाज की स्थापना है। हिन्दी साहित्य के कुछ 'मूर्धन्य' आलोचकों व विचारकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मध्ययुगीन सन्तों ने ईश्वर के दरबार में मनुष्यों को बराबर दर्जा देने की बात की है। सन्तों के सामाजिक विषमता के विरोध के यथार्थ को आध्यात्मिक सिद्ध करने की कोशिश करने वालों को सन्त रैदास का ही दोहा जवाब देता है–

ऐसौ चाहौ राज मैं, जहा मिला सबन को अन्न।
छोटे–बड़ो सम बसै, रैदासा रहे प्रसन्न।

सन्त रैदास के इस सामाजिक स्वप्न को समझने के लिए हमें सन्त काव्य परम्परा के दूसरे सन्त कबीर को पढ़ना होगा। इतिहासकारों ने सिद्ध किया है कि सल्तनत काल तथा उसके बाद के समय में गुलाम प्रथा का लगातार विस्तार हो रहा था। तत्कालीन सामन्ती शासन की सारी ऐय्याशियों और महंगे शौक का भार गरीब, दलित सर्वहारा जनता पर पड़ रहा था। लगातार बढ़ते कर के बोझ के कारण जनता त्रस्त थी तथा कर चुकाने के लिए लगातार वह अपने धन–धान्य बेच रही थी। ऐसे ही यथार्थ का चित्र सन्त कबीर प्रस्तुत करते हुए कहते है कि–

कोई लरका बेचई लरकी बैचे कोई।
साझा करे कबीर स्यौ, हरि संग वनज करेइ।।

भूख और गरीबी का ऐसा यथार्थ दलित–सर्वहारा के सन्तों का ही हो सकता है। ऐसा यथार्थ प्रस्तुत करने वाले सन्त दर्शन के स्तर पर भी सक्रिय होकर कहते हैं 'वेद किताब छाड़ि देउ पाँड़े' या 'चलन–चलन सबको कहत हैं, न जानौ बैकुंठ कहा है' जैसी रचनाओं से छल प्रपंच का विरोध करते हैं।

सन्त कवियों ने सामाजिक विषमता के खिलाफ दुनियावी तथा दार्शनिक दोनों स्तर पर लड़ाइयाँ लड़ी। संत काव्य परम्परा पर कंवल भारती कहते हैं कि, ''कबीर और रैदास वे पहले कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम

प्रगतिवाद की स्थापना की थी। वे दलित चेतना के भी पहले सच्चे संवाहक हैं। वे भक्ति के नहीं, क्रान्ति के कवि थे। उन्होंने निर्विकार, अनाम और असम्प्रदायिक भक्ति से जोड़कर वर्ण व्यवस्था को चुनौती दी थी तथा उन्हें असम्प्रदायिक ईश्वर के द्वारा दलितों को सम्प्रदायिक ईश्वरों के मायाजाल तथा मंदिरों के अंधविश्वासों से मुक्ति दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।''[24]

दलित वैचारिकी के विकसित स्वरूप का पूर्वाभास हमें महात्मा फुले के विचारों में दिखायी देता है। बाबा साहब अम्बेडकर ने महात्मा बुद्ध, कबीर के साथ महात्मा फुले को अपना गुरु माना था। उन्होंने भारतीय समाज में शोषितों–उत्पीड़ितों की मुक्ति के लिए शूद्रों तथा अतिशूद्रों की एकता पर बल दिया। महात्मा फुले ने ब्राह्मणवादी–सामन्ती व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए किसान–कुन्बी तथा अछूत जातियों का एक मिला जुला वर्ग बनाने की रणनीति बनायी। राव साहब कसबे लिखतें है कि– ''महाराष्ट्रीय समाज में पहली बार वर्ग बोध (Class Consciousness) और वर्गीय चेतना दृष्टि प्रदान करने का कार्य महात्मा फुले ने ही किया। इस चेतना के आधार पर वर्गहीन समाज की रचना होगी। महात्मा फुले का यह प्रयत्न मात्र महाराष्ट्र के लिए ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारत के लिए अभिनव था।''[25] महात्मा फुले की इस वर्ग की अवधारणा की प्रासंगिकता को आज पूरा भारत महसूस कर रहा है।

महात्मा फुले अपने अध्ययन तथा सामाजिक सुधार आन्दोलन (सत्यशोधक समाज) से यह विश्लेषित करने में कामयाब रहे कि ब्राह्मणवादी–सामन्ती व्यवस्था को तोड़ने का मूल मंत्र इसी शूद्रातिशूद्र की एकता में छुपा हुआ है। वह ब्राह्मणवादी षड़यंत्र पर 'गुलामगीरी' की भूमिका में लिखते हैं कि ''जब से ब्राह्मणों ने शूद्रादि–अति शूद्रों में जाति–भेद की भावना को पैदा किया, बढ़ावा दिया, तब से उन सभी के दिलो–दिमाग आपस में उलझ गये और नफरत से अलग–अलग हो गये। ब्राह्मण–पुरोहित अपने पड़यंत्र में कामयाब हुए।''[26] यह उद्धरण ब्राह्मणवादी व्यवस्था का कितना सटीक विश्लेषण है। भविष्य के जाति–मुक्ति आन्दोलन की सफलता के लिए यह एक ताकीद भी है। जब तक दलित और पिछड़े आपस की समस्याओं का

हल नहीं निकालेंगे तब तक सामाजिक न्याय का कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

सामाजिक न्याय की इस लड़ाई को लड़ने के लिए महात्मा फुले ने शिक्षित होने पर जोर दिया। उस समय की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में शूद्र तथा अतिशूद्र दोनों ही समुदायों में शिक्षा का अभाव था। शिक्षा के महत्व को स्पष्ट करते हुए महात्मा फुले कहते हैं कि, ''विद्या के अभाव में गति (परिवर्तन शीलता) नष्ट हुई। गति के अभाव से वित्त (अर्थव्यवस्था) नष्ट हुआ और वित्त के अभाव से शूद्रों का पतन हुआ। अकेले अज्ञान के कारण ही, यह सब कुछ हुआ।''[27] इस अज्ञान को दूर करने के महात्मा फुले ने स्त्रियों के लिए 1848 में पहला महिला विद्यालय खोला। इस विद्यालय में वह अपने मित्रों तथा पत्नी सावित्री बाई फुले के साथ शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया। इस विद्यालय में शूद्रों तथा अतिशूद्रों की लड़कियों को शिक्षित करना प्रारम्भ किया। महात्मा फुले जानते थे कि किसी भी समाज या समुदाय का विकास तभी हो सकता है जब उस समाज या समुदाय की स्त्रियाँ शिक्षित हो। ग्राम्शी का कथन है कि ''शिक्षा का इतिहास दिखाता है कि सत्ता चाहने वाले हरेक वर्ग ने स्वायत्त शिक्षा के द्वारा सत्ता के लिए अपने को तैयार किया था। राजनीतिक और सामाजिक दासता से मुक्ति पाने की दिशा में पहला कदम दिमाग को आजाद करना है।''[28] शूद्रों–अतिशूद्रों को दिमागी रूप से आजाद करने में महात्मा फुले का बड़ा योगदान है।

जब भी कोई समुदाय शिक्षित होता है, जागरूक होता है तो वह अपने समुदाय या समाज की संस्कृति और इतिहास को ढूढ़ँता है। महात्मा फुले का दलित वैचारिकी को सबसे बड़ा योगदान उनका इतिहास, मिथकीय इतिहास, तथा संस्कृति का पुनर्पाठ है। महात्मा फुले ने दलित वैचारिकी को समृद्ध करते हुए मिथकों का पुनर्सृजन किया। प्राचीनकाल से चली आ रही राजा बालि की कथा का पुनर्पाठ किया तथा उनको यहाँ के शूद्रों– अतिशूद्रों के पूर्वज के रूप में स्थापित किया। इसी प्रकार शिवाजी महाराज को शूद्र राजा के रूप में स्थापित किया तथा उनके गुरु रामदास को एक चालाक ब्राह्मण बताया

जिसकी संतानों ने आगे चलकर षड़यंत्र द्वारा शासन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार महात्मा फुले ने शूद्रों– अतिशूद्रों की संतानों को इतिहास के पुनर्सृजन के लिए प्रेरणा दी।

पेरियार रामास्वामी नायकर ने अपने आन्दोलन का क्षेत्र मुख्यतः दक्षिण भारत (मद्रास) रखा। उन्होंने दलित मुक्ति के लिए आत्म सम्मान आन्दोलन चलाया। उन्होंने दलितों–पिछड़ों की एकता के लिए द्रविड़–आदि द्रविड़ जैसी अवधारणा रखी तथा उन्होंने इनको यहाँ का मूल निवासी घोषित किया। स्वामी अछूतानंद ने उत्तर भारत में आदि हिन्दू आन्दोलन चलाया। स्वामी अछूतानन्द पहले आर्य समाजी थे, बाद में उससे मोहभंग हुआ तो उन्होंने जाति सुधार आन्दोलन प्रारम्भ किया। स्वामी जी ने इस सम्बंध में सात बातों पर जोर दिया ''1. शिक्षा, 2. गन्दे पेशों का त्याग 3. मृतक पशुओं के सड़े मांस को खाने से रोकना 4. बेगार के विरुद्ध संघर्ष 5. सत बसना का परित्याग–यह एक ऐसी प्रथा थी, जिसमें दाई का काम करने वाली चमार महिला को सात दिन तक सवर्ण जच्चा के घर में रहकर साफ–सफाई करनी होती थी। 6. नशा त्याग और 7. पाखण्ड, अंधविश्वास का खात्मा।''[29] स्वामी जी ने इन बातों का प्रचार करके दलितों में आत्मविश्वास जगाया।

स्वामी जी ने दलितों को आदि–हिन्दू माना तथा उन्हें यहाँ का मूल–निवासी घोषित किया। स्वामी जी ने विशाल धार्मिक साहित्य का अध्ययन किया तथा उनमें दलितों के साथ हुए अन्याय वाले हिस्सों पर स्वतंत्र नाटक लिखकर उसकी निन्दा की जिसमें मायानंद बलिदान, शम्बूक (शूद्र–मुनि) बलिदान अथवा राम राज्य–न्याय नाटक, आदि–खण्ड काव्य प्रमुख है। बाबा साहब अम्बेडकर के प्रभाव में आने के बाद स्वामी जी का आदि हिन्दू मंच राजनीतिक अधिकारों की मांग का सवाल भी उठाने लगा। स्वामी जी ने संख्या के आधार पर संसाधनों के बँटवारे का सवाल जोरदार ढंग से उठाया। स्वामी जी अपने भाषण में कहते हैं कि– ''हमारी मांग है कि संख्या के अनुपात से हमारे राजनैतिक अधिकार हमें दिये जायें। यह कितने खेद की बात है कि हमारे मुल्की हकों को भी द्विज भाई डकारे बैठे हैं, और हमें केवल बातों में

फुसलाया करते हैं... यदि इन्हें पूर्ण स्वराज्य मिल जाये तो शायद मनु वाला कानून फिर चलाकर हमें सिर्फ जूठन, छटकन, फटकन और उतरन के हकदार बनाकर रखेंगे।''[30] इस पूरे भाषण में हम आजादी के आन्दोलन का दलित यथार्थ देख सकते हैं। स्वामी जी का उत्तर भारत में दलित–मुक्ति आन्दोलन को विस्तारित करने में महत्वपूर्ण योगदान है।

दलित वैचारिकी में सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भ बाबा साहब अम्बेडकर हैं। उनके लेखन और आन्दोलन ही नहीं वरन् उनका पूरा जीवन दलित वैचारिकी के लिए प्रेरणा स्त्रोत है। बाबा साहब अम्बेडकर ने भारतीय समाज व्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन किया था। उनका पूरा जीवन वर्ण–जाति तथा सामन्ती व्यवस्था से लड़ने में तथा दलितों एवं स्त्रियों की मुक्ति के लिए समर्पित रहा। हिन्दू समाज व्यवस्था के बारे में उनकी राय थी कि– ''हिन्दू समाज एक मीनार है और एक–एक जाति इस मीनार का एक–एक तल (मंजिल) है। ध्यान देने की बात यह है कि इस मीनार में सीढ़ियाँ नहीं है, एक तल से दूसरे तल में जाने का कोई मार्ग नहीं है। जो जिस तल में जन्म लेता है वह उस तल (जाति) में मरता है। नीचे के तल का मनुष्य कितना ही लायक हो उसका उपर के तल में प्रवेश संभव नहीं है।''[31] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बाबा साहब अम्बेडकर भारतीय समाज व्यवस्था को एक स्थिर समाज व्यवस्था के रूप में देख रहे थे जिसकी सबसे बड़ी समस्या जन्मना भेदभाव है। इसी जन्मना भेदभाव के कारण जहाँ एक तरफ उच्च वर्ण–जाति व्यवस्था (सवर्ण) में जन्मे व्यक्ति को सम्मान तथा सामाजिक सहूलियते मिल जाती है वहीं दूसरी तरफ निम्न वर्ण–जाति व्यवस्था में जन्में व्यक्ति के उपर सामाजिक अवमाननायें लाद दी जाती हैं। इन अवमाननाओं के द्वंद्व में फसकर दलित वर्ग का व्यक्ति जीवनभर घुटता रहता है। ऐसी स्थिति में जब समाज के एक तबके के व्यक्ति का विकास सामाजिक संरचना के कारण रूक जाये, तो एक स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए ऐसी संरचनाओं से लड़ना जरूरी हो जाता है।

बाबा साहब अम्बेडकर जानते थे कि भविष्य के भारत निर्माण की सबसे बड़ी रुकावट जाति–व्यवस्था है। जाति–व्यवस्था के दानव से लड़े बिना समता,

बंधुता एवं स्वतंत्रता पर आधारित भविष्य के भारत का निर्माण असंभव है। तत्कालीन समय में उपरी तबके के बहुत से बुद्धिजीवी तथा नेताओं का मानना था कि जाति व्यवस्था श्रम का एक आदर्श विभाजन है। छुआछूत एवं भेदभाव को यदि इसमें से हटा दिया जाये तो यह एक वैज्ञानिक तथा आदर्श व्यवस्था होगी। ऐसे विद्वानों को ताकीद करते हुए डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि– ''जाति व्यवस्था केवल श्रम का विभाजन नहीं है। निस्संदेह सभ्य समाज में श्रम का विभाजन आवश्यक होता है। लेकिन किसी भी सभ्य समाज में श्रम विभाजन के साथ श्रमिकों का अपरिवर्तनीय, अप्राकृतिक विभाजन नहीं किया जाता। जाति–व्यवस्था केवल श्रमिकों का विभाजन करने वाली व्यवस्था नहीं है– जो कि श्रम विभाजन से सर्वथा भिन्न है, बल्कि वह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों में विभाजन की श्रेणी एक दूसरे के उपर निर्धारित की गई है।''[32]

बाबा साहब अम्बेडकर ने सामाजिक स्तरीकरण को तोड़ने के लिए दो अचूक उपाय बताये 1. सामूहिक खान–पान अर्थात बगैर किसी वर्ण–जाति भेदभाव के खान–पान 2. अन्तर्जातीय विवाह। इन दोनों ही क्रियाकलापों पर हिन्दू समाज में सख्त निषेध था। बाबा साहब जानते थे कि सामूहिक खानपान तथा अन्तर्जातीय विवाह होने से हिन्दू–धर्मग्रन्थों द्वारा पवित्र घोषित की गयी जातियों का सिद्धांत खारिज होगा। इसीलिए बाबा साहब ने अपने उपायों को कारगर बनाने के लिए हिन्दू–धर्मग्रन्थों तथा रीतिरिवाजों का अध्ययन किया तथा उनकी युक्तियुक्त आलोचना भी की। इसीलिए उनका मानना था कि समतामूलक समाज के निर्माण के लिए पहले इन हिन्दू– धर्मग्रथों को नकारना होगा।

डॉ. अम्बेडकर अस्पृश्यों को ताकीद करते है कि समतामूलक तथा सम्मानपूर्वक जीवन के लिए उन्हें शिक्षित होना होगा। डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि ''दो बातों के लिए उन्हें प्रयास करना ही होगा, और वे शिक्षा और ज्ञान का प्रसार। विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की शक्ति उस झूठ की वैशाखी पर टिकी रहती है, जिसका प्रचार–प्रसार से वे बड़ी लगन व जतन से करते हैं।''[33] बाबा साहब अम्बेडकर भविष्य के दलित आंदोलन में दलितों के क्या प्रयास हो सकते

हैं, उसकी बात कर रहे हैं। बाबा साहब अम्बेडकर भविष्य के सामाजिक–राजनीतिक आन्दोलन पर भी विचार करते हैं और उनका मानना है कि पिछड़ों और दलितों के गठजोड़ में कुछ समस्याएँ है तथा जिनके कारण परस्पर संघर्ष की स्थिति है। इस समस्या का निराकरण करते हुए वे कहते हैं कि ''इन पिछड़ी जातियों के लिए उचित मार्ग यही था कि वे मांग करते स्पृश्य हिन्दुओं का विभाजन उन्नत तथा पिछड़े लोगों के रूप में किया जाए और पिछड़े लोगों को अलग से प्रतिनिधित्व दिया जाय। उस प्रयास में अस्पृश्य उनका समर्थन करते।'' [34] इस तरह पूरे उद्धरण में हम उनकी राजनीतिक–सामाजिक सूझबूझ को देखते हैं जिसमें दलितों एवं पिछड़ों की एकता का फलसफा छिपा है।

अक्सर कुछ विद्वान कहते हुए पाये जाते हैं कि डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के सामाजिक तथा राजनीतिक पक्षों को तो ध्यान में रखा परन्तु उनसे आर्थिक पक्ष छूट गये परन्तु इसका जवाब हम उनकी पुस्तक 'राज्य और अल्पसंख्यक' में देख सकते हैं। बाबा साहब अम्बेडकर लोकतंत्र पर बात करते हुए कहते हैं कि ''प्राचीन काल के संविधान–वेत्ताओं का मानना था कि संविधि की परिधि और कार्यक्षेत्र समाज के राजनीतिक ढाँचे की आकृति और रूप को विहित करना है। उन्होंने यह कभी नहीं समझा कि यदि लोकतंत्र को एक आदमी, एक मूल्य की कसौटी पर खरा उतरना है तो समाज के आर्थिक ढाँचे की आकृति और रूप को विहित करना आवश्यक है।''[35] इस उद्धरण से हम समझ सकते हैं कि बाबा साहब अम्बेडकर के विचार से लोकतंत्र की सफलता ही आर्थिक ढाँचे पर निर्भर करती है।

डॉ. अम्बेडकर इस यथार्थ को अच्छी तरह समझते थे कि भारत की अधिकतर दलित जनता भूमिहीन, गरीब तथा संसाधनविहीन है इसीलिए उन्होंने राजकीय समाजवाद की वकालत की। अपनी पुस्तक 'राज्य और अल्पसंख्यक' में उन्होंने लिखा है कि ''वह (राज्य) लोगों के आर्थिक जीवन को इस प्रकार योजनाबद्ध करे कि उससे उत्पादकता का सर्वोच्च बिन्दु हासिल हो जाय और निजी उद्यम के लिए एक भी मार्ग बंद न हो, और संपदा के वितरण के लिए

भी उपबंध किया जाए। इस खण्ड के वर्णित योजना के अनुसार कृषि के क्षेत्र में राजकीय स्वामित्व प्रस्तावित है, जहाँ सामूहिक पद्धति से खेती बारी की जाए तथा उद्योग के क्षेत्र में राजकीय समाजवाद का रूपांतरित रूप भी प्रस्तावित है।''[36] इस प्रकार बाबा साहब ने भारत में सच्चे समाजवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसी प्रकार उन्होंने हिन्दू कोड बिल के माध्यम से बहुसंख्यक भारतीय समाज की स्त्रियों के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। उनके चिंतन में दलित, स्त्री, सर्वहारा, मजदूर सबके विकास की चेतना दिखायी देती है। बाद में दलित वैचारिक चिन्तन ने उनके विचारों पर ही आधारित होकर दलित मुक्ति आन्दोलन का विकास किया।

(ख) उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि और दलित

1. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

भारत में अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होने के साथ ही यहाँ के सामाजिक संरचनाओं में गतिशीलता प्रारम्भ हो गयी। चूंकि उनकी सामाजिक व्यवस्था आधुनिक जीवन–मूल्यों से संचालित थी इसीलिए उन्होंने भारत में भी अपने देश की तर्ज पर आधुनिक संस्थाओं का निर्माण किया तथा उन्होंने प्रशासन के लिए आधुनिक प्रशासनिक प्रणाली का प्रारम्भ किया। भारतीय गाँव जो सदियों से अपने ढाँचे को सुरक्षित रखे हुए थे तथा आर्थिक तथा सामाजिक आधार पर स्थिर थे, नई शासन प्रणाली तथा कर व्यवस्था के कारण उनमें हलचल होने लगी। भारतीय गाँव अभी तक अपने ही सामाजिक–धार्मिक नियमों से संचालित थे तथा उनकी न्याय व्यवस्था धार्मिक–कानूनों पर ही आधारित थी, उनकी शक्ति छीन ली गयी। ए.आर.देसाई अपनी पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' में कहते हैं कि ''अंग्रेज सरकार ने गाँवों के अंतर्जीवन पर आघात किया, उनके न्यायिक एवं पुलिस सम्बन्धी स्वातंत्र्य को समाप्त किया, उसकी जगह सारे देश को एक जैसी विधि–व्यवस्था प्रदान की और उसके कार्यान्वयन के लिए गाँवों में अपने प्रतिनिधि भेजे। वस्तुतः उन्होंने पहले के स्वशासित गाँवों से वे सारे कार्य हथिया लिए जो राज्य द्वारा संचालित होते थे,

लेकिन जिन्हें प्राचीन काल से ग्रामीण संस्थायें चलाती रही थी।''[37] वस्तुतः ए. आर.देसाई जिसे ग्रामीण संस्थायें कह रहे हैं मूलतः वह गाँव के उच्च जाति समुदाय द्वारा ही संचालित संस्थायें थी। नयी व्यवस्था द्वारा ग्राम–पंचायतों की न्याय तथा दण्ड व्यवस्था छीनने से ग्रामीण दलित जीवन को कुछ सुकून अवश्य मिला।

नये कृषि कानूनों ने परम्परागत कृषि के आधारों को तोड़ दिया तथा ग्रामीण किसान कर्ज के जाल में फँसकर भूमिहीन होने की स्थिति में आ गया। किसानों की ऋणग्रस्तता तथा ग्रामीण पंचायतों से दण्ड देने के अधिकार छीन लेने के कारण ग्रामीण 'जजमानी व्यवस्था' पर बुरा प्रभाव पड़ा। वहीं दूसरी तरफ रेलवे तथा यातायात के विकास ने उद्योग तथा व्यापार को बढ़ावा दिया। तथा शहरों में आधुनिक कारखानों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। जजमानी व्यवस्था की टूट, कृषि की ऋणग्रस्तता तथा शहरों में वैकल्पिक रोजगार की उभरती व्यवस्था ने दलित पिछड़ी जाति के लोगों को जाति–पेशा छोड़ने की ओर प्रवृत्त किया। हालांकि ए.आर.देसाई इसे अंग्रेजी साम्राज्य की आवश्यकता के रूप में देखते है। वह कहते हैं कि ''औद्योगिक विकास के लिए श्रम आपूर्ति की आवश्यकता थी। जाति के नियमों के अनुसार सभी के लिए पैतृक पेशा अपनाना जरूरी था और इस तरह उद्योगों के लिए पर्याप्त संख्या में मजदूरों का मिलना मुश्किल था। जाति भक्ति का स्थान सर्वोपरि था, इसलिए राष्ट्रवाद जैसे वृहत्तर विचार तंत्र के प्रति भक्ति का स्थान बाद में आता है। कारीगरों की बर्बादी और किसानों के दारिद्रय के कारण यह आवश्यक हो गया कि ये लोग दूसरे पेशे अख्तियार करे।''[38]

सुमित सरकार भूमिहीन किसान तथा ग्रामीण कारीगरों के इस मसले की दूसरी तरह से विवेचना करते हुए कहते हैं कि– ''ताजा शोधों से ज्ञात होता है कि भूमिहीन खेत–मजदूर भारत में उपनिवेशवाद की देन नहीं थे, जैसा कि कुछ राष्ट्रवादी दर्शाते रहे हैं। ये राष्ट्रवादी एक समता–मूलक ग्राम समुदाय का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जो विऔद्योगीकरण एवं उसके परिणामस्वरूप भूमि पर अत्यधिक दबाव पड़ने के कारण बिखर गया। फिर भी,

यह संभव है कि उपनिवेशवाद से सम्बद्ध प्रक्रियाओं ने ग्रामीण सर्वहारा की संख्या में वृद्धि की हो और स्थिति को शोचनीय बना दिया हो।''[39] यदि दोनों कथनों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाये तो देसाई जी का कथन वर्ग दृष्टिकोण को दर्शाता है वहीं सुमित सरकार अपने कथन में पारम्परिक भारतीय समाज की कमियों की तरफ संकेत करते हैं। यदि हम इन दोनों कथनों के तफसील में जाये तो इसका एक दलित निहितार्थ निकलता है। पारम्परिक भारतीय समाज में सबसे कम पूँजी तथा जजमानी व्यवस्था से बँधे हुए लोग दलित–बहुजन जातियों से थे। इसी प्रकार किसानों में खेती योग्य जमीन की उपलब्धता पर विचार करे तो सीमान्त किसान तथा भूमिहीन मजदूर दोनों ज्यादातर दलित–बहुजन जातियों से ही होते थे। इस आधार पर हम कह सकते है कि भारतीय समाज में जिस समुदाय का किसान तथा कारीगर से मजदूर के रूप में प्रत्यावर्तन हुआ वह सभी दलित–बहुजन समुदाय से ही थे।

इस उभरे हुए नये मजदूर वर्ग ने बेहतर रोजगार की तलाश में शहरों के कारखानों का रूख किया। अंग्रेजी साम्राज्य की आवश्यकताओं ने उन्हें दूसरे देशों में प्रवास के लिए भी मजबूर किया। विदेशी प्रवास के उपर बद्रीनारायन लिखते हैं कि– ''अंग्रेज, डच एवं अन्य औपनिवेशिक शक्तियों को गन्ने, कोका एवं प्लांटेशन्स के लिए मजदूरों की जरूरत हुई। इस जरूरत को पूरा करने के लिए एक नई व्यवस्था 'शर्तबन्दी' व्यवस्था लागू की गई, जिसके तहत पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार के लगभग बारह लाख लोग कोलकाता डिपो से जहाजों में भर–भरकर सूरीनाम, मॉरीशस, फिजी इत्यादि देशों में ले जाए गए।''[40] दलित–बहुजन जातियों के इस प्रवास ने भी सामाजिक गतिशीलता को जन्म दिया। गाँव से बाहर निकलने के बाद उनको ग्रामीण वर्ण–जाति व्यवस्था को देखने का एक नया नजरिया मिला। उन्होंने जातिगत–भेदभाव एवं शोषण का प्रतिरोध करना प्रारम्भ किया। बद्रीनारायन लिखते हैं कि – ''इस प्रकार इस कालखंड में दलित समाज के लोग निष्क्रिय, गाँवों में सिमटे रहने वाले, दमन झेलते हुए मात्र मालिकों की भाषा बोलने वाला समुदाय न था। भारतीय सामंती समाज से निकलकर उनके बाहर जाने के पीछे नौकरी की चाह, गरीबी से

मुक्ति के साथ–साथ वर्णाश्रम दमनकारी भारतीय व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिरोध का भाव भी था।''[41] इस प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों ने भी सदियों से सोये समाज में अनायास ही एक सामाजिक बराबरी की चेतना विकसित करने में सहयोग दिया।

दलित–बहुजन समुदाय की चेतना के विकास में सबसे बड़ी बाधा अशिक्षा थी। चूंकि अभी तक परम्परागत भारतीय समाज में दलित–बहुजनों को शिक्षा तथा अध्ययन की मनाही थी। सारे ही विद्यालय जो कि ब्राह्मण अथवा उच्च जातियों द्वारा चलाये जाते थे, दलितों के लिए उनके दरवाजे बन्द थे। दूसरी तरफ दलितों को चालाकी से यह समझाया गया था कि विद्यार्थी जीवन आदमी को शारीरिक रूप से कमजोर कर देता है। इसीलिए निचले तबके के लोगों ने शिक्षा को अपने पेशेगत कार्य जो कि शारीरिक श्रम पर आधारित था, में बाधा के रूप में देखा। ए.आर.देसाई लिखते हैं कि– ''अछूत निम्न पेशे ही अपनाता था, क्योंकि उनमें शिक्षा का अभाव था। इसके चलते आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से वे काफी निर्धन थे। जैसे–जैसे उन्हें साधारण और तकनीकी शिक्षा मिलती गयी, वैसे–वैसे उनकी आर्थिक स्थिति में तरक्की हुई, और विभिन्न पेशों में लगे हुए लोग वर्ग के आधार पर वैसे ही पेशों में लगे हुए अन्य जातियों के लोगों के साथ समन्वित होने लगे।''[42] हालांकि देसाई जी की प्रारम्भिक व्याख्या सही है कि अशिक्षा के कारण दलितों तथा पिछड़ों का शोषण बढ़ जाता है परन्तु जब वह निष्कर्ष के अन्त में आते है तो अपने वर्गीय दृष्टिकोण के कारण जातीय भेदभाव को आर्थिक समस्या तक सीमित कर देते हैं। यहीं उनके चिन्तन की समस्या है। अगर वह बाबा साहब अम्बेडकर की विवेचना देखते तो समझ जाते कि कारखानों में एक साथ काम करने वाले मजदूर वर्ग भी वर्ण–जाति के आधार पर बँटे होते हैं।

भारतीय समाज पर आधुनिक संस्थाओं तथा आधुनिक शैक्षिक संस्थानों का व्यापक प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी साम्राज्य द्वारा संचालित तथा इसाई मिशनरियों के सहयोग से शूद्र तथा अछूत वर्ग के लोग भी शैक्षणिक संस्थानों में दाख़िला पाने लगे। इन आधुनिक शैक्षिक संस्थानों में पढ़ने वाले लोगों का साबका

पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान की चिन्तन–परम्परा से हुआ तथा इन लोगों पर पाश्चात्य नागरिक अधिकारों तथा उनके विद्वानों के विचारों का प्रभाव पड़ा। इन्हीं विचारों के प्रभाव से भारत में भी सामाजिक–धार्मिक सुधार प्रारम्भ हुआ। भारतीय सामाजिक सुधार आन्दोलनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला वे आन्दोलन जिनकी शुरूआत ऊपरी तबके के लोगों ने हिन्दू सामाजिक व्यवस्था से खिन्न होकर किया तथा दूसरा वे आन्दोलन जिन्हें हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में निचले पायदान पर (शूद्र तथा अछूत) पड़े समुदाय के लोगों ने प्रारम्भ किया। पहले आन्दोलन को हम सुधारवादी आन्दोलन के तहत रखेंगे तथा दूसरे को आमूलचूल परिवर्तनवादी आन्दोलन कहेंगे।

सुधारवादी आन्दोलनों में मुख्यतः ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज थियोसोफिकल सोसायटी आदि आते हैं। इन आन्दोलनों ने जाति–प्रथा का विरोध किया परन्तु उसके संरचनात्मक ढाँचे को बदलने का कोई खास प्रयास नहीं किया। ब्रह्म समाज की विचारधारा पर पश्चिम के दर्शनिकों का गहरा प्रभाव था। वह एक ईश्वर और एक भक्ति में विश्वास करने वाले लोगों का संगठन था। ब्रह्म समाज पर अपने विचार रखते हुए दलित राजनीतिज्ञ जगजीवन राम कहते हैं कि– ''राममोहन राय हिन्दू समाज में इसलिए सुधार चाहते थे, ताकि इस्लाम और ईसाई धर्मांतरण आन्दोलन हिन्दू धर्म के लिए संकट न बन जाये इसलिए वास्तविकता यह है कि राय का आन्दोलन हिन्दू धर्म की सुरक्षा का आन्दोलन था, किसी नये राष्ट्र के निर्माण का आन्दोलन नहीं था।''[43] इस कथन से हम समझ सकते है कि ब्रह्म समाज में सुधार के जो तत्व थे, उनसे समाज के उपरी तबके में व्याप्त बुराईयों (आजीवन वैधव्य, सती प्रथा) को दूर करने पर ज्यादा जोर था। इन समस्याओं का दलित समाज से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। ब्रह्म समाज का गहरे अर्थों में मूल्यांकन करते हुए गेल ओम्वेट कहती हैं कि ''यद्यपि वह हिन्दूवाद का प्रत्यक्ष समर्थक नहीं था, पर वे आर्यों के स्वर्णिम युग की चर्चा करते थे और मुस्लिम युग को इतिहास का काला युग मानते थे। उनके अनुसार वह युग भारत की अवनति के लिए जिम्मेदार था।''[44]

आर्य समाज ने वेदों की सत्ता पर जोर दिया। उन्होंने बाह्य आडम्बरों तथा अन्य हिन्दू ग्रन्थों का विरोध किया। इस आन्दोलन ने भी वर्ण–जाति के मुद्दे पर गंभीरता से आन्दोलन नहीं चलाया। ए.आर. देसाई आर्य समाज की जाति सम्बन्धी दृष्टिकोण की विवेचना करते हुए कहते है कि ''आर्य समाज का समाज सुधार का भी अपना कार्यक्रम था। यह वंशानुगत जाति प्रथा के विरुद्ध था, लेकिन जन्म नहीं कर्म के द्वारा विवेचित समाज की चतुर्वर्ण व्यवस्था में इसका विश्वास था। चूंकि वेदों में इस तरह की व्यवस्था थी और चूंकि वेद गलत नहीं हो सकते, इसलिए आर्य समाज जाति–व्यवस्था का परित्याग नहीं कर सकता।''[45] इस कथन की विवेचना से हम समझ सकते हैं कि समाज में निचले पायदान के लोग ही निम्न स्तर (सामाजिक मान्यताओं में) के कार्य करते थे। इस प्रकार वह ही शूद्रों की श्रेणी में सम्मिलित होते। छुआछूत के मसले पर गेल ओम्वेट आर्य समाज की विचारधारा पर कहती हैं कि– ''आर्य सामाजियों के लिए अस्पृश्यता समाप्त करने का अर्थ था कि सभी मुख्य जातियाँ वैदिक आर्यों की वंशज हैं और यदि अस्पृश्यों को इसमें सम्मिलित करना है तो उन्हें शुद्धि की प्रक्रिया या जनशुद्धिकरण की प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा।''[46]

इस प्रकार उपरोक्त उद्धरणों से हम समझ सकते है कि इन सुधारवादी आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म की उन समस्याओं पर ज्यादा जोर दिया जो उपरी तबके में व्याप्त थी जैसे– सती प्रथा, विधवा समस्या, बाल विवाह, विदेश यात्रा। इन्होंने अपने आन्दोलन का पैमाना इतना ऊपर स्थापित किया कि इनके सुधारों ने भारतीय समाज में दलितों की समस्याओं को छुआ तो जरूर पर उसमें कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। इन समाज सुधार आन्दोलनों के हश्र पर कंवल भारती कहते हैं कि ''मूलतः हिन्दू समाज सुधार के लिए वे खड़े नहीं हुए। जो लड़ाई लड़ी गयी, वह मुख्यतः परिवार के सुधार के सवाल तक सीमित थी। जाति–व्यवस्था तोड़ने के सन्दर्भ में समाज सुधार से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। यही कारण है कि समाज सुधार पार्टी को असफलता मिली।''[47] कंवल भारती इन आन्दोलनों के असफल होने में उनकी रणनीतिक

कमी तथा इच्छा शक्ति में दृढ़ता की कमी को देखते है। परन्तु गेल ओम्वेट इन आन्दोलनों को दलित बहुजन जातियों के विरुद्ध एक साजिश के रूप में देखने की हिमायत करती है। गेल ओम्वेट कहती हैं कि ''सामाजिक सुधार के प्रयास आमतौर पर दलित और नीची जातियों के समर्थन के समझे जाते है, लेकिन यथार्थ यह है कि ये प्रयास ऊँची जातियों के प्रभुत्व को और अधिक ऊँचा करने और उसे आधुनिकता के आधार पर औचित्यता प्रदान करने का प्रयास थे।''[48]

आमूलचूल सामाजिक परिवर्तन आन्दोलन मुख्यतः समाज के निम्न तबकों से सम्बन्धित आन्दोलनकारियों द्वारा प्रारम्भ किया गया जिसमें मुख्यतः ज्योतिबा फुले, बाबासाहब अम्बेडकर, पेरियार, नारायण गुरु, स्वामी अछूतानंद आदि थे। बंगाल से प्रारम्भ हुए नवजागरण आन्दोलन में नया अर्थ भरने का कार्य महात्मा फुले ने किया। महात्मा फुले ने समाज में निम्नवर्ग (शूद्र–अतिशूद्र) में चेतना फैलाने के लिए मुख्यतः दो चीजों पर जोर दिया– पहला विद्यालयों की स्थापना तथा दूसरा ब्राह्मण–सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध लेखन का कार्य। महात्मा फुले ने 1848 ई. में सर्वप्रथम स्त्री–शिक्षा के लिए स्कूल खोला जिसमें दलित–बहुजन समुदाय की स्त्रियाँ भी पढ़ती थी तथा सन 1851 में महात्मा फुले ने दलित बहुजन समुदाय के लड़कों के लिए अलग से स्कूल खोला। महात्मा फुले जानते थे कि हिन्दू धर्म की गुलामी में जकड़े दलित बहुजनों का भला शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए शिक्षा के मसले पर उन्होंने निजी प्रयास भी किये तथा सरकार से भी मदद लेने का प्रयास किया। इसी सिलसिले में उन्होंने 1854 ई. में चार्ल्स वुड को ज्ञापन दिया। इस ज्ञापन में उन्होंने कहा है कि ''जो गरीब जनता खुद की मेहनत से शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ है, उसे जीवन उपयुक्त और व्यवहारिक ज्ञान के लिए ऐसी शिक्षा दी जाए। हमारी इच्छा है कि सरकार भविष्य में उचित कदम उठाकर इस लक्ष्य को हासिल करे। इसमें आगे लिखा है कि किसी भी विद्यार्थी को जाति के कारण सरकारी विद्यालय या महाविद्यालय में प्रवेश देने से इन्कार नहीं किया जा सकता।''[49] इसी प्रकार उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में 'निस्यंदन का सिद्धान्त'

(Trickle Down Effect) जैसे उच्चवर्गीय अवधारणा को भी नकार दिया। उस समय बहुत से विद्वान यह मानते थे कि उच्च शिक्षा उपरी तबके से होकर निम्न स्तर तक आयेगी। विलियम हंटर को इसी सिलसिले में उन्होंने ज्ञापन दिया जिसमें उन्होंने लिखा है कि– ''उच्च वर्गों की सरकारी शिक्षा–पद्धति की प्रवृत्ति इस बात में दिखाई देती है कि सरकारी वरिष्ठ पदों पर इन ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हो चुका है। सरकार यदि जनता का सचमुच ही कल्याण चाहती है, तो इन अनेक दोषों का निवारण करना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। दूसरी जाति के थोड़े–थोड़े लोगों की नियुक्ति करके दिन–ब–दिन बढ़ रहे ब्राह्मणों के वर्चस्व को सीमित किया जाना चाहिए।''[50] इन उदाहरणों से हम समझ सकते है कि उन्होंने निम्न तबके को शिक्षित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया।

दूसरी तरफ महात्मा फुले ने दलित बहुजन जातियों में जाति विरोधी चेतना फैलाने के लिए रचनात्मक लेखन किया। उनकी रचनाओं में मुख्यतः तृतीय रत्न, ब्राह्मणों की चालाकी, गुलामगीरी, किसान का कोड़ा आदि प्रमुख हैं। उन्होंने पँवाड़ा शैली पर आधारित शिवाजी का पँवाड़ा भी लिखा। महात्मा फुले ने अपने आन्दोलन के प्रसार के लिए महाराष्ट्र की लोककला तमाशा तथा पँवाड़ा का अपने रचनात्मक लेखन में बेहतर प्रयोग किया। इन सारी रचनाओं में उन्होंने ब्राह्मणवाद की सीधी मुखालफत की। एक तरह से उनका ये सारा लेखन ही ब्राह्मण वर्चस्व के विध्वंस पर आधारित है तथा उन्होंने इतिहास तथा मिथकीय इतिहास से शूद्रातिशूद्र पात्रों को लेकर उनका पुनर्सृजन किया। इस प्रकार महात्मा फुले ने दलित–बहुजन रचनाकारों को रचनात्मक लेखन के लिए आधार प्रस्तुत किया तथा उनके प्रयासों से दलित बहुजन समस्याओं पर उसी वर्ग जाति से आये लोगों ने रचनात्मक लेखन प्रारम्भ किया।

दलित साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्माण बाबा साहब अम्बेडकर के सामाजिक–राजनीतिक आन्दोलन से प्रेरणा लेकर होती है। उनके वैचारिक चिन्तन पर पिछले अध्याय में चर्चा हो चुकी है अतः हम उनके सामाजिक–राजनीतिक तथा रचनात्मक लेखन पर संक्षिप्त विचार करेंगे। बाबा

साहब अम्बेडकर ने दलित–शोषित जनता में चेतना फैलाने के लिए मूकनायक, बहिष्कृत भारत, समता, जनता तथा प्रबुद्ध भारत जैसे अखबारों का संपादन किया। उन्होंने शूद्र कौन थे, महात्मा बुद्ध और उनका धर्म, जाति का विनाश, क्रान्ति–प्रतिक्रान्ति इत्यादि जैसी पुस्तकों के लेखन का भी कार्य किया। बाबासाहब अम्बेडकर ने मूक नायक में दलित–शोषित वर्ग के युवाओं को संदेश देते हुए कहा हैं कि– ''ऐ! बहिष्कृत नौजवान तू इस अज्ञान रूपी निद्रा को छोड़कर प्रथम मैं कौन हूँ? मेरा असली रूप क्या है? मेरे आस–पास की नैसर्गिक परिस्थिति से मेरा क्या सम्बन्ध है? इस सृष्टि के कर्ता ने मुझे किसलिए उत्पन्न किया है? उसका क्या मानस (मंशा) था? क्या हेतु था? फिलहाल अभी मेरी क्या स्थिति है और आगे भी मेरा क्या होने वाला है इसको अविलम्ब विचार करके तुरंत ही अपने ऊपर का अन्याय दूर करके अपना जो दिन रात अपमान हो रहा है, उसका मुकाबला करने के लिए तैयार रहना चाहिए।''[51] इस प्रकार के संदेशों ने तत्कालीन भारत में दलित युवाओं को चेतनशील बनाने में कारगर भूमिका निभायी। उनको सामाजिक–राजनीतिक मोर्चे पर लड़ाकू बनाने में बाबा साहब का अविस्मरणीय योगदान है।

दूसरी तरफ राजनीतिक मोर्चे पर उन्होंने दो तरफा लड़ाई लड़ी। एक तरफ दलितों में 'नागरिक अधिकार' के लिए उन्होंने महाड़ तालाब तथा कालाराम मन्दिर का आन्दोलन चलाया जिसने समाज के निम्न तबकों को अपने अधिकारों के लिए जागरूक किया। वहीं दूसरी तरफ दलितों के राजनीतिक अधिकारों के लिए सरकारी कमेटियों को ज्ञापन देना तथा उनसे बहस करने का कार्य किया। पूना पैक्ट के बाद दलित समाज के लिए राजनीतिक अधिकार भी सुरक्षित हो गये। अब दलित समाज का प्रतिनिधित्व विधान परिषदों में भी होने लगा। बाबा साहब ने दलित–शोषित जनता में चेतना फैलाने के लिए दलित, किसान तथा मजदूर गठबंधन पर आधारित 'स्वतंत्र मजदूर दल' का गठन किया। इस राजनीतिक पार्टी ने 1937 के आम चुनाव में आरक्षित सीटों पर तथा 3 संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों में विजय हासिल की। सन् 1942 में दलित अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए उन्होंने 'अखिल

भारतीय शिड्यूल कास्ट फेडरेशन' की स्थापना की। उन्होंने 1949 ई. में दलित जनता को 'सत्ता के महत्व' को समझाते हुए कहा कि– ''पहले अपने उद्देश्य और लक्ष्य के बारे में समझ लेना चाहिए। हमारा लक्ष्य है– शासन में भागीदारी। यह बात अपने हृदय पर अंकित कर लीजिए, जिससे आपके ध्यान में रहे कि जिन आकांक्षाओं को लेकर आप संघर्ष कर रहे है, लक्ष्य छोटा–मोटा या संकीर्ण नहीं है। हमारा संघर्ष थोड़ी सी नौकरियों या छूटों के लिए नहीं है। हमारी महत्वाकांक्षा इनसे ऊँची है। शासन में भागीदारी हमारी प्रमुख आकांक्षा है।''[52]

इस प्रकार महात्मा फुले के आन्दोलन को बाबा साहब अम्बेडकर ने व्यवस्थित रूप से विकसित किया। बाबा साहब अम्बेडकर के लेखन, सामाजिक आन्दोलन तथा राजनीति में सुरक्षित अधिकारों से प्रभावित होकर भारतीय दलित समाज में एक चेतनशील वर्ग का निर्माण हुआ। इसी चेतनशील वर्ग के लोगों ने आगे चलकर दलित अधिकारों की हिमायत करते हुए न केवल सामाजिक–सांस्कृतिक मुद्दों पर लड़ाई लड़ी वरन् उन्होंने रचनात्मक लेखन का कार्य भी किया।

मुख्यधारा के लेखकों ने हिन्दी पट्टी में दलित लेखन का प्रारम्भ हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' से माना है। हालांकि इस कविता के अलावा हीरा डोम के बारे में कोई और जानकारी नहीं मिलती है। दलित चिन्तक कंवल भारती ने दलित विमर्श की भूमिका में स्वामी अछूतानंद को हीरा डोम से पहले का कवि माना है। उन्होंने लिखा है कि– ''स्वामी जी की एक कविता 1912 ई. की छपी हुई मिलती है, जिससे पता चलता है कि वे हीरा डोम से पहले के कवि थे।''[53] स्वामी जी का प्रारम्भिक जीवन एवं आन्दोलन दोनों ही आर्य समाज से प्रभावित एवं प्रेरित था। 1912 ई. में आर्य समाज के एक समारोह में उसकी भेदभाव पूर्ण नीति से नाराज होकर उन्होंने संगठन छोड़ दिया। स्वामी जी ने आर्य समाज के बारे में कहा कि– ''अभी तक मैं समझता था कि आर्य समाज जातीय भेदभाव से रहित है, इसीलिए हम प्राणप्रण से आर्य समाज का कार्य सम्पादन कर रहे थे, किन्तु आज तक हम अंधकार में

रहे थे, इस समारोह ने हमारी आँखे खोल दी। हमारी चेतना को झकझोर दिया और हमको अपने पैरों पर खड़े होने का मार्ग प्रशस्त किया है।''[54] दरअसल आर्य समाज ने अछूत जातियों को धर्मांतरण से रोकने के लिए स्वामी अछूतानन्द जैसे दलित बुद्धिजीवियों को हथियार की तरह प्रयोग किया था परन्तु आर्य समाज की असलियत सामने आते ही उन्होंने इस संस्था को छोड़ दिया।

आर्य समाज से मोहभंग के बाद उन्होंने घूम–घूमकर जाति सुधार आन्दोलन चलाया। 1917 ई. में उन्होंने 'अखिल भारतीय अछूत महासभा' का दिल्ली में गठन किया। स्वामी जी रचनात्मक लेखन तथा पत्रकारिता का महत्व जानते थे। वह जानते थे कि उनके जाति–सुधार आन्दोलन को सफल बनाने में साहित्यिक रचनात्मकता आवश्यक है। इसीलिए 1925 ई. में उन्होंने 'आदि हिन्दू' आन्दोलन चलाया तथा इसी नाम से पत्रिका का प्रकाशन किया। स्वामी जी की कविताओं में हिन्दू धर्मग्रन्थों के दलित मिथकों का पुनर्सृजन हुआ है जिसमें महात्मा फुले की छाप का अहसास होता है–

राजा बालि को फांस दान में लिया त्रिलोक मांगा
फिर कब्जा कर लिया देश पर भेज उन्हें पाताल
जनता मारी गयी मुफ्त में देश हुआ पामाल
दस्यु, दास शुद्र कह जनता को किया गुलाम।

इस पूरी कविता में हम ज्योतिबा फूले के शूद्रातिशूद्रों को मूल निवासी घोषित करने तथा 'बालिराज' जैसे मिथकों का सफल प्रयोग देख सकते है।

दरअसल बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों को हिन्दी पट्टी में प्रचारित करने का कार्य स्वामी अछूतानन्द ने प्रारम्भ किया। स्वामी अछूतानन्द की बाबा साहब अम्बेडकर से सन् 1928 में मुम्बई में मुलाकात हुई तथा यहीं से स्वामी जी बाबा साहब के विचारों से प्रभावित हो गए। वरिष्ठ लेखक श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि– ''स्वामी अछूतानंद की सोच में, साहित्य सृजन की दृष्टि से बुनियादी परिवर्तन 1928 में बम्बई की एक सभा में डॉ. अम्बेडकर से भेंट

होने के बाद से आया। वे साईमन कमीशन के समक्ष साक्ष्य देने और पूना पैक्ट के समय में डॉ. अम्बेडकर के साथ रहे। इस कारण अम्बेडकर विरोधी सवर्णों ने स्वामी जी के साहित्य पक्ष को भी नकारा।''[55]

हिन्दी पट्टी में दलित आन्दोलन के विकास की रूपरेखा 1932 के पूना पैक्ट से निर्धारित होती है। बाबा साहब अम्बेडकर के दलित आन्दोलन से गाँधी जी तथा कांग्रेस दोनों को यह आभास हो गया था कि भविष्य में दलित आन्दोलन ही उनके लिए सबसे बड़ी चुनौती साबित होगा। इसीलिए कांग्रेस ने एक सोची–समझी रणनीति के तहत ऐसे दलित नेताओं की खोज की जिनकी सहमति तथा विश्वास दोनों ही महात्मा गाँधी तथा कांग्रेस में हो। इस प्रकार कांग्रेस ने हरिजन नेताओं की एक ऐसी पीढ़ी तैयार की जिन्होंने दलित समुदाय में कांग्रेस की राजनीति को मजबूत करने का कार्य किया। इनके प्रभाव में आकर कुछ दलित जाति के साहित्यकारों ने हरिजन सम्बन्धी विचारों के आधार पर रचनात्मक लेखन किया। वहीं दूसरी तरफ बाबा साहब अपने आन्दोलनों तथा संविधान निर्माण के कारण सम्पूर्ण भारत में दलित राजनीति के सिरमौर बन गये। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्वामी अछूतानन्द के बाद की पीढ़ी ने पूना पैक्ट के प्रभावों को समझा तथा बाबा साहब अम्बेडकर के अनुयायी श्री शंकरानन्द शास्त्री ने 'पूना पैक्ट बनाम गाँधी', लिखकर दलितों में उभरे तथा कांग्रेस द्वारा प्रयोजित छद्म नेताओं के विचारों का विरोध प्रारम्भ किया। इन्हीं के साथ चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, बिहारी लाल हरित, राम स्वरूप वर्मा, बदलू प्रसाद रसिक, इत्यादि रचनाकारों की रचनाओं में बाबा साहब अम्बेडकर के विचार प्रभावी रूप में दिखाई देते है और इन्होंने हिन्दी प्रदेश में दलित साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार की। प्रसिद्ध चिंतक कंवल भारती ने इस युग को विचारधाओं के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया है– 1. आर्य समाजी 2. गांधीवादी 3. अम्बेडकरवादी, अम्बेडकरवादी रचनाकारों की शिक्षा–दीक्षा बहुत अल्प स्तर तक हुई थी। अतः उनकी रचनाएँ या तो भाषणों में मिलती है या फिर ग्रामीण लोक काव्य के स्तर पर। उपन्यास लेखन के लिए जिस शिल्पगत् कुशलता की आवश्यकता होती है, तब के दलित रचनाकारों में वह नहीं थी या

यह भी हो सकता है कि कुछ लोगों ने उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी हो परन्तु वह समय के साथ अप्राप्य हो गये। श्योराज सिंह बैचेन कथा प्रवृत्ति पर लिखते हुए कहते हैं कि ''दलित जीवन में शिक्षा–सुविधाओं के अभाव के कारण लिखित रूप में कथा साहित्य काफी नहीं था। लेकिन पुरानी पीढ़ी के दलित लेखकों से प्रचलित कथाओं का पता चलता है जिनमें कथा–कहानियों की मौखिक परम्परा, व्यंग्य, हास्य, उपहास एवं बदले की भावनात्मक प्रतिक्रिया का पुट मिलता है।''[56]

हिन्दी दलित उपन्यास लेखन का प्रारम्भ 1954 ई. से होता है। 1954 ई. में प्राप्त 'मानव की परख' तथा बंधन मुक्ति (अप्राप्य) गाँधीवाद के प्रभाव में लिखा गया उपन्यास है। 'मानव की परख' उपन्यास के प्रस्तावना में ही हरिजन नेता बाबू जगजीवन राम ने कहा है कि ''युग नेता महात्मा गाँधी के आशिर्वाद ने हरिजनों के अन्तरचक्षु खोल दिये, उनकी सुप्त शक्तियाँ जागृत होने लगी और दबी हुइ मानवता पनप उठी। मानव की परख में बारम्बार एक–प्रतिध्वनि गूँजती है और वह प्रतिध्वनि है, मैं भी मानव हूँ अर्थात हरिजन भी मानव है, उनमें भी सभी श्रेष्ठ गुण विद्यमान है। इस उपन्यास के सभी हरिजन पात्रों में अपना एक आकर्षक व्यक्तित्व है जो सभी हरिजनेतर व्यक्तियों के लिए हरिजनों की मानवता परखने के लिए आमंत्रित कर रहा है।''[57] यह उपन्यास आजादी के तत्काल बाद ही लिखा गया था। बाबा साहब अम्बेडकर अपने दलित आन्दोलनों तथा संविधान निर्माण के कारण सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध हो चुके थे। उन्होंने 1956 ई. में आगरा में दलित जनता को सम्बोधित किया। तत्कालीन सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों में संविधान में आरक्षण के कारण तथा उससे पूर्व दलित चेतना के आन्दोलनों के कारण दलित समाज में शिक्षा का स्तर बढ़ रहा था। सरकारी शैक्षिक संस्थानों में एक निश्चित संख्या में सीटों के आरक्षण के कारण तथा छात्रवृत्ति आदि की सुविधा के कारण दलित छात्रों की संख्या में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। ''एक आकलन के मुताबिक जहाँ आजादी के पहले दशक में स्कूली शिक्षा में दो गुनी बढ़ोत्तरी हुई, वहीं पूर्व के अछूत जातियों के बच्चों की संख्या में आठ से दस गुना की

वृद्धि दर्ज की गई। यूनिवर्सिटी स्तर पर भी पहले की तुलना में कही ज्यादा अनुसूचित जाति के छात्र पढ़ रहे थे।''[58]

वही दूसरी तरफ सरकारी संस्थानों में नौकरियों में आरक्षण के कारण दलित समाज जो अभी तक दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही संसाधन जुटाने में व्यस्त था, में एक तबका एक निश्चित आय के स्रोतों तक पहुँचने में कामयाब रहा। इसके बारे में राय देते हुए रामचन्द्र गुहा लिखते हैं कि 'हालांकि सही आकड़ा मिलना मुश्किल है लेकिन ऐसा अंदाजा लगाया जा सकता है कि आजादी के शुरूआती दो दशकों में सरकारी क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों के लिए दसियों लाख नौकरी के अवसर पैदा हुए। ये स्थायी नौकरियाँ थी जो सेवानिवृत्ति तक कायम रहने वाली थीं। इन नौकरियों में पेंशन और स्वास्थ्य सुविधाएँ भी शामिल थी।''[59] इस प्रकार आय के एक निश्चित स्त्रोत ने दलित समाज में एक ऐसा वर्ग तैयार किया जिसने राजनीति, साहित्य, कला आदि में अपनी भागीदारी प्रारम्भ की। 1960 के दशक में बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा गठित भारतीय रिपब्लिकन पार्टी का उभार उत्तर भारत में हुआ परन्तु नेताओं के आपसी वैचारिक मतभेद ने पार्टी को संकट में डाल दिया। सत्तर के दशक में रिपब्लिकन पार्टी का कांग्रेस के साथ गठजोड़ हुआ जिसके कारण उसने अपना जनाधार खो दिया ।

1973 ई. में सी.वी. भारती जी का उपन्यास 'क्रान्ति के पुजारी' प्रकाशित हुआ जो अब अप्राप्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 80 के दशक के पूर्व दलित उपन्यास लेखन इक्का–दुक्का ही था। 8वे दशक में दलित उपन्यास लेखन में क्रमशः वृद्धि होने लगी। इसी दशक में कुछ और दलित उपन्यास मिलते है– अमर–ज्योति (डी.पी.वरूण) दोहन (जयप्रकाश नवेन्दु) दूसरी ज़िंदगी (नवल वियोगी), करूणा (जयप्रकाश कर्दम) पहला खत (डॉ. धर्मवीर)। 8वें के पूर्व महाराष्ट्र में एक नयी जुझारू दलित चेतना (दलित पैंथर) का उभार हुआ जिसका प्रभाव वहाँ के साहित्य पर भी पड़ा। इस आन्दोलन की चेतना का प्रभाव निश्चित ही हिन्दी पट्टी के दलित समाज पर भी पड़ा। दशक की सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए कह सकते हैं कि उत्तर भार

का दलित समाज नये बदलाव से गुजर रहा था। मान्यवर कांशीराम ने 1978 ई. में दलित कर्मचारियों (सरकारी सेवा) को संगठित कर 'बामसेफ' का निर्माण किया। इस संगठन के गठन का उद्देश्य सरकारी दलित कर्मचारियों के साथ होने वाले भेदभाव तथा उत्पीड़न को रोकना था। उन्होंने 1982 ई. में डी.एस.–4 का गठन किया तथा 1984 ई. में दलितों की नई राजनीतिक पार्टी बसपा का गठन किया। उन्होंने अपने राजनीतिक अभियान का प्रारम्भ, कांग्रेस की आलोचना से किया। अभय कुमार दूबे लिखते है कि ''बसपा ने दलितों को यकीन दिला दिया कि कांग्रेस उनका वोट तो लेती है, लेकिन बदले में उन्हें संगठन और सत्ता में आनुपातिक नुमांइदगी नहीं देती। बसपा ने दावा किया कि केवल वहीं दलितों को सत्ता के नजदीक पहुँचा सकती है। उसने अपनी राजनीतिक गतिविधियों से साबित किया कि बसपा के जरिये किसी एक पार्टी को बहुमत न मिलने की सूरत में अपनी वास्तविक शक्ति से ज्यादा हिस्सेदारी की मांग कर सकता है।''[60]

बसपा के उभार तथा 80 के दशक से कांग्रेस की लगातार राजनीतिक परिदृश्यों से गिरावट ने दलित समाज में एक नई चेतना का निर्माण किया। बसपा द्वारा 'पिछड़ा वर्ग आयोग' की संस्तुतिओं को लागू करने के सवाल पर आन्दोलन किया गया। इस आन्दोलन ने पिछड़ों में राजनीतिक चेतना भरने का कार्य किया। बसपा की सफलता के पीछे बामसेफ जैसे सरकारी कर्मचारियों तथा अधिकारियों के संगठन की विशेष भूमिका थी। इस संगठन ने जिस तरह से अपनी सामाजिक–राजनीतिक भूमिका तय की उससे दलित समाज में यह संदेश जाने में सफल रहा कि इस नये दलित वर्ग के ऊपर समाज के विकास की धुरी रखी जा सकती है। इस प्रकार दलित उपन्यासों में एक ऐसी नायक की छवि उभरी जो पढ़–लिखकर संघर्ष करता है तथा दलित समाज को विकास के रास्ते पर अग्रसर करता है। छप्पर, मुक्तिपर्व इत्यादि उपन्यासों के नायक ऐसी ही नज़ीर पेश करते है।

90 के दशक में भारतीय समाज में ऐतिहासिक परिवर्तन आया। इसी दशक से भारत में उदारीकरण, निजीकरण तथा भूमंडलीकरण का प्रवेश प्रारम्भ हुआ जिसने ग्रामीण तथा शहरी दोनों समुदायों में संरचनात्मक परिवर्तन किये।

दूरसंचार क्रान्ति ने ग्रामीण जनता को शहरी समाज के करीब पहुँचा दिया। नौवें दशक के प्रारम्भिक पाँच सालों में भारतीय समाज की संरचना पर दो घटनाओं ने व्यापक प्रभाव डाला। पहली घटना मण्डल कमीशन का लागू होना जिससे सरकारी संस्थानों में अन्य पिछड़ा वर्ग का आरक्षण लागू हो गया। इस घटना ने आरक्षण के आधार पर दो वर्ग बनाये– एक तरफ आरक्षण समर्थक तथा दूसरी तरफ आरक्षण विरोधी। इसी घटना से दलित उपन्यासों में एक नयी विचारधारा दलितों–पिछड़ों की एकता ने प्रवेश किया। इस घटना के तुरंत बाद ही बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना ने भारतीय समाज को साम्प्रदायिकता की आग में धकेल दिया। हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विरोध में भी दलित साहित्यकारों ने लेखन किया। मोहन दास नैमिशराय ने 'जख्म हमारे' जैसे उपन्यास की रचना द्वारा साम्प्रदायिक तत्वों का शिनाख्त किया। आर्थिक उदारवाद ने प्राकृतिक संसाधनों की लूट को जन्म दिया। आर्थिक उदारवाद की कोख से जन्मी SEZ जैसी परियोजनाओं का प्रभाव अन्तिम रूप से किन समुदायों पर पड़ा इसकी शिनाख्त एस.के. पंजम अपने उपन्यास 'गदर जारी रहेगा', में करते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि दलित उपन्यासों ने उन तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं की शिनाख्त अपने उपन्यासों में की है जिनका प्रभाव दलित–शोषित जनता पर पड़ा। दलितों उपन्यासकारों ने वैश्वीकरण और बाजार के कारण वर्ण–जाति भेदभाव की सूक्ष्म होती संरचना को भी सृजनात्मक साहित्य में पकड़ने की कोशिश की है।

2. यथार्थ और सृजनात्मकता का अन्तर्सम्बन्ध

आमतौर पर ऐसी धारणा प्रचलित कर दी गयी है कि यथार्थ का मतलब समाज या जीवन में घटित घटनाओं (ज्यादातर स्याह घटनायें) को लेखक जैसा देखता है उनको वैसे ही अपने साहित्य में शब्दों के माध्यम से पिरो देता है। ऐसी धारणा से नुकसान यह होता है कि लेखक के विवेक, उसकी चेतना एवं उसके अंतःकरण को पर्दे के पीछे ठेल दिया जाता है। अब सवाल यह उठता है कि ऐसी धारणा क्यों बनायी गयी? अभी तक साहित्य में जिस

साहित्यिक समाज की इजारेदारी थी उसने दलित–शोषित समाज के दुखों, पीड़ाओं एवं समस्याओं को या तो चालाकी से काट छाँटकर प्रस्तुत किया या उसकी वैचारिक चेतना का कोण ही इनसे अलग था। इन दुखों, पीड़ाओं को दूर करने की जहमत, ऐसी जमात के रचनाकारों ने नहीं उठायी। चूंकि अधिकांश लेखक सुविधभोगी तथा समाज के उपरी तबके से आते थे या उनकी चेतना का कोण (दिशा) अलग था इसीलए भारतीय समाज के निम्न तबके की वेदना से उनकी स्वानुभूति नहीं हुई या यह भी हो सकता है कि उन्होंने अपने वर्गीय हित में समाज के इस ढांचे को बदलने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी।

मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा है कि ''यह नहीं कि आज का कथा साहित्य अयथार्थवादी है अथवा यथार्थ विरोधी है, बल्कि यह है कि लेखक यथार्थ के नाम पर अनुभूत यथार्थ (अपने जीवन के यथार्थ) से दूर निकलकर किसी और के यथार्थ से कहानियाँ और उपन्यास गढ़ना चाहता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि हमारे लेखक के पास प्रतिभा नहीं है, बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि उसमें मानवीय–अन्तरात्मा, मानवीय–विवेक की हलचल मचा देने वाली पीड़ा नहीं है, क्योंकि वह जरूरत से ज्यादा समझदार हो गया है, और समझदारी का यह तकाजा है कि जिस दुनियाँ में हम रहते हैं उससे हम समझौता करे।''[61] दरअसल मुक्तिबोध इन्हीं कुलीन साहित्यकारों की समझदारी को निशाना बना रहे थे। असलियत में इस वर्ग के अधिकांश साहित्यकार जिस सामाजिक यथार्थ को अपने साहित्य में प्रस्तुत कर रहे थे उसके दायरे का निर्धारण अपने खेमें के अनुसार उन्होंने पहले ही तय कर रखा था। इन्होंने दुनियाँ और समाज को देखने का नजरिया अपने खेमें के फायदे और घाटे के हिसाब से तय कर रखा था। वह यथार्थ का उतना ही हिस्सा प्रस्तुत करते थे जितने में पारम्परिक सामाजिक ढाँचे की बुनियाद को कोई चोट न पहुँचे तथा जिससे उनके अपने हित सुरक्षित रहे। जिस देश में प्रतिदिन दलित–शोषित जाति–सम्प्रदाय के लोगों के खिलाफ रोजाना अमानवीय शोषण की घटनाएँ प्रचलित हो, उसी देश का एक जागरुक

एवं संवेदनशील रचनाकार' 'सामाजिक समरसता' या 'गर्व से कहो हम भारतीय हैं' जैसी उक्ति में अपना विश्वास कैसे जता सकता है।

लेखक की चेतना पर अपने विचार रखते हुए मार्क्स कहता है कि ''भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को नहीं निर्धारित करती, बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।''[62] हालांकि मार्क्स का यह कथन वर्गीय अवधारणा पर आधारित है परन्तु यदि इससे अभिप्राय निकाला जाय तो हम समझ सकते हैं कि हिन्दी पट्टी में बहुसंख्यक रचनाकार उच्च वर्ण–जाति से सम्बन्धित थे। इसीलिए दिन–प्रतिदिन घटती हुई जातीय उत्पीड़न की घटनाओं ने उन्हें उद्वेलित नहीं किया या पारम्परिक समाज में जातीय शोषण की संरचना को उन्होंने अनुभूत नहीं किया। इसीलिए जब तक निम्न वर्ण जाति–समुदाय से कोई रचनाकार नहीं आया तब तक उनका भोग हुआ यथार्थ साहित्यिक परिदृश्य में दिखायी नहीं देता है। इन्हीं विचारों की तस्दीक करते हुए कंवल भारती कहते हैं कि ''दरअसल बात यह है कि प्रगतिशील धारा के ये सारे कवि समाज व्यवस्था में सम्मानित वर्ग के हैं। सामाजिक अपमान की पीड़ा का वह यथार्थ जिसे दलित जीता है, न उन्होंने देखा है और भोगा है। इसलिये, उनकी अनुभूतियाँ नितान्त वैयक्तिक है, जिसके कारण उनकी अभिव्यक्तियों में सारी खुराफातें है, पर वर्णव्यस्था की सामाजिक सच्चाइयाँ नहीं है। और जब वह यथार्थ ही नहीं है, तो नये समाज की परिकल्पना भी नहीं है।''[63]

हालांकि यथार्थवाद के इतिहास को यदि हम गौर से देखे तो भारत में यथार्थवादी दर्शन प्राचीन समय से ही दिखायी देता हैं। यह प्रारम्भ से ही आदर्शवादी दर्शन के विरुद्ध टक्कर लेता रहा है। यथार्थवाद के अनुसार बाह्य जगत यथार्थ है, वास्तविक है और हमारे ज्ञान से स्वतंत्र है। इसके विपरीत आदर्शवादी दर्शन इस बात पर जोर देता है कि बाह्य जगत मन से स्वतंत्र नहीं है, वह वास्तव में हमारे मन के अधीन होता है। यथार्थवादी दार्शनिक (आदिकालीन भौतिक वादी, बौद्ध) संसार को वास्तविक मानते थे, उन्होंने

दलित–शोषित जनता के दुखों, पीड़ाओं को समझा तथा इनका अन्त कैसे किया जाए इस पर यथार्थवादी नजरिए से चिन्तन–मनन किया। परन्तु आदर्शवादी दार्शनिकों ने 'ब्रह्मं सत्यं जगत मिथ्या' के सिद्धान्त को पकड़ लिया और उसी आधार पर गरीबी, दुख, वेदना को भावात्मक तरीकों से दूर करने की चालाकी बरती। चूंकि जब यह संसार ही मिथ्या है, तो मानव जीवन भी मिथ्या है, इसीलिए गरीबी, भूख, जहालत वास्तविक कैसे हो सकते हैं। उन्होंने इसे दूर करने के लिए भावात्मक अध्यात्म का सहारा लिया तथा वास्तविक जगत से परे स्वर्ग–नर्क, कर्म–फल, पुनर्जन्म आदि जैसी अमूर्त संरचनाओं के माध्यम से एक अमूर्त संसार की रचना की। आदर्शवादी दार्शनिकों ने इसी आधार पर दलित–शोषित जनता के दुखों को पुनर्जन्म का फल बतलाया और इसी जाल में फँसाकर बहुसंख्यक आबादी को जहालत की दुनिया में धकेल दिया।

पाश्चात्य जगत में भी आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का द्वंद्व हुआ है। 19वीं शताब्दी में सेंट साइमन, आगस्ट काम्टे, फायरबाख आदि ने अपने वैचारिक चिंतन के जरिए यथार्थवाद के विकास में भारी मदद की। यथार्थवादी चिंतन में फायरबाख के योगदान को देखते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते है कि ''फायरबाख की मान्यताओं ने जहाँ यथार्थवादी चिंतन को सशक्त आधारभूमि प्रदान की, वहीं नैतिकता धर्म, अध्यात्म तथा आदर्शों पर टिकी पूर्ववर्ती समस्त विचारधारा को पृष्ठभूमि में फेंक दिया।''[64] इसी अवधारणा के आधार पर कला, विज्ञान, साहित्य की विवेचना मार्क्सवादी नजरिए से हुई। मार्क्स ने मानव सम्बन्धों, सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक उत्पाद (कला, साहित्य संस्कृति आदि) की व्याख्या द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर की। उसका मानना था कि उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर उस युग के सामाजिक उत्पादों का निर्माण होता है। इसी आधार पर उसने साहित्य के विभिन्न युगों में लिखी गयी साहित्यिक कृतियों की विवेचना की जैसे होमर द्वारा लिखित महाकाव्य इलियड, ओडसी इत्यादि।

मार्क्स उत्पादन सम्बन्धों जिन्हें वह आधार कहता है तथा कला, साहित्य एवं संस्कृति जिन्हें वह अधिरचना कहता है, के बीच कार्य– कारण सम्बन्धों से

इन्कार करता है। उसका मानना था कि समाज की संरचनाओं की विकास प्रक्रिया अंतर्गुम्फित एवं जटिल होती है। इसी प्रकार आधार और अधिरचना के विकास की प्रक्रिया भी अंतर्गुम्फित एवं जटिल है। वह दोनों ही परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती है। एंगेल्स ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''राजनीतिक, वैधानिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक विकास आर्थिक विकास पर निर्भर करता है। किन्तु वे आपस में एक–दूसरे को और आर्थिक आधार को भी प्रभावित करते हैं। ऐसा नहीं है कि आर्थिक तत्व ही अकेला सक्रिय तत्व है और अन्य सबकुछ उसका निष्क्रिय परिणाम है, बल्कि आर्थिक आधार के साथ उनकी यह अन्तः क्रिया ही है जो अन्तिम विश्लेषण में हमेशा निर्णायक साबित होती है।''[65]

चूंकि समाज में अधिरचना के तत्वों के निर्माण में आर्थिक सम्बन्धों की गहरी भूमिका होती है इसीलिए समाज में आर्थिक तथा सामाजिक रूप से वर्चस्वशाली तबका अधिरचना के तत्वों (धर्म, दर्शन, कला एवं संस्कृति) का निर्माण चालाकी से अपनी इजारेदारी को मजबूत करने के लिए करता है। वह वर्चस्वशाली तबका इन अधिरचना के तत्वों का इस्तेमाल शोषण को स्वभाविक बनाने के लिए करता है। इस प्रकार धर्म, संस्कृति, साहित्य एवं कला के पारम्परिक स्वरूप का प्रयोग समाज के बड़े तबके (संख्या) के शोषण को जायज ठहराने के लिए होता है। प्लेखानोव का कथन है कि ''किसी युग की सामाजिक मानसिकता इस युग के सामाजिक सम्बन्धों द्वारा तय की जाती है।''[66] इस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन ने साहित्य तथा कला के क्षेत्र में वर्गवादी यथार्थवाद को स्थापित किया।

यथार्थवाद पर एक संक्षिप्त बहस के बाद हम भारतीय समाज में दलित यथार्थ का विश्लेषण करेंगे। भारतीय समाज में दलितों के शोषण और अपमान का अंधेरा युगों पुराना है। हालांकि ब्राह्मणवाद एवं पुरोहितवाद से दलित–बहुजनों के प्रतिरोध का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। ब्राह्मणवाद–पुरोहितवाद ने जब भी आदर्शवादी दर्शन की आड़ में शोषण का नया औजार बनाया उसके विरोध में दलित बहुजन सिद्धान्तकारों ने भी यथार्थवादी दर्शन

का विकास किया। दलित–बहुजन की यही यथार्थवादी परम्परा भौतिकवाद, बौद्ध दर्शन से विकसित होकर फुले, अम्बेडकर तक आती है।

बाबा साहब अम्बेडकर ने 1954 ई. में नागपुर में साहित्यकारों को भेजे गए अपने संदेश में कहा था कि ''उदात्त जीवन–मूल्य और सांस्कृतिक मूल्य का अपने साहित्यिक मूल्य द्वारा निर्माण करो और अपना उद्देश्य संकुचित–मर्यादित मत रखों, उसका विस्तार होने दो। अपनी कलम अपने ही प्रश्नों तक सीमित मत रखो। अपनी कलम इस तरह चलाओं कि उसके प्रकाश से देहातों का अंधेरा दूर हो। इस देश के वंचित और दलितों का बहुत बड़ा विश्व है, यह मत भूलना। उनका दुःख, उनकी वेदनाएँ ठीक तरह से समझ लो और अपने साहित्य द्वारा उनका जीवन उन्नत बनाने के लिए प्रयास करो, उसी में सच्ची मानवता है।''[67] बाबा साहब ने दलित साहित्यकारों से एक व्यापक यथार्थ की अपेक्षा की थी जो दलित समाज की व्यापक अनुभूति में समाहित हो। बाबा साहब अम्बेडकर के दलित आन्दोलन से प्रेरणा लेते हुए समाज के निम्न तबकों के लोगों ने साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से दलित समाज का व्यापक यथार्थ प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

जिस यथार्थ को दलित साहित्यकारों ने प्रस्तुत किया, वह अभी तक साहित्यिक परिदृश्य से गायब था। यथार्थवाद की बहस से हम समझ चुके है कि लेखक का यथार्थ, उस समाज के यथार्थ का ही एक हिस्सा है जिससे वह जुड़ा हुआ है। भारतीय समाज में ब्राह्मण का यथार्थ अलग होगा तो दलित का यथार्थ अलग, एक पूँजीपति का यथार्थ अलग होगा तो मजदूर का यथार्थ अलग, जमींदार का यथार्थ अलग होगा तो किसान का अलग। समाज में यथार्थ के इस अलगाव ने ही दलित साहित्य में स्वानुभूति तथा अनुभूति की प्रमाणिकता जैसी अवधारणाओं को एक नया अर्थ दिया। इससे पहले भी हिन्दी साहित्य में स्वानुभूति तथा अनुभूति की प्रमाणिकता का प्रयोग हुआ था परन्तु वह लेखकों तथा रचनाकारों के अपने 'निज' के दायरे में सिमट कर रहा गया था।

हिन्दी साहित्य में यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति हमें संत काव्य परम्परा में दिखायी देती है और जिसकी शुरुआत कबीर करते हैं। कबीर अपने चिन्तन में बेबाकी से घोषित करते हैं कि 'मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी'। दरअसल इस बेबाक घोषणा के पीछे कबीर का अपनी ईमानदारी का आत्मविश्वास था। कबीर या संत परम्परा के संतों ने तत्कालीन समाज में फैले हुए जातीय शोषण, अपमान, भूख एवं गरीबी का खुद अनुभव किया था। वे जानते थे कि उनका यह अनुभव एक बहुत बड़े समुदाय के अनुभव का ही हिस्सा है जिसको व्यक्त करने के लिए किसी शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, जिस चीज की जरुरत है वह है ईमानदारी। वहीं दूसरी तरफ सगुण काव्य परम्परा के भक्त भावलोक में जनता के दुखों का निवारण ढूंढ़ते रहे तथा पूजा–अर्चना में आनन्दित होकर भौतिक यथार्थ को दरकिनार कर दिया।

हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी तथा प्रगतिशील परम्परा के रचनाकारों में यथार्थ का एक अलग रूप दिखायी देता है। उन्होंने वर्ग के यथार्थ को तो प्रस्तुत किया परन्तु जातीय विषमता के यथार्थ से साफगोई से बच निकले। प्रेमचन्द्र, मुक्तिबोध तथा राहुल सांकृत्यायन जैसे रचनाकारों ने दलित यथार्थ को स्पर्श किया परन्तु बहुधा मार्क्सवादी तथा प्रगतिशील रचनाकारों ने दलित यथार्थ को वर्गीय यथार्थ के ढांचे में ही फिट करने की कोशिश की है। दलित चिंतक कंवल भारती का कहना हैं कि ''इन प्रगतिवादियों ने जाति से ज्यादा वर्ग को इसलिए महत्व दिया क्योंकि आसानी से द्विजों में भी आर्थिक आधार को ढूंढकर उन्हें दलितों के समकक्ष रख सकते है। इसमें उनकी चालाकी यह है कि द्विज और दलित के बीच जाति आधारित सामाजिक संघर्ष को वे नजर अंदाज करना चाहते हैं। इसीलिए, उन्होंने दलित समस्या को भी आर्थिक समस्या माना। यदि वे दलित समस्या को सामाजिक मानते, तो उन्हें समाज के कठोर यथार्थ से गुजरना पड़ता।''[68]

यथार्थ सम्बन्धी इतनी व्यापक बहस के बाद हम दलित रचनाओं में दलित समाज के यथार्थ किस रूप में आये है, उसकी विवेचना करेंगे। चूंकि यह शोध–प्रबंध दलित उपन्यासों पर केन्द्रित है इसलिए उसमें आये हुए दलित

समाज के यथार्थ का, लेखकों की सृजन–प्रक्रिया के साथ क्या अंतर्सम्बन्ध है, उसी की विवेचना होगी। प्रारम्भ में दलित साहित्य में जातिगत शोषण व अपमान के विरुद्ध कविताओं एवं कहानियों का लेखन प्रारम्भ हुआ परन्तु दलित आत्मकथाओं के प्रकाशन के साथ ही दलित साहित्य ने अपनी अलग पहचान बनायी। चूंकि दलितों की इस पीढ़ी के पास मुख्यधारा का वो कलात्मक अनुभव नहीं था तथा उनका दर्द, उनकी अपनी जातिगत विषमता की पीड़ा इतनी प्रत्यक्ष थी कि उनका अपना निजी अनुभव साहित्य के बने बनाये खांचे में नहीं समा सका। इसीलिए साहित्य के स्तर पर दलित रचनाकारों ने कई बदलाव स्थापित किये। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ या तो आत्मकथात्मक रहीं या उन्होंने आत्मकथाओं का ही लेखन किया।

दलित उपन्यास परम्परा का प्रारम्भ 1954 ई. है परन्तु 90 के दशक के बाद से दलित उपन्यास लेखन नियमित रूप में दिखायी देता है। हालांकि प्रारम्भिक दलित उपन्यास रूप व शिल्प के स्तर पर सीधे–सरल हैं। उन्होंने अपने सामाजिक यथार्थ को प्रत्यक्ष रूप में उपन्यासों में प्रस्तुत किया। मैनेजर पाण्डेय कहते है कि ''यह सच है कि दूसरे कलारूपों और साहित्य रूपों की तुलना में उपन्यास का स्वरूप समाज पर अधिक निर्भर होता है और उसका विकास समाज के इतिहास के साथ होता है। लेकिन यह भी सच है कि वह एक कला है, केवल सामाजिक दस्तावेज नहीं, इसलिए सामाजिक यथार्थ, जीवन के अनुभव और इतिहास की गति रचनाकार की सृजनशीलता पुर्नरचित होकर ही उपन्यास में आते है।''[69] दरअसल बाबा साहब अम्बेडकर के दलित आन्दोलन के फलस्वरूप तत्कालीन दलित समाज में हलचल शुरू हो गयी थी परन्तु तत्कालीन दलित समाज में साहित्यिक विधाओं में कुशल लोगों की कमी थी। हिन्दी प्रदेशों में बसपा के उदय के साथ एक नयी वैचारिक चेतना का प्रसार हुआ। दलित चेतना का यह फैलाव सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक मोर्चे पर एक साथ हुआ और दलित चेतना के इस फैलाव ने समाज में जातिगत शोषण और अपमान के प्रतिकार में एक संगठित आन्दोलन को जन्म दिया। चूंकि दलित उपन्यास दलित आन्दोलन का ही हिस्सा थे

इसीलिए उसमें आये सामाजिक यथार्थ के स्वरूप भी साहित्यिक अर्थों में कच्चे एवं सीधे–सादे है। शायद इसीलिए दलित चिंतक कंवल भारती दलित रचनाकारों को ताकीद करते है कि ''यदि कहानी व कविता लेखन इतनी भावुकता में किया जायेगा, तो उसका यथार्थ भी कल्पित और अस्वाभाविक लगने लगेगा। दलित लेखकों को इस भावुकता से बचना होगा, क्योंकि इसी भावुकता में लेखन अतियथार्थवाद का शिकार होता है।'' इसके आगे वे कहते है कि ''दूसरी स्थिति मिशनरी लेखन की है जो दलित साहित्य के लिए सबसे ज्यादा घातक है। ऐसा लेखन न सिर्फ अरुचि पैदा करेगा, बल्कि कोई प्रभाव भी नहीं छोड़ पायेगा। मिशनरी लेखन प्रायः आदर्शवादी होता है उसका सारा ताना–बाना कल्पित और अस्वाभाविक होता है। उसके केन्द्र में यथार्थवाद कतई नहीं होता है।''[70] कंवल भारती ने मूलतः दलित साहित्यकारों को सलाह दी है कि जीवन या समाज के यथार्थ को रचनाकर्म में प्रयोग करने से पहले उनकी विवेकशील होकर जाँच कर लेनी चाहिए कि क्या जिस यथार्थ को वह प्रस्तुत कर रहा है या जिस अनुभव को वह व्यक्त कर रहा है वह उसके 'निज' के दायरे से विस्तृत होकर पूरे दलित समाज के ग्राह्य यथार्थ में तब्दील हो रहा है। कहीं वह राजनीतिक नारेबाजी का ही शिकार न हो जाय।

''मार्क्स तथा एंगेल्स ने कलाकारों से यह तकाजा किया कि वे सच्चाई के चित्रण–वर्णन करे, वर्णित घटनाओं के प्रति ठोस ऐतिहासिक दृष्टि अपनाये और ऐसे सजीव तथा व्यक्तिगत गुणों से युक्त पात्रों को प्रस्तुत करे जो इनके (पात्रों के) वर्ग परिवेश के चरित्र तथा मनः स्थिति के लाक्षणिक पहलू प्रतिबिम्बित करते हों। सही मायने में यथार्थवादी कृतियों का रचनाकार पाठक के पास अपने विचार पाण्डित्यपूर्ण दर्शन झाड़कर नहीं, वरन उन विविधतापूर्ण बिम्बों के जरिए पहुँचता है, जो अपनी कलात्मक अभिव्यंजनाओं से पाठक की चेतना और अनुभूतियों को प्रभावित करते हैं।''[71] इस उद्धरण से यदि हम दलित उपन्यासों में उपस्थित पात्रों का विश्लेषण करते तो उपन्यास में आये पात्र अपने वर्ग चरित्र या कहे वर्ण चरित्र का प्रतिनिधित्व तो करते है परन्तु उनके वैयक्तिक भाव या मनः स्थिति के पहलू बहुत ही अल्प मात्रा में प्रस्तुत होते हैं। उनकी समस्याएँ पूरे दलित समाज की समस्याओं का प्रतिनिधित्व तो

करती है परन्तु उनकी वैयक्तिक अंतः समस्याओं का विकसित रूप दिखायी नहीं देता है।

साहित्य में आये यथार्थ के स्वरूप पर जार्ज लूकाच लिखते हैं कि ''सवाल यह नहीं कि क्या क यथार्थ में उपस्थित है। सवाल यह है कि क्या 'क' ही सम्पूर्ण यथार्थ का प्रतिनिधित्व करता है। सवाल यह भी नहीं है कि क्या 'क' साहित्य से वहिष्कृत कर दिया जाए? बल्कि यह है कि क्या हम सब कुछ 'क' पर छोड़कर निश्चिंत हो जाए।''[72] हालांकि यह सवाल हिन्दी के मुख्यधारा के उपन्यासों से भी होना चाहिए जो यथार्थवादी कहे जाते हैं परन्तु उनमें दलित समाज का यथार्थ एक–सिरे से गायब है। अब यदि हम भारतीय समाज के जातीय विषमता के यथार्थ को देखे तो दलित उपन्यासकारों ने उसके शोषणकारी स्वरूप के सवाल को अपने रचनात्मक लेखन में जोरदार तरीके से उठाया है परन्तु जब हम दलित वर्ग की जातियों के आपसी विभेद को देखे तो वह नजरन्दाज हो गया है। उपन्यासों के दलित पात्र चाहे जिस जाति से आते हो, अपने–आपको दलित कहते है जो कि यथार्थ से कटा हुआ प्रतीत होता है। दलित समाज के यथार्थ जीवन में लोग अपने आपको अपनी जाति से ही जोड़कर देखते है– चमार खुद को दलित न कहकर चमार कहता है इसी प्रकार पासी अपने को पासी ही कहलाना पसंद करता है। हालांकि दलित समाज में जाति–उपजाति विभेद पर उपन्यास 'उधर के लोग' में एक सार्थक बहस दिखायी देती है। इससे हम उम्मीद कर सकते हैं कि भविष्य के दलित उपन्यासों में इस समस्या पर बहस होगी और इन बहसों से दलित आन्दोलन और अधिक मजबूत होकर उभरेगा।

दलित उपन्यासों के नायकों के चरित्र–चित्रण पर डॉ. नागराज का एक कथन बरबस याद आता है। वे 'आत्मशुद्धि बनाम आत्मसम्मान' नामक लेख के प्रारम्भ में कहते हैं कि ''आलेख को शुरु करने के लिए बाबा साहब अम्बेडकर का आलोचनात्मक आह्वान सबसे अच्छा तरीका होगा। आखिरकार, तथागत की बौद्ध प्रणाली की उत्कृष्टता अपने शिक्षक की समीक्षा में ही तो निहित होती है। दलित आन्दोलन अपने वजूद के लिए बाबा साहब का कई तरह से ऋणी है लेकिन उन्हीं के पितृत्व की वजह से वह संकट का भी सामना कर रहा

है।''[73] हालांकि यह कथन डॉ. नागराज ने दलित वैचारिकी के लिए कहा है परन्तु जब दलित उपन्यासों के नायकों को देखता हूँ तो बरबस बाबा साहब का जीवन चरित्र याद आता है। दलित उपन्यासकारों ने दलित नायकों को बाबा साहब अम्बेडकर की प्रति छाया के रूप में खड़ा कर दिया है।

बाबा साहब का सम्पूर्ण जीवन दलित समाज के हक़ो–हुकूक की लड़ाई के लिए समर्पित रहा है और इसीलिए दलित उपन्यासकारों ने उनके जीवन संघर्ष से प्रेरणा भी ली है परन्तु हर दलित युवा पढ़–लिखकर समाज कल्याण के लिए ही प्रेरित नहीं होता वरन् उसकी अपनी निजी महत्वाकांक्षाएँ भी होती है। दलित उपन्यासों के नायक वैचारिक रूप से इतने सुदृढ़ हो जाते हैं कि वह मानव चरित्र से उपर उठे हुए प्रतीत होते हैं। वे अपने चारित्रिक विकास में भूल या गलती भी नहीं करते, जिससे उनका चरित्र गढ़ा हुआ प्रतीत होता है। उपन्यास लेखन की इस समस्या को स्पष्ट करते हुए राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि ''हर मनुष्य के दो इतिहास होते है। जाति–पात्र टाइप के रूप में उस व्यक्ति का सामाजिक इतिहास होता और एक व्यक्ति के रूप में उसका अपना व्यक्तिगत इतिहास होता है। इन दोनों ही इतिहासों में परस्पर चाहे कितना ही द्वन्द्व और संघर्ष क्यों न दिखायी दे असल में यह अविच्छिन्न ही है। यह सही है कि व्यक्तिगत इतिहास अन्ततः सामाजिक इतिहास ही द्वारा निर्धारित होता है किन्तु इसका मतलब यह कभी नहीं है और न होना चाहिए कि कला में व्यक्तिगत के उपर सामाजिक जातीयता ही हावी हो जाय।''[74] परन्तु दलित उपन्यासों के नायकों के चरित्र के विकास में यह समस्या दिखायी देती है, उनके व्यक्तिगत् पर सामाजिकता हावी है। हालांकि बाद के कुछ दलित उपन्यासों में दलित लेखक इस समस्या से निजात पाते हुए दिखते हैं।

रुसी आलोचक मिखाइल बाख्तिन ने लिखा है कि ''उसमें दृष्टियों एवं स्वरों की अनेकता होती है, दृष्टियों एवं स्वरों की अनेकता से उपन्यास की संरचना में लोकतंत्र आता है। उपन्यास में केवल रचनाकार की दृष्टि और स्वर की निर्णायक भूमिका नहीं होती।''[75] बाबा साहब अम्बेडकर ने समाज के जातीय ढाँचे को तोड़ने का यंत्र सामूहिक खान–पान एवं अन्तर्जातीय विवाह

को माना था। यह बाबा साहब अम्बेडकर के जाति मुक्त भारत के भविष्य की संकल्पना थी। हिन्दी दलित उपन्यासकारों में भी भविष्य के समाज को लेकर जो संकल्पना दिखायी देती है वह भी अंर्तजातीय विवाह द्वारा ही जाति मुक्त भारत है। उनके मस्तिष्क में अर्न्तजातीय विवाह को लेकर कोई संशय नहीं दिखायी देता है। उन्होंने उपन्यासों की नायिका के रूप में सवर्ण समाज की स्त्री या युवती का चुनाव किया है। उपन्यास की नायिका की वैचारिकता पहले से ही आधुनिक भाव–बोध से युक्त है। वह वर्ण–जाति तथा धर्म के सवाल पर बिल्कुल संशय में नहीं होती तथा उसको शोषण के अस्त्र के रूप में देखती है। क्या यह सचमुच भारतीय समाज का यथार्थ है? यथार्थ में यदि देखा जाय तो दलित समाज के जातीय शोषण के मसले पर सवर्ण समाज की स्त्रियों की भागीदारी भी पर्याप्त रूप में होती है। आधुनिकता से विकास करते हुए उत्तर आधुनिक में तब्दील भारतीय समाज का यथार्थ यह हैं कि लोग लगातार अपनी जाति के दायरों में सिमट रहे हैं। हाँ, यह हो सकता है कि कहीं पर वर्ण–जाति की संरचना दिखायी देती है तो कहीं पर वह अदृश्य होती है। तो ऐसे में दलित उपन्यासकारों का भविष्य को लेकर प्रस्तुत यथार्थ फार्मूलाबद्ध सा प्रतीत होता है।

दलित उपन्यासों में आया सवर्ण समाज का यथार्थ यांत्रिक प्रतीत होता है। दलित उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में सर्वण समाज का जो यथार्थ प्रस्तुत किया है वह स्थिर यथार्थ दृष्टि का परिचायक लगता है। मार्क्स और एंगेल्स ने कलाकारों एवं रचनाकारों को आगाह करते हुए लिखा था कि ''सामाजिक जीवन तथा विशेष वर्गों की विचारधारा कला में यांत्रिक ढंग से कदापि प्रतिबिम्बित नहीं होते। कलात्मक सृजनशीलता सामाजिक विकास के आम नियमों के मातहत होती है, लेकिन चेतना का विशेष रूप होने के नाते उसकी अपनी विशिष्टताएँ तथा विशेष नियम संगतियाँ होती है।''[76] पूँजीवाद तथा बाजार के विकास ने भारतीय समाज को प्रभावित किया है। ब्राह्मणवाद तथा सामन्तवाद ने भी समय के साथ बाजार से तालमेल करके अपने को नयें रूपों में परिवर्तित किया है। दलित उपन्यासकारों ने सवर्ण समाज के चरित्रों

को पुरानी यथार्थ दृष्टि से प्रस्तुत किया है जिसके कारण यथार्थ के गीतशील स्वरूप को पकड़ने से वे चूक गये हैं।

मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''यथार्थ के तत्व परस्पर गुंफित होते है, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील है और उसके तत्व भी परस्पर गुंफित है, यहीं कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती है वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती है।''[77] हालांकि मुक्तिबोध का यह कथन उनकी अपनी लम्बी कविताओं को लेकर है परन्तु इससे एक बात निकलकर आती है कि यथार्थ का स्वरूप गतिशील होता है। दलित उपन्यासों में आये ग्रामीण समाज तथा गाँव का यथार्थ स्थिर रचना दृष्टि का परिणाम प्रतीत होता है। दलित आत्मकथाओं में 60–70 के दशक के आये गाँव के स्वरूप में तथा 1990 ई. के बाद के उपन्यासों में आये गाँव के स्वरूप में कोई अन्तर नजर नहीं आता है। दोनों समय का यथार्थ एकसार नहीं हो सकता। आर्थिक उदारीकारण के बाद गाँवों के सामाजिक स्वरूप में परिवर्तन हुआ है, उसके साथ ही शोषण के रूप में भी परिवर्तन हुआ है। अभी तक ज्यादातर दलित उपन्यासों में दलितों के शोषण के कारकों में हुए परिवर्तन दिखायी नहीं देते हैं।

तुलनात्मक रूप से भारतीय दलित समाज स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के मसले पर उदार रहा है। चूंकि घर की आर्थिक–व्यवस्था में स्त्री–पुरुष दोनों की भूमिका लगभग बराबर ही होती है। दोनों ही घर चलाने के लिए खेतों में काम करते हैं या मजदूरी करते हैं इसीलिए सवर्ण समाज की स्त्रियों की तुलना में दलित समाज की स्त्री को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। पति की धौंस के प्रतिकार में दलित स्त्री भी जवाब दे देती है। दलित उपन्यासों में जो स्त्री–पुरुष दिखायी देते है उसमें स्त्री की भूमिका पुरुषों के पूरक के रूप में ही दिखायी देती है। हालांकि दलित उपन्यास लेखन में महिला लेखन एक–दो (मिस रमिया–कावेरी, तुम्हें बदलना होगा–सुशीला टाकभौरे) ही हुआ है अतः उस तरफ से शायद स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को देखने की आगे एक नयी पहल हो। मैनेजर पाण्डेय अपनी पुस्तक 'उपन्यास और लोकतंत्र' में लिखते हैं कि

''किसी व्यक्ति की विचारधारा केवल उसके कथनों और घोषणाओं के आधार पर नहीं जानी जा सकती। विचारधारा तो व्यक्ति के सामाजिक जीवन के क्रिया–व्यापार में व्यक्त होती है और उसी के सहारे जानी जा सकती है। रचनाकार की विचारधारा उसके रचनाकर्म में व्यक्त होती है और उसी के आधार पर उसे समझा जा सकता है। केवल उसके कथनों के आधार पर नहीं। रचना कर्म का प्रमाण रचना ही है।''[78] मैनेजर पाण्डेय की इस विवेचना से हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते है। दलित समाज जातीय शोषण से उत्पीड़ित रहा है वहीं दलित स्त्रियाँ जाति के साथ लैंगिक शोषण से भी उत्पीड़ित रही है। इसीलए दलित साहित्य स्त्री–उत्पीड़न के खिलाफ उठने वाली हर आवाज का हिमायती है। परन्तु दलित उपन्यासकारों की रचनाओं में दलित स्त्री के चरित्र का विकास स्वतंत्र रूप में नहीं दिखायी देता है। दलित उपन्यासों की स्त्री–पात्र एक विशेष संरक्षण में दिखायी देती है जहाँ पुरुष उन की संरक्षक की भूमिका में होता है। इसी प्रकार देश में नयीं सामाजिक–आर्थिक नीतियों के कारण दलितों में उभर रहे मध्य–वर्ग में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों में क्या कोई बदलाव हुआ है, इस यथार्थ को भी दलित उपन्यासकारों द्वारा प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। दलित स्त्रियाँ भी समाज में बदलाव के लिए लड़ाई लड़ रही है, उसे भी उपन्यासों में प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

बाबा साहब अम्बेडकर ने गाँव को जाति–व्यवस्था के गढ़ के रूप में माना था। उनका विश्वास था कि आधुनिक शहरों के विकास से शायद जातीय शोषण में कमी आये। लेकिन आधुनिक शहरों में भी कोई विशेष तब्दीली नहीं आयी। दलित उपन्यासकारों ने उत्तर आधुनिक होते शहरों में शोषण और अपमान के यथार्थ को बड़ी बारीकी से पकड़ा है। शहरों में आधुनिक संस्थाओं में फैले जातिवाद के जहर का यथार्थ लगभग सभी दलित उपन्यासों में उपस्थित है। शहरों के इसी यथार्थ की तस्दीक करते हुए अभय कुमार दूबे टिप्पणी करते है कि ''मराठी, कन्नड़, हिन्दी, गुजराती और तेलगू की दलित साहित्य की धाराओं ने बताया कि नयें शहर की तलाश में आया हुआ दलित नायक नागरिकता के आवरण में भी अपनी नीची जाति छुपाने में नाकाम है।

जो केंचुल उसने अछूत बाड़े में छोड दी थी वह अभी भी उसके अंग के साथ चिपटी हुई है।''[79] इस प्रकार शहर के इस जातीय भेदभाव के यथार्थ का दलित उपन्यासों में सार्थक प्रयोग हुआ है। दलित उपन्यासों में आये शहरी दलित समाज के ज्यादातर लोग हाशिए की ही जिंदगी जी रहे हैं।

दलित उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में दलितों की बेरोजगारी, भूमिहीनता तथा गाँव के सवर्ण समाज पर उनकी आर्थिक निर्भरता के कारण उनके भयावह शोषण के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। समाज में हो रहे परिवर्तनों से दलित समाज तथा गैर दलित समाज दोनों प्रभावित हुए है जिससे दोनों ही समाजों के यथार्थ में तब्दीलियाँ आयी हैं। ग्रामीण समाज में भी घटते हुए आर्थिक संसाधनों ने नयी परिस्थितियाँ पैदा की है।

दलितों का आर्थिक अवसरों की तलाश में शहरों की तरफ पलायन लगातार बढ़ा है। दलित उपन्यासों में उस शहरी दलित मजदूर के यथार्थ को भी दिखाने की आवश्यकता है। उस दलित मजदूर के परिवार पर इसका क्या असर पड़ रहा है, इसको भी उपन्यासों में जगह मिलनी चाहिए। दलित समाज में अवसरवादी राजनीति ने एक नया स्वार्थी तबका विकसित किया है। दलित समाज के इस नये यथार्थ को भी प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता है। दलितों में आरक्षण के कारण मिलने वाले अवसरों को लेकर तनाव उत्पन्न हुआ है। इसी के साथ ही ग्रामीण दलित एवं शहरी दलित में संसाधनों को लेकर फर्क बढ़ा है। दलित उपन्यासों में यथार्थ के इन सारे रूपों को प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता है।

दलित उपन्यासों का पड़ाव अभी शुरुआती दौर में है, समय के साथ शोषण के प्रतिरोध में सृजनात्मकता के नयें बिन्दुओं की शिनाख्त होगी तथा दलित उपन्यासकार दलितों के जीवन के बदलते हुए यथार्थ को और अधिक कुशलता से उपन्यासों में प्रस्तुत करेंगे।

संदर्भ

[1] सेठ कैलाश चन्द्र (सं.), डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड 10, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली सातवाँ संस्करण– 2013, पृष्ठ 20

[2] कुमार अजय, दलित पैंथर आन्दोलन, गौतम बुक सेन्टर, नई दिल्ली, संस्करण– 2015, पृष्ठ 86

[3] भारती कंवल, दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (यू.पी) सं. 2006, पृष्ठ 39

[4] भारद्वाज डॉ. शशि, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय, भाग–8, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली सं. 2013, पृष्ठ 31

[5] दामोदरन के., भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली सं. 2009, पृष्ठ 77

[6] वही, पृष्ठ 90

[7] चट्टोपध्याय देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन–सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 2010, पृष्ठ 184

[8] प्रा. स्त्रोत– डी भट्टाचार्य हिस्ट्री ऑफ फिलासफी,, पृष्ठ 93
द्वि स्त्रोत– दामोदरन के., भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली सं. 2009, पृष्ठ 90

[9] वहीं, पृष्ठ 99

[10] वहीं, पृष्ठ 112

[11] सांकृत्यायन राहुल, दर्शन–दिग्दर्शन, किताब महल डिस्ट्रीव्यूटर्स, नई दिल्ली प्र.सं. 2007, पृष्ठ 375

[12] दामोदरन के., भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली सं. 2009, पृष्ठ 123

[13] सेठ कैलाश चन्द्र, नैमिशराय मोहनदास, डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय– खण्ड 7, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली सातवां सं. 2013, पृष्ठ 30

[14] अम्बेडकर डॉ. भीमराव रामजी, भगवान बुद्ध और उनका धर्म, अनु. डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन बुद्धवर्ष– 2547–1996, पृष्ठ 76

[15] दामोदरन के., भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली सं. 2009, पृष्ठ 127

[16] सेठ कैलाश चन्द्र, नैमिशराय मोहनदास. डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय भाग–7, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सातवां सं. 2013, पृष्ठ 95,

[17] सांकृत्यायन राहुल, दर्शन–दिग्दर्शन, किताब महल डिस्ट्रीव्यूटर्स, नई दिल्ली सं. 2007, पृष्ठ 491

[18] भारती कंवल, दलित साहित्य की अवधरणा,, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (यू.पी) सं. 2006, पृष्ठ 40

[19] प्रा. स्त्रोत हिन्दी साहित्य की भूमिका 1979, पृष्ठ 41
द्वि.स्त्रोतः पृ. लोक साहित्य की दूसरी धाराः चौथीराम यादव, अनामिका पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 56

[20] सिंह राजेन्द्र प्रसाद, हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्र.सं. 2009, पृष्ठ 27

[21] सिंह गोपेश्वर (सं.), मध्य युगीन भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, सं. 2009, पृष्ठ 113

[22] सिंह राजेन्द्र प्रसाद, हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली प्रं सं. 2009, पृष्ठ 59

[23] सिंह गोपेश्वर (सं.), मध्य युगीन भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, सं. 2009 पृष्ठ 41

[24] भारती कंवल, दलित साहित्य की अवधरणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (यू.पी) सं. 2006, पृष्ठ 43

[25] नरके हरि (सं.), महात्मा फुलेः साहित्य और विचार, महात्मा फुले चरित्र साधने प्रकाशन समिति, मुम्बई, प्र. सं. 1993, पृष्ठ 74,

[26] विमलकीर्ति एल.जी.मेश्राम, महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली भाग–1, राधाकृष्ण पब्लिकेशन, नई दिल्ली, सं. 2009, पृष्ठ 147,

[27] नरके हरि (सं.), महात्मा फुलेः साहित्य और विचार, महात्मा फुले चरित्र साधने प्रकाशन समिति मुम्बई, प्र.सं. 1993, पृष्ठ 203

[28] ग्राम्शी अंतोनियो, सांस्कृतिक और राजनीतिक चिन्तन के बुनियादी सरोकार, अनु. कृष्णकान्त मिश्र, ग्रंथशिल्पी इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, सं. 2002, पृष्ठ 7

[29] भारती कंवल (सं.), स्वामी अछूतानन्द हरिहर संचयिता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ 20

[30] वही, पृष्ठ 143

[31] बेचैन श्यौराज सिंह (संकलन एवं अनुवाद), मूकनायक, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, पृष्ठ 24

[32] सेठ कैलाश चन्द्र (सं.), डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय–6, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली सातवां सं 2013, पृष्ठ 90

[33] भारद्वाज डॉ. शशि (सं.), बाबा साहब अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय–10, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली सातवां सं 2013, पृष्ठ 328

[34] वही, पृष्ठ 150

[35] भारद्वाज डॉ. शशि (सं.), डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय–2, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ल्ली सातवां सं. 2013, पृष्ठ 198

[36] वहीं, पृष्ठ 193

[37] देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, अनु. प्रयागदत्त त्रिपाठी, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली सं. 1946, पृष्ठ 104

[38] वही, पृष्ठ 201

[39] सरकार सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2010, पृष्ठ 35

[40] दीपक कुमार, चौबे देवेन्द्र (सं.) हाशिये का वृत्तांत, आधार प्रकाश प्रा.लि., हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृष्ठ 196

[41] प्रा. स्त्रोत सुसास लेजन, रिपोर्ट आन विदेशिया माइग्रेशन 2003 KIT नीदरलैण्ड
द्वि. स्त्रोत, दीपक कुमार, चौबे देवेन्द्र (सं.) हाशिये का वृत्तांत, आधार प्रकाश प्रा.लि., हरियाणा, प्र.सं. 2011, पृष्ठ 146,

[42] देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, अनु. प्रयागदत्त त्रिपाठी, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली सं. 1946, पृष्ठ 215

[43] भारती कंवल, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन इलाहाबाद, सं. 2004, पृष्ठ 47

[44] ओमवेट गेल, दलित और प्रजातांत्रिक क्रान्ति, अनु. नरेश भार्गव, रावत पब्लिकेशन्स जयपुर, 2009, पृष्ठ 86

[45] देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, अनु. प्रयागदत्त त्रिपाठी, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली सं. 1946, पृष्ठ 232

[46] ओमवेट गेल, दलित और प्रजातांत्रिक क्रान्ति, अनु. नरेग भार्गव, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2009, पृष्ठ 86

[47] भारती कंवल, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन इलाहाबाद, सं. 2004, पृष्ठ 44

[48] ओमवेट गेल, दलित और प्रजातांत्रिक क्रान्ति, अनु. नरेग भार्गव, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2009, पृष्ठ 85

[49] नरके हरि (सं.), महात्मा फुलेः साहित्य और विचार, महात्मा फुले चरित्र साधने– प्रकाशन समिति, सं. 1993, पृष्ठ 105

[50] वही, पृष्ठ 111

[51] बेचैन श्योराज सिंह (सं.) मूकनायक, डॉ भीमराव अम्बेडकर, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, पृष्ठ 100

[52] कसबे रावसाहब (सं.), आंबेडकर और मार्क्स, संवाद प्रकाशन, मेरठ (यू.पी) सं. 2009, पृष्ठ 131

[53] भारती कंवल, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2007, पृष्ठ 112

[54] सिंह राजपाल (सं.), स्वामी अछूतानन्द हरिहर (व्यक्तित्व एवं कृतित्व), डॉ. राजपाल सिंह, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली प्र. आ. 2009, पृष्ठ 19

[55] कुमार दीपक, चौबे देवेन्द्र (सं.), हाशिये का वृत्तांत सं., आधार प्रकाशन प्रा.लि., हरियाणा प्र. सं. 2011, पृष्ठ 211

[56] वही, पृष्ठ 220

[57] सेन देवीदयाल, मानव की परख, आत्माराम एंड सन्स पब्लि, दिल्ली, 1954, पृष्ठ 4

[58] गुहा रामचन्द्र भारतः गाँधी के बाद, अनु. सुशांत झा, पेंगुइन बुक्स सं. 2014, पृष्ठ 467

[59] वही , पृष्ठ 467

[60] दुबे अभय कुमार (सं.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पहली आवृत्ति 2007, पृष्ठ 270

[61] मुक्तिबोध गजानन माधव, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2011, पृष्ठ 34

[62] मार्क्स– एंगेल्स, साहित्य और कला, (सं.) बी. क्रिलोव, राहुल फाउण्डेशन लखनऊ, प्र.सं. 2006, पृष्ठ 45

[63] भारती कंवल, दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (यू.पी.) प्र.सं. 2006, पृष्ठ 75

[64] मार्क्स– एंगेल्स–कम्यूनिस्ट पाटी का घोषणा पत्र प्रगति प्रकाशन मस्को पृष्ठ 35–36
द्वि. स्त्रोत– मौर्य सर्वेश कुमार, यथार्थवाद और हिन्दी दलित साहित्य, यथार्थवाद और दलित साहित्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृष्ठ 19

[65] मार्क्स– एंगेल्स, साहित्य और कला, (सं.) बी. क्रिलोव, राहुल फाउण्डेशन लखनऊ प्र. सं. 2006, पृष्ठ 446

[66] ईगल्टन टेरी, मार्क्सवाद एवं साहित्यलोचन, अनु. वैभव सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, सं. 2006, पृष्ठ 26

[67] सिंह तेज, अंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा, लोकमित्र प्रकाशन शहादरा, दिल्ली दू. आ. 2012, पृष्ठ 80

[68] भारती कंवल, दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन,रामपुर (यू.पी.) प्र.सं. 2006, पृष्ठ 74

[69] पाण्डेय मैनेजर, उपन्यास और लोकतंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 42

[70] भारती कंवल, दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (यू.पी) प्र.सं. 2006, पृष्ठ 79

[71] मार्क्स–एंगेल्स, साहित्य और कला, (सं.) बी. क्रिलोव, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, प्रं.सं. 2006, पृष्ठ 31

[72] लूकाच जार्ज, समकालीन यथार्थवाद, अनु. कर्ण सिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली सं. 2006, पृष्ठ 72

[73] दुबे अभय कुमार, आधुनिकता के आइने में दलित, सं, वाणी प्रकाश, दिल्ली सं. 2007, पृष्ठ 57

[74] यादव राजेन्द्र, उपन्यास स्वरूप एवं संवेदना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आ.सं. 2015, पृष्ठ 162

[75] पाण्डेय मैनेजर, उपन्यास और लोकतंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2013, पृष्ठ 15

[76] मार्क्स–एंगेल्स, साहित्य और कला, सं. बी. क्रिलोव, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ प्र. सं. 2006, पृष्ठ 27

[77] मुक्तिबोध गजानन माधव, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ सं. 2011, नई दिल्ली, पृष्ठ 30

[78] पाण्डेय मैनेजर, उपन्यास और लोकतंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 50

[79] दुबे अभय कुमार (सं.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2007, पृष्ठ 115

द्वितीय अध्याय

हिन्दी दलित उपन्यास लेखन का विकास : कथावस्तु का बदलता स्वरूप

हिन्दी दलित उपन्यास लेखन मुख्यतः 90 के दशक से प्रारम्भ होता है परन्तु उसकी एक क्षीण परम्परा आजादी के प्रथम दशक से ही प्रारम्भ हो गयी थी। हालांकि आजादी के प्रथम दशक में मिलने वाले दोनों उपन्यास दलित चेतना पर आधारित न होकर गाँधीवादी विचारधारा से प्रेरित हैं परन्तु उन उपन्यासकारों ने भी दलित जीवन का संवेदनशील यथार्थ प्रस्तुत किया है। हिन्दी दलित साहित्य में प्रथम दलित उपन्यास के बारे में रजतरानी मीनू लिखती हैं कि– ''यदि स्वतंत्र्योत्तर काल के हिन्दी दलित उपन्यासों का ही अध्ययन किया जाए तो देवी दयाल सेन द्वारा रचित 'मानव की परख' सन् 1950 में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष डॉ. रामजीलाल सहायक द्वारा रचित उपन्यास 'बंधन–मुक्त' प्रकाशित हुआ। इन दोनों में प्रथम किसे मानें यह मुश्किल कार्य है, क्योंकि उक्त दोनों उपन्यासों में प्रकाशन का वर्ष ही प्रकाशित है, माह नहीं।''[1] सन् 1954 से सन् 1990 के बीच दलित उपन्यास लेखन इक्का–दुक्का ही हुआ है। 1990 के बाद दलित उपन्यास लेखन की एक समृद्ध परम्परा का दिखायी देती है।

दलित उपन्यासों का कथानक एवं कथावस्तु के आधार पर यदि विवेचना किया जाए तो उनमें समय के साथ लगातार परिपक्वता आयी है। दलित उपन्यासकारों ने कथानक के स्तर पर नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया है जैसे–उमराव सिंह जाटव का 'थमेगा नहीं विद्रोह।' हालांकि ज्यादातर दलित उपन्यास का कथानक अभी भी कच्चा एवं अनगढ़ है लेकिन ऐसे प्रयोगों को देखकर एहसास होता है कि उनमें समय के साथ परिपक्वता आयेगी। दलित उपन्यासों के कथावस्तु की यदि विवेचना की जाए तो उपन्यासकारों ने सम्पूर्ण दलित जीवन को प्रस्तुत करने में मार्मिक कुशलता दिखायी है। दलित उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की कथावस्तु में न केवल दलितों के शोषण

व अपमान के कारकों को दिखाया है वरन् उनसे मुक्त होने की राह को भी तलाशने का कार्य किया है। हालांकि उनके जीवन अनुभव इतने प्रत्यक्ष और शोषण–अपमान से भरे हैं कि जब वे उनका रचनात्मक स्तर पर प्रयोग करते हैं तो सपाट बयानी सा प्रतीत होने लगता है परन्तु मुख्यधारा के उपन्यासों की विकास परम्परा को देखते हुए हम सकते हैं कि दलित उपन्यासों ने अल्प समय में ही तेजी से विकास किया है।

मानव की परख

'मानव की परख' उपन्यास का प्रकाशन 1954 ई. में हुआ था। इसके लेखक देवी दयाल सेन जी हैं। उपन्यास की प्रस्तावना का लेखन बाबू जगजीवन राम ने किया है। उपन्यास की पृष्ठ भूमि के बारे में उन्होंने स्वयं कहा है कि– ''मथुरा के समीप किसी ग्राम की हरिजन बस्ती और मथुरा की हरिजन बस्ती को आधार मानकर लेखक ने हरिजनों के रहन–सहन, रीति–रिवाज और विचार पद्धति का बड़ा ही स्वभाविक चित्रण किया है। स्वयं भी हरिजन कहलाने के नाते हरिजन भाई के ह्रदय में पैठ कर उसने उनकी सम्मिलित वाणी अपने मुख से कही है। सारे उपन्यास में हरिजन ह्रदय ही बोलता है।''[2] सचमुच ही सारे उपन्यास में हरिजन सामाजिक–राजनीतिक चेतना पैबस्त दिखायी देती है। तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध कहीं कोई विद्रोह नहीं दिखायी देता है। यहाँ 'ह्रदय परिवर्तन' की घटनायें ही या सवर्ण समाज की अनुकम्पा या प्राकृतिक न्याय के द्वारा ही दोषियों को दण्ड मिलता दिखायी देता है।

उपन्यास के कथानक के बारे में चर्चा करते हुए लेखक ने स्वयं कहा है कि– ''हो सकता है, यह कथानक कुछ ऐसे लोगों के हाथों में भी जाय जो इसे पढ़कर आखें लाल–पीली करें और अश्लीलता के नाम पर अपने मन की निकालने के लिए गलियाँ दें। पर याद रहे मैं अपने कथानक के पात्रों की गालियों का बुरा मानने वाला नहीं। यह मेरी कल्पना मात्र ही नहीं वरन् समाज के उन चरित्रों की व्याख्या ही मैंने इस कथानक में खुलासा करने का प्रमाण किया है जिसमें हम सब और आप सब रहते हैं।''[3] हालांकि लेखक ने उपन्यास

के कथानक में आयी ऐसी घटनाओं के लिए एक तरह की ग्लानि का भाव प्रकट किया है परन्तु वर्तमान दलित साहित्य ऐसे भाव के लिए कतई तैयार नहीं है। दलित समाज की स्त्रियों को आज भी पारम्परिक सवर्ण समाज में सम्मानित नजरों से नहीं देखा जाता है। कथा वस्तु के रूप में थोड़ा कच्चापन है जिसे प्रस्तावना में पहली कृति के रूप में स्पष्ट कर दिया गया है।

कथावस्तु का प्रारम्भ मथुरा शहर से होता है। तत्कालीन समय में शहरों में दलितों का जीवन कितना नारकीय होता था, उपन्यास के प्रथम पृष्ठ में आये दलित मुहल्ले के वर्णन से स्पष्ट होता जाता है– ''इसी नगरी के बाहर दक्षिण में एक बस्ती है जिसकी गलियाँ और ऊँची–नीची सड़के बरसात में कीचड़ और पानी से भरी रहती है। कच्चे कोठे और खपरैली झोपड़े हैं जिनमें हवा और धूप जाने का कोई प्रबन्ध नहीं है। सारा नगर बिजली की रोशनी से जगमगाता रहता है किन्तु इस बस्ती में सदा अमावस की रात ही बनी रहती है।''[4] यह बात मायने रखती है कि आजादी के लगभग सात दशक बीत जाने के बाद भी क्या दलितों की स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन आया है? आज भी शहरों की मलिन बस्तियों में रहने वाले दलितों की स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं दिखायी देता है। सत्ता आज भी मीडिया के कैमरों के सामने सफाई अभियान चला रही है परन्तु सफाई का कार्य करने वालों का हाल जस का तस ही बना हुआ है।

कथानक मुख्यतः दो भागों में विभाजित है पहला ग्रामीण परिवेश तथा दूसरा शहरी परिवेश। उपन्यास का कथावस्तु मुख्यतः रानी के इर्द–गिर्द ही घूमती है जो कि जाति से भंगिन है। कथानक का प्रारम्भ मथुरा शहर से होता है जहाँ के एक दलित मुहल्ले में रानी अपने पुत्र रोहतास के साथ रहती है। रानी और रोहतास दोनों सफाई का कार्य करते हैं, उनकी परिस्थिति सोचनीय हैं और वह गरीबी का नारकीय जीवन जी रहे हैं।

इसके बाद लेखक फ्लैशबैक में जाकर रानी के ग्रामीण जीवन का वर्णन करता है। रानी सुन्दर है इसलिए उसी के दलित मुहल्ले के पुरुष उसे कामुक

नजरों से देखते हैं। उसका पति कलयुग थोड़ा–बहुत अखबार वगैरह पढ़ लेता है। उसी में ही कुछ राजनीतिक चेतना दिखायी पड़ती है। ग्राम पंचायत के चुनाव में उसका दोस्त चिरंजी कहता है कि– ''मैं तो कलयुग के साथ जाऊँगा। कलयुग सबकुछ जानता है कि कौर रियाया है और कौन मालिक। वह कहता था कि पंचायत में सबका बराबर स्थान होगा पंचायत सबकी होगी और सबके लिए होगी...।''[5] यह प्रश्न आज भी विचारणीय है कि क्या पंचायत सचमुच दलितों की हो पायी है। आरक्षण के बावजूद आज भी ग्रामीण समाज में दलितों के आरक्षित सीट पर ज्यादातर दलितों का चुनाव 'सवर्ण मोहरे' के रूप में ही होता है।

इस उपन्यास में आजादी की एक तत्कालीन सवर्णवादी व्याख्या सामने आती है। पंचायत चुनाव के जलसे में जमींदार मंडल का वक्ता कहता है कि– ''देश स्वतंत्र हमारे पैसे से हुआ है। जाकर पूछो, चन्दे के लिए कहाँ–कहाँ गिड़गिड़ाया जाता था? चन्दा हमने दिया। कुर्बानी के बकरे हम बने, अब उसके दाता आप भला कैसे बन सकते हैं? जिन्होंने देश के लिए पूँजी व्यय की है, जिन्होंने अपनी अनेकों कुर्बानियाँ दी हैं अब उन्हें ही उनकी पूँजी का सूद दर सूद सहित मावजा चुकाया जायेगा, उन्हें अथवा उनकी सन्तानों को ही उनकी कुर्बानियों का पारिश्रमिक मिल सकेगा।''[6] अब यह मानीखेज सवाल स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या देश की स्वतंत्रता में गरीबों, दलितों, स्त्रियों, किसानों की कोई भूमिका नहीं थी? आज भी लोक सभा, राज्यसभा तथा अन्य राजनीतिक निकायों में किन लोगों की बहुसंख्या है? सचमुच ही आजादी का ज्यादातर लाभ उच्च वर्ण–जाति तबके को ही मिला है।

इसी आजादी पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए उपन्यास में एक प्रसंग आता है। एक व्याख्यानदाता का साथी कहता है कि– ''आजादी मिली। लोग आजाद हुए परन्तु ये नहीं। ये सब तो गुलामों के गुलाम पहले भी थे आज भी वैसे ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि गुलाम आजाद हो गए परन्तु ये नहीं।''[7] इसी घटना से बाबा साहब अम्बेडकर के आन्दोलन की प्रासंगिकता समझ में आती

है। इसीलिए उन्होंने राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ सामाजिक स्वतंत्रता पर जोर दिया था।

इसी चुनाव प्रसंग के साथ कथानक आगे बढ़ता है। चुनावी षड़यंत्र में ही रानी के पति कलजुग की हत्या कर दी जाती है और उसकी हत्या का आरोप उसी के दोस्त चिरंजी पर लगाया जाता है। चिरंजी के पिता उसको बचाने के क्रम में पहले धन और गहने गवांते हैं और अन्त में घर भी गिरवी रखना पड़ता है। चिरंजी अन्त में बच जाता है क्योंकि कलजुग के खून का असली अपराधी गिरधारी स्वयं ही अपराध स्वीकार कर लेता है। यह भी हृदय परिवर्तन की एक घटना है। पूरे उपन्यास में गाँधीवादी विचारधारा पैबस्त दिखायी देती है। उपन्यास में गाँधीवादी दर्शन का एक प्रसंग आता है, कलजुग गाँव के लोगों से जमींदारी अत्याचार पर कहता है कि– ''हाँ! इसी तरह से पिटते रहो और अपने पथ पर आगे बढ़ते रहो। हमें हमारी मंजिल मिल जायेगी। कूटने–पिटने से धान चावल बनते हैं। दुःख उठाओगे सुख मिलेगा, सुख भोगोगे, दुःख के दर्शन होंगे।''[8]

पति की हत्या के बाद गाँव के लोगों के मतानुसार रानी को अपने पति के मित्र चिंरजी के साथ विवाह कर लेना चाहिए पर वह इन सबसे मुक्त होकर अपने पुत्र के साथ मथुरा शहर आ जाती है। मथुरा शहर में उसका एक सेठ शारीरिक शोषण करता है। उपन्यासकार ने उस सेठ के माध्यम से भारतीय समाज के तथाकथित उपरी तबके का द्वैत चरित्र उपस्थित किया है। वही सेठ जो रानी के साथ बलात्कार करता है, इसमें उसकी जाति और धर्म आड़े नहीं आता है परन्तु रानी के पुत्र रोहतास को मन्दिर के अन्दर जाने पर अपवित्रता का ढोंग करके छड़ी से पिटायी करता है।

इसी घटनाक्रम में रोहतास यमुना नदी में गिर पड़ता है और अचेत हो जाता है। वह नदी में बहकर कर्नल गुप्ता के घर पहुँच जाता है जो कि मन्दिर की पिटायी वाली घटना में उसको बचाते हैं। आगे चलकर वह रोहित गुप्ता में तब्दील होता है ओर उसका विवाह उसी सेठ की पुत्री से होता है। विवाह के उपरान्त ही यह भेद खुल जाता है और पता चलता है कि वह उसी रानी

भंगिन का बेटा है। सेठ यह सहन नहीं कर पाता है और बदला लेने के लिए आगरा पहुँचता है। आगरा में कुत्ते के काटने के कारण वह पागल हो जाता हैं। यही पर उपन्यास की कथावस्तु समाप्त हो जाती है।

उपन्यास के कथा वस्तु के विश्लेषण में यदि देखा जाये तो उपन्यासकार ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में जितनी कुशलता दिखायी है उतनी कुशलता शहरी जीवन के चित्रण में नहीं। ग्रामीणों लोगों के अन्तर्द्वन्द्व, छोटी–छोटी घटनाओं से जिस प्रकार उनके विचारों में परिवर्तन आता है, उसका लेखक ने कुशलता से चित्रण किया है। उपन्यास में मंदिर के तलघर आदि का वर्णन उपन्यास के कथावस्तु को थोड़ा अतिरंजित जरूर करता है।

दोहन

जयप्रकाश नवेन्दु महर्षि का उपन्यास 'दोहन' 1984 ई. में प्रकाशित हुआ था। भूमिका में ही उपन्यासकार ने स्वीकार किया है कि लेखक मूलतः कवि है तथा यह रचना उनके प्रारम्भिक दिनों की है। यह उपन्यास की कथावस्तु दलित चेतना पर आधारित न होकर मुख्यतः दहेज समस्या पर आधारित है। यह गाँव की कथा है, छीजते हुए रिश्तों की कथा है, बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदा तथा दहेज जैसी सामाजिक समस्या के कारण एक किसान के मजदूर में तब्दील होने की कथा है। हालांकि उपन्यास का लेखन जिस दौर में हुआ है, उस समय तक हिन्दी पट्टी में दलित आन्दोलन तेजी से उभर रहा था परन्तु लेखक ने ऐसी किसी भी सामाजिक–राजनीतिक हलचल को नजर–अंदाज किया है। शायद लेखक में दलित चेतना का अभाव ही इसके मूल में हो।

उपन्यास के कथानक में मूलतः एक ही कथा है और उससे जुड़ी ही कुछ घटनायें है जिनसे मिलकर उपन्यास का विकास हुआ है। कथा का प्रारम्भिक हिस्सा बदलते दौर में पारिवारिक सम्बन्धों में आ रहे बदलाव पर केन्द्रित है। उपन्यास की नायिका जमना, उसकी दादी सुखिया तथा दादी को प्रताड़ित करती जमना की माँ कौशल्या, इन्हीं के उपर उपन्यास का प्रारम्भिक

हिस्सा केन्द्रित है। उपन्यास के शुरुआती हिस्से में पता चलता है कि जमना का पिता कुछ समय पहले तक गंगा के उस पार धर्मपुरा गाँव का जमींदार था। गंगा में आई बाढ़ ने उसके खेत को निगल लिया तथा वह अपनी बूढ़ी मौसी सुखिया के घर आकर रहने लगा। सुखिया का पूरा परिवार हैजे की चपेट में आकर समाप्त हो गया था। सुखिया अब पूरी तरह बनवारी के परिवार पर आश्रित है इसीलिए बनवारी की पत्नी कौशल्या उसको प्रताड़ित करती रहती है। उपन्यास के इस हिस्से पर प्रेमचन्द की कहानी 'बूढ़ी काकी' का प्रभाव दिखायी देता है।

उपन्यास में कथावस्तु में समयकाल 10 वर्ष आगे आ जाता है। जमना अब बड़ी हो गयी है। गाँव तथा बनवारी के घर दोनों के ही स्वरूप में बदलाव आ गया है। उपन्यासकार ने गाँव के बाह्य वातावरण का तो सजीव चित्रण किया है, परन्तु सामाजिक चित्रण में वह चूक गया है। गाँव के सामाजिक जीवन में जाति का कोई विवरण नहीं आता जबकि उत्तर भारतीय गाँवों में व्यक्ति की पहचान ही जाति से निर्धारित होती है। पारम्परिक भारतीय समाज में स्त्री के जो भी स्वाभाविक गुण माने जाते हैं वह सब जमना में है परन्तु वह अशिक्षित है। कथावस्तु में आया निर्मला का पूरा विवरण उसकी आर्थिक दशा को तो बयां करता है परन्तु उसकी सामाजिक स्थिति का कोई हवाला नहीं मिलता है। निर्मला विधवा है तथा उसके पति की हत्या पुलिस द्वारा मुठभेड़ में हुई थी। निर्मला के बेटे दीनू का विवरण प्रेमचन्द्र की कहानी 'दूध का दाम' के मंगल जैसी ही है।

उपन्यास का कथानक सरल रूप में विकास करते हुए जमना के विवाह पर आता है। जमना के पिता बनवारी उसका विवाह शहर में अपने मित्र के बेटे के साथ तय करता है। जमना के अशिक्षित होने की भरपायी दहेज से पूरी की जाती है। दहेज जुटाने के क्रम में बनवारी पहले खेत गिरवी रखता है, उसके बाद अपनी गाय भी बेच देता है। इस प्रकार दहेज की समस्या के कारण बनवारी की गृहस्थी तबाह हो जाती है। वह गाँव छोड़कर शहर में मजदूरी की तलाश में निकल पड़ता है। उपन्यास की कथावस्तु यहीं पर

समाप्त हो जाती है। इस प्रकार यह पूरा उपन्यास दहेज जैसी समस्या के कारण बनवारी के अभिशप्त जीवन की कथा बनकर हमें सोचने पर मजबूर करता है।

करूणा

'करूणा' उपन्यास 'जयप्रकाश कर्दम' की प्रथम रचना है जिसे लेखक ने स्वयं अपनी भूमिका में उपन्यास न कहकर उपन्यासिका कहा है। इसका प्रकाशन 1986 ई. में हुआ था। उपन्यास की पृष्ठभूमि बौद्ध धर्म पर आधारित है। लेखक ने आत्मकथ्य में कहा है कि– ''प्रारम्भ से ही मैं गौतम बुद्ध और उनकी शिक्षाओं से प्रभावित रहा हूँ। क्योंकि मैंने पाया कि बुद्ध की शिक्षाओं का आदर्श उच्च है तथा उन में लोक कल्याण की प्रबल भावना निहित है। धर्म, दर्शन एवं इतिहास के विद्यार्थी के रूप में प्रायः सभी प्राचीन–अर्वाचीन धर्मों एवं दर्शनों का अध्ययन करने का अवसर मुझे मिला है। अपने अध्ययन में मैंने पाया कि बौद्ध–धर्म महज किसी धार्मिक सम्प्रदाय का नाम नहीं है अपितु यह जीवन का एक सुक्षेष्ठ मार्ग है, जिसका अनुकरण करके कोई भी व्यक्ति अथवा समाज जीवन के शिखर तक पहुँच सकता है।''[9] पूरा उपन्यास ही बौद्ध धर्म के दुःखवाद तथा करुणा की अभिव्यंजना करता है।

उपन्यास का नायक रमेश तथा नायिका करुणा नामक युवती है। कथानक का प्रारम्भ रमेश के घर से होता है जहाँ वह बिस्तर पर सो रहा है। रमेश मानसिक उद्वेलन में है। एक तरफ जहाँ सूरज की किरणें उसे उत्साह दे रही है, जीवन से संघर्ष करने की प्रेरणा दे रही है वहीं उसकी वैयक्तिक तथा सामाजिक–आर्थिक स्थिति निराशा के जाल में डुबों रही है। यहाँ रमेश का दुःख उसका अपना दुख ही नहीं प्रतिबिम्बित कर रहा है वरन् पूरे दलित समाज के युवाओं का दर्द बनकर प्रस्फुटित हो रहा है। दलित समाज के युवा भी संघर्ष करने को तत्पर है लेकिन उनकी वैयक्तिक तथा सामाजिक समस्याएँ ही उन्हें हथियार डाल देने पर विवश कर देती है।

औपन्यासिक कथा की पृष्ठभूमि में पता चलता है कि रमेश के पिता हरिशंकर जी की दो वर्ष पूर्व मृत्यु हो चुकी है। उनकी मृत्यु के पश्चात तीन

भाई तथा दो बहनों के पालन–पोषण की जिम्मेदारी अब रमेश के कन्धों पर है। रमेश कालेज के दिनों में काफी अच्छा सितार बजाता था परन्तु समय के थपेड़ों ने उसकी इस कला को निगल लिया।

उपन्यास की कथावस्तु का समय आपातकाल है। यही वह दौर है जब जनता गरीबी, बेरोजगारी तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार से त्रस्त थी। उसी समय की जनसंख्या नियंत्रण योजना ने रमेश के जीवन में एक ट्रेजडी पैदा की। रमेश को अध्यापक की नौकरी पाने के लिए अविवाहित स्थिति में ही नसबंदी करवानी पड़ी। यह घटना उसके माता–पिता के लिए असहनीय हुई और इसी सदमें में दोनों लोगों की मृत्यु हो गई। हालांकि उपन्यास के कथावस्तु में आगे चलकर यह घटना समस्याप्रद हो जाती है। उपन्यासकार ने उपन्यास लेखन में जल्दबाजी दिखाई है, रमेश जब पहले ही एक सड़क–दुर्घटना में यौन–क्रिया अंगों को गवा चुका था तब उसका नसबंदी करवाना एक बड़ी भूल है। खैर सड़क दुर्घटना के कारण उपन्यास की नायिका करूणा बेहद दुःखी होती है तथा वह बौद्ध संघ में चली जाती है और उधर रमेश गाँव के ठाकुर तथा उसके चमचों के जाल में फंसकर जेल चला जाता है। ठाकुर की हत्या उसका अपना पुत्र कर देता है और जेल से छूटने के बाद रमेश भी बौद्ध भिक्षु बन जाता है।

उपन्यास में गाँव के अत्याचारी जमींदार की उसके अपने दुर्व्यसन में लीन पुत्र द्वारा हत्या करवाना प्राकृतिक न्याय में कथाकार की आस्था को दिखाता है। इतना पढ़ा–लिखा तथा सामाजिक–समस्याओं पर जागरूक रमेश का बौद्ध भिक्षु बनना भी असंगत लगता है। इसीलिए रजतरानी मीनू जी ने उपन्यास के अन्त पर लिखा हैं कि– ''अंत में कहा जा सकता है कि नायक–नायिका का अंत में जीवन की समस्याओं से बचने का एक मात्र हल बौद्ध धर्म में न सिर्फ प्रवृत्त होना बल्कि भिक्षु–भिक्षुणी बनकर विरक्ति का जीवन जीना है। इन सब घटनाओं का आम जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या जीवन की समस्याओं से जूझने के बजाय उनसे पलायन कर जाना चाहिए। क्या पलायनवाद ने कभी समस्याओं का समाधान किया?''[10]

बाबा साहब अम्बेडकर ने भी बौद्ध धर्म को दलितों के लिए इसीलिए मुफीद माना था क्योंकि इससे दलित हिन्दू धर्म की जकड़बंदियों, रूढ़ियों से मुक्ति पायेंगे। यहाँ तो मामला ही पूरा उलट गया है। उपन्यासकार ने बौद्ध धर्म की आड़ में एक पलायनवादी दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की है। हालांकिउपन्यासकार ने आत्मकथ्य में ही इसे साहित्यिक दृष्टि से अपरिपक्व रचना माना है परन्तु इसके आगे जा सकता है कि यह रचना सामाजिक–राजनीतिक चेतना की दृष्टि से भी कमजोर प्रतीत होती है।

छप्पर– जयप्रकाश कर्दम जी का उपन्यास 'छप्पर' सन् 1994 में प्रकाशित हुआ था। उपन्यास का मूल विषय शिक्षा पर केन्द्रित है। बाबा साहब अम्बेडकर ने दलितों की मुक्ति के लिए नारा दिया था– 'शिक्षित बनों, संगठित हो, संघर्ष करों।' उपन्यास की पूरी कथावस्तु ही दलितों के जीवन में शिक्षा के महत्व को दिखाती है। दलित नायक को किस प्रकार आधुनिक समाज में भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए सामाजिक–आर्थिक और जातीय उत्पीड़नों से गुजरना पड़ता है इसकी एक बानगी उपन्यासकार ने प्रस्तुत की है।

औपन्यासिक कथा का गंगा के तट पर बसे हुए गाँव मातापुर के सुक्खा नामक दलित के घर से प्रारम्भ होती है। सुक्खा के पास भी रहने के लिए घर के नाम पर एक छप्पर है। शायद इसीलिए उपन्यासकार ने उपन्यास का नाम भी छप्पर रखा है। गाँव में दलितों की स्थिति आज भी दयनीय है। न उनके पास खेती के लिए पर्याप्त जमीनें है और न ही कोई स्थिर आर्थिक आधार। सुक्खा और उसकी पत्नी रमिया भी किसी तरह मजदूरी करके गुजर–बसर कर रहे है और साथ ही में अपने पुत्र चन्दन की पढ़ाई के लिए भी कुछ पैसे का इन्तजाम करते हैं।

औपन्यासिक कथा के दूसरे हिस्से में सुक्खा और रमिया के पुत्र चन्दन का वर्णन आता है जो कि शहर की एक दलित बस्ती में रहकर पढ़ाई कर रहा है। दलितों ने तो सोचा था कि शहरों में उन्हें शोषण से मुक्ति मिल जायेगी परन्तु यहाँ भी उनका जीवन नारकीय ही है। शहरों में दलितों की स्थिति पर एक वर्णन आता है कि– ''शहर में भी बहुत से दलित और दरिद्र लोग बिना

छुकी–भुनी सब्जी खाते हैं या केवल पानी या चाय के साथ नमक की रोटियाँ गले से उतार कर जिन्दा रहते हैं। फाका भी रह जाता है बहुत से घरों में। यहाँ भी तन ढ़कने को कपड़े नहीं है बहुत से लोगों के पास। यहाँ भी गाँवों की तरह बच्चे रेत–मिट्टी में खेलते नंगे घूमते है। बहुत सी औरतों के पास यहाँ भी मैली–कुचैली सी सिर्फ एक साड़ी होती है, सस्ती सी कच्चे–पक्के रंगों की।''[11]

लेखक ने एक साथ गाँव तथा शहर दोनों ही जगहों पर दलित समस्या को रखकर कथानक को विस्तृत फलक दिया है। एक तरफ चन्दन की शिक्षा को लेकर गाँव के जमींदार ठाकुर हरनाम सिंह तथा काणे पण्डित षड़यंत्र करते हैं वही दूसरी तरफ शहर में भी पूँजीवाद ने भी दलितों को सिर्फ जिन्दा ही रखा है क्योंकि उसे भी मजदूरों की जरूरत है। शहरों में भी दलितों के जीवनचर्या में शिक्षा तथा जागरूकता के अभाव में गहरा अन्धविश्वास है, जिसकी बानगी वर्षा के लिए यज्ञ–हवन का किया जाना हैं। इन यज्ञों–हवनों में केवल अनपढ़ व गरीब जनता की ही भागीदारी नहीं होती है वरन् डाक्टर–इन्जीनियर जैसे पढ़े–लिखें लोगों की पूरी की पूरी जमात भी सम्मिलित होती है। लेखक इन्हीं सब घटनाओं को लेकर कहता है कि– ''उधर बाढ़ और इधर–सूखे से चारों और त्राहि–त्राहि मची थी। इस प्राकृतिक आपदा से बचने के निमित्त आकाश के देवता इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए जगह–जगह यज्ञ और हवन किए जा रहे थे क्योंकि लोगों का विश्वास था कि भगवान इन्द्र रूष्ठ है और इसीलिए वर्षा नहीं हो रही है।''[12]

दलित चेतना से युक्त चन्दन इस धार्मिक व्यवस्था को खारिज़ करते हुए कहता है कि– ''उल्टी–पुल्टी नहीं साफ–सीधी बात कह रहा हूँ। दुनिया में ऐसा कोई भगवान ईश्वर या परमात्मा नहीं है जो सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। जो सबको पैदा करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला है। जो शाश्वत और चैतन्य है। जो जगत का नियामक अनादि तथा अनंत है। यह मान्यता असत्य भ्रामक तथा वैज्ञानिकता से परे है।''[13] यहीं नहीं, इसके आगे चन्दन भोली–भाली दलित जनता को समझाने के लिए एक सवाल करता है–

'' तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हारी जो आज दीन–हीन हालत है, तुम जो रोजी–रोटी के लिए दूसरों के मुहताज हो और तुमको नीच, अछूत या हेय मानकर दूसरे लोग तुमसे जिस प्रकार घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, तुम जो शोषण और अपमान और अत्याचार के शिकार हो इस सबका कारण ईश्वर है, वही तुम्हारी यह दुर्दशा कर रहा है।''[14] चूँकि धर्म भी एक राजनीति है और इसीलिए चन्दन धर्म और ईश्वर के चंगुल से दलित जनता को छुड़ाकर उनका सामाजिक–धार्मिक शोषण रोकना चाहता है।

कथावस्तु में एक तरफ जहाँ चन्दन दलित बस्ती में शैक्षिक चेतना तथा जागरुकता फैला रहा है, वहीं गाँव में उसकी शिक्षा को रोकने के लिए धार्मिक तथा सामन्ती शक्तियों का गठजोड़ तत्पर हो चुका है। उसके पिता सुक्खा इन षड़यंत्रों के सामने नहीं झुकते है और चन्दन को शहर से वापस बुलाने के लिए तैयार नहीं होते हैं। इसके एवज में जहाँ एक तरफ लगान न देने के कारण उनका खेत हाथ से निकल जाता है वहीं दूसरी तरफ सामाजिक बहिष्कार के कारण मजदूरी भी नहीं मिल पाती जिसके कारण उनकी जिंदगी दूभर हो जाती है। ठाकुर हरनाम सिंह की पुत्री रजनी जो कि इस उपन्यास की नायिका है और प्रगतिशील विचारों की है, जब इसका विरोध करती है तो उसके पिता समझाते हुए कहते हैं कि–'' अकेले चन्दन की पढ़ाई लिखाई से हमें कोई ऐतराज नहीं है। वह पढ़–लिखकर नौकरी कर ले इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन चन्दन की देखा देखी यदि सब चमार–चूहड़े पढ़–लिख जाएऔर सब–के–सब बाहर जाकर नौकरी करने लगेंगे तो कल को हमारे खेतों और घरों में कौन काम करेगा।''[15]

कथानक में इन दोनों कथाओं के साथ एक तीसरी कथा जुड़ती है कमला की। कमला दलित बस्ती के स्कूल में अपने बच्चें का दाखिला करवाने आती है। बच्चे के पिता का नाम पूछने पर वह वापस चली जाती है। बाद के प्रसंगों में पता चलता है कि वह सामूहिक बलात्कार की शिकार है और उसी की देन यह बच्चा है। यह घटना उन लाखों मजदूरों की दास्तान बयां करती है जो आज भी ईठ–भठ्ठों पर गुलामों सा जीवन जी रहे हैं। कथानक चरम

बिन्दु से अन्त की ओर आता है तो पता चलता है कि कमला उसी हरिया की पुत्री है जिसके घर रहकर चन्दन पढ़ाई कर रहा है।

शिक्षित होने के बाद चन्दन अपने सहपाठियों तथा साथियों के साथ मिलकर समानवादी आन्दोलन चलाता है जिसमें उसका साथ ठाकुर साहब की पुत्री रजनी भी देती है। दलित चेतना के फैलाव तथा सुक्खा और रमिया के गाँव छोड़ने के साथ ही दलितों का गाँवों से शहरों तथा कस्बों की तरफ सामूहिक पलायन प्रारम्भ हो जाता है। इन सब घटनाओं के कारण गाँव के सवर्णो और सामन्तों को दलितों और गरीबों की कीमत समझ में आ जाती है।

कथावस्तु के अंतिम हिस्से में ठाकुर हरनाम सिंह के हृदय परिवर्तन की घटना अस्वाभाविक लगती है। यहाँ कुछ–कुछ गाँधीवादी दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है जिससे उपन्यास का अन्त अस्वाभाविक हो जाता है। सभा में कमला की हत्या की भी घटना हतप्रभ करने वाली है। क्या उपन्यासकार के मस्तिष्क में यौन शुचिता का प्रभाव था यह भी विश्लेषण करने वाला मुद्दा होगा या उपन्यासकार को कथावस्तु को समेटने में कमला जैसी चेतनशील पात्र को किस नियति पर छोड़े, यह समझ में नहीं आया होगा इसीलिए उसकी हत्या हो जाती है। अन्त में हम कह सकते है कि उपन्यास 'छप्पर' दलित आन्दोलन की दृष्टि से सोदेश्यपूर्ण रचना है।

मिट्टी की सौंगध–

प्रेम कपाड़िया जी का उपन्यास 'मिट्टी की सौंगध' 1995 ई. में प्रकाशित हुआ था। कपाड़िया जी इससे पहले पॉकेट बुक्स उपन्यास लिखा करते थे। लेखक की बात में वह कहते हैं कि– ''मैंने ट्रेड नाम से सैकड़ों उपन्यास लिखे है.... लोग मुझे इसीलिए नहीं जानते कि उनमें मेरा नाम नहीं होता था। इस उपन्यास को पढ़कर आप को लगेगा कि अपने कुछ पढ़ा ही नहीं देखा भी है।''[16] उपन्यास को पढ़कर सचमुच 'फिल्मों' के दृश्य याद आते है। उपन्यास में दलित समस्याओं का प्रस्तुतीकरण सतही है।

'मिट्टी की सौगंध' का कथानक सीधा है। पूरा कथावस्तु एक कथा पर आधारित है। उपन्यास के प्रारम्भ में शीला का वर्णन आता है जो उपन्यास की

नायिका है तथा दलित है। गाँव का जमींदार ठाकुर मदन सिंह उसके साथ बलात्कार करता है तथा उस घटना के सदमें से उसकी माँ की मृत्यु हो जाती है। उपन्यासकार कथावस्तु में पीछे जाकर इस पूरी घटना का विवरण देता है। शीला इस घटना के बाद अपने साथ किये गये अपराध का प्रतिकार करने का फैसला करती है। जमींदार के अत्याचारों के विरोध में गाँव के कुछ दलित युवक शीला का साथ देने की कसम खाते हैं तथा उनके साथ दलित इंस्पेक्टर जगजीवन राम भी है। दूसरी तरफ जमींदार का छोटा बेटा विजेन्द्र जो प्रगतिशील विचारों का है, का शीला से परिचय होता है। शीला अपने खिलाफ किये गये अपराध की घटना को विजेन्द्र से बताती है। विजेन्द्र भी अपने पिता के विरोध में न्याय की लड़ाई लड़ने का फैसला करता है।

विजेन्द्र शीला को अपने पिता के खिलाफ मुकद्मा करने की सलाह देता है। विजेन्द्र और शीला दोनों प्रेम करने लगते हैं। ठाकुर मदन सिंह गिरफ्तारी से बचने के लिए विजेन्द्र और शीला की शादी के लिए सहमत हो जाता है। मदन सिंह की माँ बड़ी सावधानी से शीला के खाने में गर्भ–निरोधक गोली अपने नौकरों से मिलवाती रहती है। इस षड़यंत्र के खुलने के बाद शीला और विजेन्द्र ठाकुर मदन सिंह के हवेली छोड़कर चले जाते हैं। उसके बाद ठाकुर मदन सिंह उन दोनों की हत्या का षड़यंत्र करता है। अपने दोस्त की मदद से विजेन्द्र अपने पिता को गिरफ्तार करवा देता है। उपन्यास के अन्त में अदालत ठाकुर मदन सिंह को दस साल की सजा सुनाती है।

पूरे उपन्यास की कथावस्तु का यदि विश्लेषण किया जाए तो हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार अभी तक अपने 'पॉकेट बुक्स' वाली रचनात्मकता से बाहर नहीं आ पाया है। जमीनी यथार्थ का अनुभव न होने के कारण भी ऐसा हो सकता है या लेखक के पास यथार्थ के प्रस्तुति की कलात्मक अनुभव की कमी भी इसके मूल में हो सकती है। फिलहाल उपन्यासकार की सामाजिक सोदेश्यपूर्ण भाव से लिखी गयी यह पहली रचना है अतः हम आगे की रचनाओं में परिपक्वता की उम्मीद कर सकते हैं।

जस तस भई सवेर

सत्यप्रकाश का उपन्यास 'जस तस भई सवेर' का प्रकाशन सन् 1998 में हुआ था। दलितों में अशिक्षा तथा अंधविश्वास के दुष्प्रभावों को दिखाना ही इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय है। पूरे उपन्यास में अशिक्षा के कारण किस प्रकार धार्मिक अंधविश्वास तथा भूत–प्रेत के चक्कर में फँसकर दलित परिवार गरीबी और कर्ज के जाल में फंस जाते हैं, इसी का वर्णन है। वहीं दूसरी तरफ स्त्रियों का शारीरिक–मानसिक शोषण सामन्ती प्रवृत्तियां करती है और इस शोषण में धार्मिक अन्धविश्वास की भी सक्रिय भूमिका रहती है। डॉ. कुसुम वियोगी 'कृति के लिए' में कहती हैं कि–''जो धर्म के नाम पर पंडे–पुरोहितों, भगत, मुल्ला–मौलवियों, ओझाओं द्वारा फैलाए गए अन्धविश्वास, मिथ्या आडम्बरों के भ्रम में फंसा कर दलित जनों को 'जात' लगाने को उकसाता है चाहे जेब उन कुत्सित संस्कारों का मानने व मनवाने की इजाजत न देती हो परन्तु साहू–सामन्तों द्वारा ब्याज पर सहज उपलब्ध कराई गई ऋण–सुविधा आगे चलकर उन्हें दुविधा के द्वार पर लाकर खड़ा ही नहीं करती अपितु उन्हें एक ऐसे शोषण तंत्रजाल में मकड़ी सा उलझा देती है जिसके ताने–बाने को काटना तो दूर उनकी पीढ़ी–दर–पीढ़ी उसमें उलझती व फंसती चली जाती है।''[17] पूरे उपन्यास की कथावस्तु मूलतः इसी समस्या के इर्द–गिर्द फैली हुई है।

उपन्यास में मूलतः दो कथायें साथ–साथ चलती है। एक कथा गाँव में दो भाई सरवन और हंसा के परिवार से प्रारम्भ होती है वहीं दूसरी कथा राजधानी दिल्ली में सरवन के बेटे शिवदास से प्रारम्भ होती है। चूँकि लेखक ने भूमिका में स्वयं कहा है कि 'उसने मंडल उन्माद भी देखा है कमंडल का विषाद छद्म रूप भी' इसीलिए कथानक के शहर वाले हिस्से के प्रारम्भ में सारी चर्चा आरक्षण बनाम गुणवत्ता पर केन्द्रित है। गाँव की कथा में मुख्यतः धार्मिक अन्धविश्वास तथा गाँव के सामाजिक स्तरीकरण की समस्या देखी जा सकती है।

गाँव की कथा में हँसा धार्मिक अन्धविश्वास के कारण 'जात' लगाने का निश्चय करता है। इस अन्धविश्वास में उसकी पत्नी सुनहरी तथा पिता मंगल पहलवान की सक्रिय भूमिका रहती है। सरवन अपने भाई को जब इस फिजूलखर्ची पर समझाने की कोशिश करता है तो हँसा खार खाकर उल्टा उसे डाट देता है। 'जात' लगाने में हँसा लगभग 10 हजार रूपये कर्ज हो जाता है। फिर भी वह इसलिए खुश है कि गाँव में उसका स्थान ऊँचा हो गया। इस पूरे घटना क्रम से उपन्यासकार ने न केवल दलित समाज में फैले अन्धविश्वास को दिखाने की कोशिश की है वरन् दलित समाज में नाक ऊँची करने के उद्देश्य से जो फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति आयी हैं उस पर भी चोट की है।

उपन्यास की कथावस्तु में अगली घटना से सामंती चरित्र देवीपाल चौधरी का प्रवेश होता है। चौ. देवीपाल दलित स्त्री धुसिया का बलात्कार करता है। धुसिया के साथ दो और दलित स्त्रियाँ सन्नो व रामरती घास काटने आयी थी। अगर तीनों मिलकर चौधरी का विरोध करती तो धुसिया की इज्जत बच सकती थी। जहाँ सन्नो डर के कारण विरोध नहीं कर पाती वहीं रामरती पहले से ही चौधरी के पक्ष में रहती है। अगर उपन्यासकार चाहता तो बलात्कार की घटना का संक्षिप्त वर्णन कर सकता था पर वह पूरी घटना की विस्तृत विवेचना करता है। गाँव में इस घटना को बताने की धमकी देने पर चौधरी देवीपाल धुसिया गला घोट देता है। सन्नों इस घटना से विक्षिप्त हो जाती है।

दूसरी तरफ हंसा के घर पर संयोगवश दो और मुश्किले आ जाती है– एक उसकी भैस मर जाती है दूसरी उसकी पत्नी का पैर टूट जाता है। इन मुश्किलों से वह जूझता नहीं है वरन् इसका हल ढूँढ़नें वह फिर से भगत जी के पास पहुँच जाता है। भगत जी हँसा को अपने भाई के विरुद्ध न केवल भड़काते है वरन् उससे दुबारा जात लगाने के लिए भी कहते हैं। हंसा कर्ज के लिए दुबारा चौधरी देवीपाल के पास पहुँच जाता है। कर्ज की शर्त का वर्णन उपन्यासकार के शब्दों में इस प्रकार होता है– ''हँसा को देवता के कारज के

लिए पाँच हजार रूपये का कर्ज दे दिया परन्तु यह शर्त भी लिखवा ली कि मूल का ब्याज हँसा प्रतिमाह 5 रूपये सैकड़ा की दर से देता रहेगा और जब तक कर्ज नहीं उतर जाता हँसा चौधरी देवीपाल के खेतों में ही मजदूरी करेगा। मजदूरी नकद नहीं मिलेगी। मजदूरी की रकम कर्ज ब्याज में समायोजित कर दी जायेगी।''[18] इस प्रकार हँसा एक स्वतंत्र व्यक्ति से बंधुआ मजदूर में तब्दील हो जाता है।

शिवदास शहर में मंत्री जी से मिलने उनके घर जाता है जहाँ उसकी मुलाकात सुमेधा से होती है। सुमेधा जिसका वास्तविक नाम रेनू है, उपन्यास की नायिका है तथा जाति से सवर्ण है। उपन्यासकार कथाकाल में पीछे जाकर पाठकों को अवगत कराता है कि सुमेधा और शिवदास कालेज में सहपाठी रह चुके है तथा दोनों में अच्छी–खासी दोस्ती भी थी। सुमेधा का प्रेम–प्रस्ताव शिवदास ने नकार दिया था इसलिए वह अब भी नाराज है। शिवदास उसे मनाने में कामयाब होता है और उनके बीच पुनः प्रेम उपजता है। इस प्रसंग में उपन्यासकार ने उनके शारीरिक प्रेम को सांगोपांग वर्णित किया है जिससे बचा जा सकता था।

कथावस्तु की अगली घटना में हंसा चौधरी देवीपाल तथा हरसन्ना भगत के बहकावे में आकर अपने भाई सरवन से मारपीट कर लेता है। इस मारपीट में सरवन का सिर फूटता है तो हंसा का पैर टूट जाता है। शिवदास को बैंक में नौकरी मिल जाती है और उसका स्थानान्तरण दिल्ली से कानपुर हो जाता है। कानपुर में भी बैंक के कार्यालय का वातावरण आरक्षण विरोधी ही रहता है। सुमेधा के पिता जी तथा बहन शिवदास के साथ उसके प्रेम का विरोध करते हैं। सम्पत्ति की लालच में सुमेधा की बहन उसका विवाह अपने लम्पट देवर से करवाना चाहती है। कथावस्तु में सुमेधा का कानपुर में शिवदास से मिलना तथा फिर उन दोनों का होटल में सेक्स वर्णन आरोपित सा प्रतीत होता है।

उपन्यास में आगे की घटनाओं में शिवदास का स्थानान्तरण उसके अपने गाँव में हो जाता है। उधर चौधरी देवीपाल तथा रामरती को खेत में

आपत्तिजनक परिस्थितियों में रामरती का बेटा मुन्ना देख लेता है। चौधरी मुन्ना का भी गला घोटकर मार देता है। चौधरी हरसन्ना भगत से मिलकर रामरती तथा सन्नों को डायन घोषित करवाकर उनका सामूहिक बलात्कार करवाता है। इसमें पंचायत तथा पुलिस प्रशासन की भी भागीदारी रहती है।

इसी मसले पर चौधरी देवीपाल का झगड़ा शिवदास से हो जाता है। चौधरी षड़यंत्र करके पहले शिवदास के पिता सरवन को जेल भेजता है उसके बाद शिवदास को भी जेल हो जाती है। उपन्यास का अन्त फिल्मी नाटक जैसा है जहाँ चौधरी को धुसिया का पति पुलिस के सामने गोली मार देता है तथा हरसन्ना भगत को जेल हो जाती है।

उपन्यास की कथावस्तु में बलात्कार की इतनी सारी घटनाओं के वर्णन से बचा जा सकता था परन्तु यह भारत के सामंती गाँवों की नग्न सच्चाई है। दलितों पर अत्याचार के मामले में गाँव की पारम्परिक पंचायत से लेकर थाने जैसी आधुनिक संस्थाएं भी पीछे नहीं रहती है।

मुक्तिपर्व

'मुक्तिपर्व' उपन्यास का प्रकाशन 1999 ई. में हुआ था तथा इसके लेखक 'मोहनदास नैमिशराय' है। नैमिशराय जी दलित आन्दोलन से जुड़े रहे हैं और पूरे उपन्यास में दलित मुक्ति के यथार्थ को ही ढूँढने का प्रयास किया है। उपन्यास की कथा वस्तु का विकास भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के आस–पास होता है। उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक 'मेरी बात' में कुछ सवाल उठाता है– ''हम मुक्ति पर्व किसे कहे? जब देश आजाद हुआ उसे या जब किसी जाति या कुछ जातियों को आजादी मिली उसे। मुक्ति से आखिर तात्पर्य क्या है, एक आदमी की मुक्ति या एक विशेष जाति की?''[19] पूरे उपन्यास में लेखक इन्हीं सवालों से टकराने तथा दलितों की मुक्ति की जद्दोजहद में लगा रहता है।

उपन्यास के कथावस्तु का प्रारम्भ एक अनाम से बनते हुए शहर के वर्णन से होता है जो अभी संक्रमण काल से गुजर रहा है, जो न तो गाँव है

और न ही पूरी तरह से शहर बन पाया है। इसी शहर में दो संस्कृतियों की मौजूदगी दर्शायी गयी है एक दलितों की श्रम संस्कृति वहीं दूसरी तरफ दलितों की मेहनत पर पलने वाली सवर्ण संस्कृति। लेखक वर्णन करते हुए लिखता है कि– ''ठीक इसी तरह शहर में सवर्ण और दलितों की बस्तियों की भी पहचान थी। उनकी बस्तियों के भीतर–बाहर वैसी छाप थी। शहर में कमेरे भी थे और मुफ्त का खाने वाले भी। दोनों की संस्कृति उनसे गुथी हुई थी।''[20] लेखक शहर के वर्णन में दलित बस्ती का तथा उसकी कार्य संस्कृति का वर्णन करता है। इसके बाद उपन्यास की मुख्यकथा प्रारम्भ होती है जो मुख्यतः बंशी और उसके पुत्र सुनीत के इर्द–गिर्द धूमती है। बंशी जहाँ दलितों की पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है, वहीं सुनीत दलितों की नयी पीढ़ी का। बंशी और सुनीत की कथा सिर्फ उनकी वैयक्तिक कथा ही नहीं है वरन् वह पूरे दलित समाज की कथा में परिवर्तित हो जाती है।

बंशी नवाब साहब के यहाँ नौकरी करता है परन्तु दलितों की इस नौकरी में, नौकरी तथा गुलामी का अन्तर धुँधला ही है। घर के जानवरों से लेकर थूकदान सम्भालने तक का जिम्मा इन्हीं के उपर रहता है। इतना ही नहीं नवाब साहब तो एक दिन थूकदान न मिलने पर बंशी के हाथों में ही थूक देता है। आजादी मिलने के बाद जहाँ एक तरफ दलित–शोषित खुश होते हैं वहीं सामन्ती ताकतों के बीच मातम छा जाता है। इस मातम के साथ ही उनमें दलितों की खुशी देखकर एक चिढ़ भी पनपती है। इसी चिढ़ में नबाब साहब बंशी को चिलम फेककर मारता है जिसके कारण बंशी के सिर से खून निकलने लगता है। बंशी उसी समय नौकरी छोड़ देता है। इस प्रकार वह गुलामी की एक कड़ी को तोड़ने में सफल होता है। उपन्यास में आया यह विवरण समझने योग्य है– ''पर सच कहा जाए तो खून के दाग गुलामी के दाग से अच्छे थे। इनका पता तो चल जाता है। गुलामी के दागों का तो पता ही नहीं चलता। उसे भी कहा पता चला था इन गुलामी के दागों का। बरस–दर–बरस वह तथा उसकी जाति के लोग गुलामी तो भोगते आए थे।''[21] इन पंक्तियों के माध्यम से उपन्यासकार दलितों की सदियों से भोगी गयी वेदना का यथार्थ प्रस्तुत करता है।

बंशी को गुलामी का एहसास होने के बाद उसके चरित्र में मूलभूत परिवर्तन आता है। वह अपने पुत्र के जन्म के बाद ब्राह्मण से नामकरण न करवाकर खुद करता है तथा उसका नाम सुनीत रखता है। इस प्रकार उपन्यास में ब्राह्मणवाद के खिलाफ वह पहला विद्रोह करता है। सुनीत ही इस उपन्यास का नायक है। आजादी के बाद रामलाल जी आर्य की मदद से दलित बस्ती में कलालखाने को बन्द करके स्कूल खुलवाया जाता है। कथावस्तु में रामलाल जी आर्य का चरित्र तथा आर्य समाज के विवरण से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि तब तक हिन्दी दलित साहित्य में अछूतानन्द जी का प्रवेश नहीं हुआ था नहीं तो दलित रचनाकार ने आर्य समाज का दोयम चरित्र समझा होता तथा उसका वह रचनात्मक विरोध करता। बस्ती में स्कूल खुलने के साथ ही सुनीत का शिक्षा के लिए संघर्ष शुरू हो जाता है वहीं दूसरी तरफ बंशी का पुत्र की शिक्षा के लिए संसाधन जुटाने का संघर्ष शुरू होता है। दलित मुहल्ले के बच्चे संसाधन विहीन है परन्तु उनमें शिक्षा पाने की ललक है जिसका उपन्यास में वर्णन कुछ यों आता है– ''उनके पास न किताबे थी और न कापियाँ, न तख्ती न स्याही। वे स्वयं ही कोरे कागज की तरह थे। जिनके उपर समय की कलम ने अपनी तहरीर लिखनी थी। उनके मन आज समन्दर से भी विशाल हो गए थे। जिनमें ढेर सारी लहरे उभर आई थी।''[22]

उपन्यास में कथावस्तु का विकास इसी दलित बस्ती के स्कूल की समस्याओं तथा उनमें पढ़ने वाले छात्रों की समस्याओं के साथ होता है। उपन्यासकार यहाँ पर यह दर्ज करने में कामयाब होता है कि दलित छात्र की शिक्षा में आर्थिक रुकावट सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। दलित छात्र वस्तुतः अपने घर के व्यवसाय में एक श्रम साधन की भी भूमिका निभाते हैं। उनके पढ़ने से घर के व्यवसाय में रुकावट आती है। इस कारण से भी बहुत से दलित बच्चे स्कूल नहीं जा पाते। दलित छात्रों की स्थितियों में आज भी ज्यादा परिवर्तन नहीं आया है। दूसरी तरफ पाठ्यक्रम में जो यथार्थ दलित छात्रों को दिखता है, उसका बुनियादी चेहरा समाज के यथार्थ से अलग होता है। ऐसा ही एक प्रसंग उपन्यास में आता है– ''किताब में ऐसा चित्र न था। प्याऊ पर बैठा

आदमी भी वैसा ही था। माथे पर तिलक भी किताब में दिए गए तिलक जैसा और गले में जनेऊ तथा सिर के बीचो–बीच चोटी भी वैसी ही, मूँछें भी लगभग वैसी ही, कंधे पर गमछा भी, सफेद बनियान और धोती भी। सबकुछ तो वैसा ही था पर पानी के लोटे के नलकी न थी। किताब में नलकी क्यों नहीं। मास्टर जी क्या झूठ बोलते हैं, किसने लिखी यह किताब, किसने बनाए अधूरे चित्र?''[23] सुनीत पहली बार इस प्याऊ की घटना पर विरोध करता है तथा विरोध में सफल होता है। सुनीत कक्षा पाँच प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है।

कथावस्तु के अगले प्रसंग में सुनीत छठी कक्षा में दाखिला लेता है। इस स्कूल का वातवरण ही नहीं वरन् छात्र, अध्यापक सभी दलित विद्वेषी है। सुनीत का जातीय उत्पीड़न करने में उसके कक्षा अध्यापक का विशेष योगदान रहता है। उसे हर मोड़ पर उसकी जाति के कारण उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। उस पर दबाव डालकर मेरिट के आधार पर नहीं, बल्कि जाति के आधार पर छात्रवृत्ति फार्म भरवाने की कोशिश की जाती है। लेकिन सुनीत दबाव के आगे नहीं झुकता और वह इसका विरोध करता है। इसी स्कूल के प्रसंग में औपन्यासिक कथा में सुमित्रा का प्रवेश होता है जो कि उपन्यास की नायिका है। सुमित्रा और सुनीत की दोस्ती होती है तथा कथा में यह पूर्वानुमान हो जाता है कि लेखक ने अन्तर्जातीय विवाह की भूमिका बनानी शुरु कर दी है। कथा में नयी घटना करतारा भंगी की आती है जो अपने बेटे का स्कूल में दाखिला करवाना चाहता है। सुनीत की मदद से करतारा के बेटे का दाखिला तो हो जाता है परन्तु यह घटना 'शिक्षा के मन्दिर' के नयें रूप से परिचय करवाती है जहाँ अध्यापकों का ब्राह्मणवादी चेहरा नग्न रूप में सामने आता है। कक्षाध्यापक पाण्डे कहता है कि– ''हैडमास्टर साहब, यह स्कूल कोई भंगी–चमारों का स्कूल नहीं है जो चाहे गिरे–पड़े किसी को भी दाखिला दे दो।''[24] इन सारी विपरीत परिस्थितियों के बाद भी सुनीत प्रथम श्रेणी में पास होता है परन्तु जातीय विद्वेष के कारण स्कूल में उसका दूसरा स्थान आता है।

कथा में अगली घटना सुनीत का गंगाराम हाईस्कूल में प्रवेश के साथ ही जातीय उत्पीड़न के साथ प्रारम्भ होती है। स्कूल के मन्दिर में घुसने पर

उन्हें बुरी तरह प्रताड़ित किया जाता है। कथा में आगे का विकास बहुत तेजी के साथ होता है। सुनीत अध्यापक बनकर अपने बस्ती के स्कूल में आता है तथा सुमित्रा का परिवार उन्हें विवाह करने की अनुमति भी दे देता है। इस प्रकार उपन्यासकार ने दलित आन्दोलन की सार्थकता को शिक्षा तथा अन्तर्विवाह से जोड़ा है। उपन्यास का कथानक सीधा एवं सरल है परन्तु कथावस्तु के अंत में घटनाओं के घटने की जल्दबाजी दिखायी देती है।

आज बाजार बंद है

मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 'आज बाजार बन्द है' सन् 2004 में प्रकाशित हुआ था। उपन्यास मूलतः 'वेश्यावृत्ति' जीवन पर आधारित है। यह उपन्यास हाशिये पर पड़े हुए समुदाय के व्यक्ति का हाशिये पर डाल दी गयी स्त्रियों को देखने का एक नजरिया प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार ने वेश्या जीवन की तह में जाकर वेश्या जीवन को जन्म देने वाले विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक कारणों की पड़ताल की है। इसी क्रम में उपन्यासकार ने हिन्दू धर्म की मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों, जिनके कारण हाशिये के समाज की महिलाओं का जीवन नारकीय होता है, की आलोचना भी प्रस्तुत किया है।

उपन्यास का कथानक सीधा है तथा कथावस्तु का विकास उपन्यासकार ने रिपोर्ताज शैली में विभिन्न घटनाओं के वर्णन से किया है। उपन्यास का प्रारम्भ एक सनसनीखेज खबर से होता है– '' 'थाने पर पथराव किया रंडियों ने' शहर के लगभग सभी अखबारों के मुख्य पृष्ठ पर दो कालम में छपी इस खबर ने गर्म हवा बनकर समूचे शहर की शालीनता को झुलसा दिया था। तथाकथित श्रेष्ठसंस्कृति के अलग–अलग मुखौटे लगाए श्रेष्ठ लोगों के माथे पर बल पड़ने जरूरी थे।''[25] उपन्यास की कथावस्तु का विकास यहीं से प्रारम्भ होता है तथा उपन्यासकार कथावस्तु के विकास में भारतीय समाज के मुखौटे को नोचकर वेश्या जीवन के नग्न यथार्थ को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। इन्हीं घटनाओं के क्रम में कुछ पत्रकार उस मुहल्ले में जाते हैं जहाँ पर सारी वेश्याएँ रहती हैं। अपने अखबार की कवर स्टोरी बनाने के चक्कर में वे पहले पुलिस महकमें का इंटरव्यू लेते है उसके बाद उन मकान–मालिकों का

जिन्होंने अपना घर इन वेश्याओं को रहने के लिए दिया है। पूरे प्रकरण में उपन्यासकार ने उस आधुनिक भारत के यथार्थ से रूबरू करवाया है जो वेश्याओं से पैसे लेने में कोई नैतिकता नहीं दिखाता परन्तु उनके साथ इन्सानों जैसा व्यवहार नहीं करता है। पुलिस महकमें को उनसे रिश्वत लेने में समस्या नहीं है परन्तु उन्हें वे उनके मूलभूत नागरिक अधिकार से भी वंचित रखते हैं। मकान मालिक लाला को उनके दिये हुए किराये में कोई दाग नहीं दिखता लेकिन जिस घर में वो रह रही है वहाँ दाग ही दाग दिखायी देता है।

इण्टरव्यू लेने के क्रम में ही उपन्यास की कथा आगे बढ़ती है। चारों पत्रकार इण्टरव्यू लेने के लिए वेश्याओं के कोठे पर जाते हैं जहाँ उनकी मुलाकात शबनम बाई और पार्वती से होती है। पार्वती जो कि उपन्यास की नायिका है, का परिचय देते हुए शबनम बाई कहती है कि– ''बिना शिव की पार्वती, शिव ने पहले इसे मन्दिर में बैठा कर देवदासी बनाया। फिर मन्दिर से चकले में भेज दिया। पहले मन्दिर के पुजारी ने इसके शरीर को भोगा। फिर गाँव के पटेल ने बाजी मारी। दोनों का मन भर गया तो गाँव के सामंत–साहूकार की बारी आई यानि हमारे समाज में जिसका जितना मान–सम्मान, उतना ही देवदासी को भोगने के लिए उनके अधिकार सुरक्षित होते है।''[26] औपन्यासिक कथा में आया यह वाकया ब्राह्मणवाद की कलई खोलता है जिन दलितों का स्पर्श किया हुआ भोजन स्वीकार करने में धर्म भ्रष्ट होता है, उन्हीं के घरों की बेटियों को देवदासी बनाकर उनका शोषण करने में उन्हें कोई दोष दिखायी नहीं देता है। शबनम बाई निजी जीवन में अन्तर्धार्मिक प्रेम सम्बन्धों में धोखा खाकर वेश्यालय पहुँचती है तो हसीना और मुमताज अनाथालय से। हसीना और मुमताज की कहानी आधुनिक भारत की 'परोपकारी' संस्थाओं की कलई खोलती है।

औपन्यासिक कथावस्तु के इस हिस्से में वेश्याओं की निजी नैतिकता दिखायी देती है। शबनम बाई के कोठे पर कोई ग्राहक दस हजार रूपये छोड़ जाता है जिसे वो लोग वापस कर देते है। यह घटना उनकी ईमानदारी की एक बानगी है और उस समाज के मुँह पर तमाचा है जो बाते तो नैतिकता

और ईमानदारी की करता है परन्तु अपने फायदे के लिए सारी ईमानदारी और नैतिकता को दूसरी तरफ धकेल देता है। शबनम बाई इसी आधुनिक समाज की कलई खोलते हुए कहती है कि– ''किसी को ट्रान्सफर करवाना हो या प्रमोशन तब हमारी याद आती है। टेंडर पास कराना हो तो उन्हें हमारी जरुरत पड़ती है। सरकारी आफिसों में कभी–कभी सीधे रिश्वत नहीं दी जाती है। हमें परोसा जाता है रिश्वत के रूप में।''[27] यह वाकया तथाकथित सभ्य समाज की दोहरी नैतिकता का विरोधाभासी रूप प्रस्तुत करता है।

उपन्यास के कथानक में एक मोड़ आता है, जहाँ उपन्यास का नायक सुमित दंगे से बचते हुए शबनम बाई के कोठे पर पहुँच जाता है। सुमित नौकरी की तलाश में शहर आया था तथा यह उसके जीवन की पहली घटना है जब वों वेश्याजीवन से रूबरू होता है। सुमित को रात में पार्वती की डायरी मिलती है जिसे पढ़कर वह पार्वती के प्रति संवेदनशील होता है। औपन्यासिक कथा के इसी हिस्से में उपन्यासकार सुमित के बहाने देश की आजादी पर सवाल उठाता है। वह कहता है कि– ''आश्चर्य की बात थी कि किसी भी राष्ट्र पुरुष को इन रंडियों की मुक्ति का ख्याल नहीं आया। देशभर में उस समय कई लाख रंडिया रही होंगी। वे सब पिजरों में कैद थी। गोरे चले गये, पर उन्हें मुक्ति नहीं मिली। काले शासकों को आजादी की गूँज में उनके दुख–दर्द सुनाई ही नहीं दिये। न ही ध्यान रहा कि देश में कई लाख ऐसे भी नागरिक है, जो दोहरी गुलामी की जंजीरों में कैद है।''[28] यहाँ उपन्यासकार वेश्या समाज के बहाने सभी उत्पीड़ितों (दलित, महिला, अल्पसंख्यक) की तरफ से आजादी और आजादी के 'महापुरुषों' के मन्तव्यों पर सवाल खड़े करता है।

सुमित के नेतृत्व में सभी वेश्याएं एकजुद होकर शबनम बाई के कोठे से मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत करती है। इस मुक्ति आन्दोलन के विरोध में पुलिस लाठीचार्ज करती है जिसमें शबनम बाई की मृत्यु हो जाती है। हालांकि उपन्यासकार ने वेश्या मुक्ति आन्दोलन हल सतही तरीके से दिया है जिससे उपन्यास का अन्त फार्मूलाबद्ध होकर रह गया है। वेश्या समाज की मुक्ति का सवाल अभी और विश्लेषण की माँग करता है जिसमें आर्थिक–सामाजिक

परिस्थितियों तथा उनके 'निज' के सवाल का विश्लेषण भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित है।

मुक्तिपथ– अभय मौर्य का उपन्यास 'मुक्तिपथ' 2006 ई. में स्वराज प्रकाशन से प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का विषय आधुनिक समाज की शिक्षण संस्थाओं में फैले जातिवाद के जहर पर आधारित है। चूँकि किसी भी देश के विकास की आधार भूमि शैक्षणिक संस्थान ही तैयार करते हैं लेकिन जब वहाँ पर बैठे अध्यापक ही जातीय भेदभाव में लिप्त हो तो हम समझ सकते हैं कि इस देश को मिलने वाली नयी पीढ़ी कैसी होगी। इस उपन्यास की जो दूसरी विशेषता है वह जाति भेद के अलावा वर्ग–भेद की समस्या को भी उजागर करना है। अतः हम इस उपन्यास में दलितों के वर्गीय चरित्र के पहलू को देख भी सकते हैं।

हालांकि अन्य दलित उपन्यासों की तरह इस उपन्यास का नायक दलित जाति से नहीं परन्तु उसमें मुक्ति की चेतना कूट–कूटकर भरी है। अतः जातीय दृष्टि से 'सहानुभूति बनाम स्वानुभूति' की समस्या पर दलित समीक्षकों में मतभेद हो सकता है। पूरे उपन्यास की कथावस्तु मूलतः चार मित्रों के निजी जिंदगी के विकास पर केन्द्रित है। चारों मित्र चार प्रवृत्तियों के द्योतक है। इन्हीं के माध्यम से उपन्यासकार दलित मुक्ति आन्दोलन के विकल्पों का विश्लेषण करता है।

उपन्यास के कथावस्तु का प्रारम्भ विजय नामक विद्यार्थी के शैक्षणिक संस्थान में परिचय से होता है। उसका अकेले रहना, सहपाठियों में कौतूहल तथा ईर्ष्या दोनों का विषय बनता है। इन्हीं सहपाठियों में मधु नामक युवती भी है जो शहरी उच्च वर्गीय परिवार से सम्बन्ध रखती है। प्रारम्भ में मधु विजय के इस व्यवहार से जिज्ञासावश बातचीत प्रारम्भ करती है लेकिन विजय की अपनी ग्रामीण पृष्ठभूमि तथा संकोची स्वभाव दोनों ही इसमें बाधा बनते है। मधु विजय के जैसे–जैसे करीब आती है तो उसका भारतीय समाज के उन पहलुओं से परिचय होता है जिनको उसने न देखा था और न ही कही पढ़ा था। चूँकि उसका जिस शहरी पृष्ठभूमि में पालन–पोषण हुआ है और वह जिन लोगों के

बीच रहती आयी है, वह भारत के इस यथार्थ से कब का मुँह मोड़ चुके है। विजय और मधु के प्रारम्भिक परिचय में उपन्यासकार पाठक को विजय के बचपन तथा उसके सामाजिक जीवन स्तर से परिचय करवाता है।

अगले दिन विजय अपने मित्रों से मिलने दिल्ली विश्वविद्यालय में जाता है। सामाजिक समस्याओं पर बाते करते हुए विजय अतीत में अपने तथा मित्रों के बचपन के बारे में सोचने लगता है। यहीं पर उपन्यासकार पुनः उपस्थित होकर पाठकों से उनके जन्म तथा बचपन की कथा से परिचय करवाता है। रणवीर तथा विजय दोनों चचरे भाई है। रणवीर विजय के प्रति आत्मीय भी है। वही महेश और नफे सिंह दलित वर्ग से है। महेश रणवीर के पिता जमींदार रणजीत सिंह की अवैध सन्तान है। महेश और नफे सिंह दोनों ही पात्र दलित है परन्तु जहाँ नफे सिंह में दलित चेतना है, अपने समाज को लेकर संवेदनशीलता है वहीं महेश उन स्वार्थी दलितों का प्रतिनिधित्व करता है जो दलितों के नाम पर मिलने वाली सुविधाओं का लाभ लेकर कामयाबी की सीढ़ियाँ चढ़ते हैं। उपन्यासकार इसके माध्यम से यह बहस छेड़ने की कोशिश करता है कि दलित घर मै पैदा होने या दलित जाति से सम्बन्ध होने के कारण कोई भी दलित चेतना का संवाहक नहीं हो जाता है।

विजय और मधु के मेल–जोल से उनके संस्थान में चिढ़ने वालों की संख्या बढ़ जाती है। मधु के वर्ग के लोगों के लिए विजय जाहिल, गंवार और रेगिस्तानी ऊँट था। मधु के ऐसे दोस्तों में सैनिक सेवा का मेजर सुरजीत सिंह और मोना जैसी सहेली भी शामिल है। उधर नफे सिंह वामपंथी आन्दोलन से जुड़कर एक वामपंथी पार्टी में सम्मिलित हो जाता है। नफे सिंह के माध्यम से उपन्यासकार ने दलित चेतना तथा वामपंथी चेतना के गठजोड़ का राजनैतिक दर्शन सामने रखा है। महेश अपनी तिकड़मों के बल पर न केवल एक दलित मंत्री की पोती को अपने प्रेमजाल में फंसाने में कामयाब हो जाता है बल्कि अपने सम्बन्ध कुलपति तक से बना लेता है। इस प्रकार वह अपनी धाक विभाग में ही नहीं बल्कि विश्वविद्यालय में भी जमा लेता हैं।

इसी क्रम में उपन्यास की कथा आगे बढ़ती है। विजय और नफे सिंह सामाजिक संघर्षों में शरीक होकर अपने अध्ययन का विस्तार करते जाते हैं वहीं महेश 'शार्टकट' के माध्यम से आगे बढ़ता है। इसी बीच रणवीर के पिता जी उसकी शादी तय कर देते हैं। विजय तथा नफे सिंह लड़की के भाई को समझाने जाते हैं। लड़की का भाई अपने दोस्तों के साथ मिलकर दोनों लोगों की खूब पिटाई करता है। उधर रणवीर जिस लड़की से प्रेम करता था, उससे शादी कर लेता है। महेश तथा रणवीर के पिता जमींदार रणजीत सिंह चालाकी से रणवीर, विजय तथा नफे सिंह का अपहरण कर गाँव ले जाता है। यहाँ पर कथाकार ने हरियाणा राज्य की खाप पंचायत की दरिंदगी की बानगी पेश की है। नफे सिंह तथा विजय की कोड़ों से पिटाई की जाती है तथा उनके परिवार का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है।

विजय, मधु तथा नफे सिंह और उसकी राजनीतिक पार्टी पूरी घटना तथा खाप पंचायत की दरिंदगी को समाचार पत्रों के माध्यम से आम जनता के सम्मुख पेश करते हैं। इतना ही नहीं कानून तथा पुलिस की मदद से दोषियों को जेल की सजा करवाते हैं। अब गाँव वाले समझौता करके विजय तथा नफे सिंह से माफी मांगते है। रणवीर अपनी पत्नी के साथ अमेरिका चला जाता है। इधर मधु की सहेली मोना पैसा तथा मौजमस्ती के लिए वेश्यावृत्ति पर उतर आती है।

कथा के अन्त में नफे सिंह रेखा नामक लड़की से प्रेम करने लगता है। उसके विवाह का विरोध रेखा के माता–पिता उसकी जाति के कारण करते हैं। मधु तथा विजय के विवाह का विरोध मधु के पिता उसकी गरीबी तथा वामपंथ की तरफ झुकाव के कारण करते हैं। मधु के पिता विजय की हत्या करने के लिए महेश, मेजर सुरजीत सिंह तथा मोना के साथ मिलकर षड़यंत्र करते हैं। चूँकि इससे पहले विजय तथा नफे सिंह ने मिलकर महेश की काली करतूतों का पर्दाफाश किया था, इसलिए इस षड़यंत्र में उसकी मुख्य भूमिका होती है। इस षड़यंत्र में विजय के पिता की हत्या हो जाती है परन्तु सारे अपराधी पकड़े जाते हैं। अन्ततः नफे सिंह तथा रेखा और विजय तथा मधु विवाह कर लेते हैं।

उपन्यासकार ने पूरे उपन्यास में पात्रों के चरित्रों का विकास बड़ी ही कुशलता से किया है। उपन्यास में वे केवल सामाजिक टाइप के ही पात्र न होकर उनके व्यक्तिगत चरित्र को भी उभारने में सफलता पायी है। दलित मुक्ति आन्दोलन में इस उपन्यास के दर्शन पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

मिस रमिया

कावेरी का उपन्यास 'मिस रमिया' सन् 2007 में प्रकाशित हुआ था। यह इस मामले में उल्लेखनीय है कि यह पहला दलित उपन्यास है जिसका लेखन दलित स्त्री द्वारा हुआ है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र रमिया है तथा उसी के नाम के आधार पर उपन्यास का नाम 'मिस रमिया' रखा गया है।

उपन्यास का कथानक सीधा–सरल है तथा इसकी कथावस्तु एक दलित स्त्री के शैक्षिक संघर्ष पर आधारित है। उपन्यास का प्रारम्भ ही रमिया तथा उसकी सहेली श्यामली के बचपन से होता है। प्रारम्भ में कथानक तेजी से आगे बढ़ता है। दूसरी कक्षा में रमिया का जातिगत उत्पीड़त होता है। इस उत्पीड़न और डर के कारण उसे बुखार आ जाता है परन्तु इस घटना के कारण श्यामली और रमिया की दोस्ती और भी पक्की हो जाती है। दो ही पृष्ठों के घटनाक्रम के बाद उपन्यास का कथाकाल तेजी से आगे जाकर उनके बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक पहुँच जाता है। किशोरावस्था में उपन्यास के तीसरे पात्र बैजू का प्रवेश होता है।

बैजू, श्यामली और रमिया तीनों जंगल में बेर खाने जाते हैं और वहीं पर पेड़ से गिरकर बैजू बेहोश हो जाता है। उसके होश में आने तक एक लम्बा वक्त गुजर जाता है जिसके कारण उन्हें घर पहुँचने में देर हो जाती है। यहीं पर श्यामली के हृदय में बैजू के लिए प्रेम उत्पन्न होता है। उधर देर से पहुँचने के कारण उनके तीन हमउम्र लम्पट सहपाठी इस घटना को किसी अन्य रूप में लेते हैं। वे तीनों मिलकर बैजू की पिटाई भी कर देते हैं। इस प्रकार उपन्यास में खल पात्रों का प्रवेश होता है।

हालांकि उपन्यास में कथावस्तु में आयी कुछ घटनाएँ अस्वाभाविक लगती है। बैजू पिटाई के बाद स्कूल नहीं आता है तो श्यामली उसे देखने उसके घर जाती है। जहाँ श्यामली का एक लम्बा स्वकथन आता है और वह कहती है कि– ''मैं पंडितों के बच्चों से पूछना चाहती हूँ। गाय–बैल, सूअर घोड़ा खाने वाला पंडित भूल गया अपनी बात वैदिक युग का वर्णन देखो, इन लोग ने क्या नहीं खाया? अपने को सब दिन चतुर समझा। यही सब खान–पान और रहन–सहन का वर्णन वेदों में लिखा है, जिसको (लोग) दूसरे वर्ग को सुनने नहीं देते थे कि हमारा ढोल–पोल न खुल जाए। अरे पाखण्डियों, एक दिन मानव में मानवता का जागरण होगा–और गले में घंटिया बाँधना, कान में रांगा पिघला कर भर देना जीभ काट देना, बदला एक–एक कर चुकाया जायेगा। नहीं–नहीं तुम्हारे जैसा निशाचर ये लोग नहीं होंगे।''[29] ऐसे कथनों को देखकर हम कह सकते हैं कि हाईस्कूल की छात्रा इतनी बड़ी ऐतिहासिक चेतना से कैसे लैस हो सकती है। इसी प्रकार बिहार के किसी पिछड़े हिस्से के स्कूल के छात्र अम्बेडकर की जीवनी और एक गदहे की आत्मकथा जैसी पुस्तकों का अध्ययन कब से करने लगे। ऐसी अस्वाभाविक घटनायें कथानक को कमजोर करती हैं।

कथावस्तु में हाईस्कूल की परीक्षा फीस देने की घटना होती है। बाढ़ के कारण सभी किसानों की आर्थिक हालात खस्ता है तो रमिया जैसे दलित परिवार की हालत तो और भी बुरी होगी। रमिया की फीस शिव नामक लड़का दे देता है परन्तु बदले में वह रमिया का दैहिक शोषण करने की कोशिश करता है। इस घटना पर रमिया प्रतिरोध करती है जिसका स्वरूप कुछ यूं होता है– ''क्या यही तुम्हारा उपकार है? लाचारी के उपर व्यभिचार करते तुम्हें शर्म नहीं आई। अब से मेरी ओर नजर उठायी तो आँख फोड़ डालूंगी। मैं कल तक तुम्हारे रुपये वापस कर दूंगी।''[30] यहाँ पर रमिया का प्रतिरोध दलित स्त्री चेतना को प्रतिबिम्बित करता है।

उपन्यास की कथावस्तु में आगे की घटनाओं में रमिया एक तरफ तो हिन्दू धर्म को नकारती है वहीं दूसरी तरफ बार–बार मन्दिरों में पूजा के लिए भी जाती है। ऐसी घटनाओं को देखते हुए कह सकते हैं कि उपन्यास में आया

दलित समाज अभी भी धर्म को लेकर दुविधा में है। इससे कथानक में आये चरित्रों का विकास दो खण्डों में विभक्त हो जाता है। श्यामली जैसी लड़की जो एक तरफ हिन्दू धर्म की पोल खोलती नजर आती है, वह भी शिव मन्दिर और दुर्गा पूजा जैसे पर्वों में उत्साह पूर्वक भाग लेती है। इसी प्रकार बैजू से अपनी दोस्ती को लेकर जहाँ वह आत्मविश्वास से भरी है, वहीं अपनी शादी कहीं और तय होने पर विरोध नहीं करती है। ऐसी घटनाओं ने उपन्यास की कथावस्तु को जहाँ कमजोर किया है वहीं चरित्रों का विकास भी अस्वाभाविक हो जाता है। रमिया के अपने स्कूल पर माधो चाचा तथा उनकी बहू का कब्जा होने के बाद भी उसके द्वारा किया गया प्रतिरोध मरियल सा ही प्रतीत होता है।

अध्यापक प्रशिक्षण केन्द्र में रमिया के साथ जातिगत भेदभाव होता है तो वह वहाँ कोई प्रतिरोध नहीं करती है वरन् हॉस्टल छोड़कर अपनी मौसी के घर रहने चली जाती है। इससे उपन्यास की नायिका की पलायनवादी प्रवृत्ति ही नजर आती है। राँची के स्कूल में रमिया अपमान के प्रतिरोध में शिकायत करती है तो दलित नेताओं तथा अधिकारियों का सहयोग पाने के बाद भी उसका समझौता कर लेना दलित चेतना के प्रतिकूल हो जाता है। सामाजिक प्रतिरोध की इस लड़ाई में उसका अंत तक अकेला रह जाना भी अखरता है। किसी दलित स्त्री की प्रथम रचना होने के कारण कथानक के इस कच्चेपन के बावजूद दलित साहित्य में यह स्वागत योग्य कदम है। आगे ऐसी रचनाओं से प्रेरणा लेकर और भी दलित लेखिकाएँ उपन्यास सृजन के क्षेत्र में आगे आयेंगी।

थमेगा नहीं विद्रोह– उमराव सिंह जाटव का उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' सन् 2008 में प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास दलित समाज में फैली गरीबी, जहालत, अन्धविश्वास, अशिक्षा आदि का चित्रण तो करता ही है, साथ में दलितों में सवर्ण समाज के अन्याय के प्रतिकार स्वरूप फैल रही विद्रोह की चिंगारी को भी बड़ी ही संवदेनशीलता के साथ प्रस्तुत करता है। डॉ. अजमेर सिंह 'काजल' उपन्यास की विशेषता में कहते हैं कि ''समाज के विभिन्न स्तरों

पर विभेदीकरण कायम होना कोई नई बात नहीं है। यह उतनी ही पुरानी है जितना मानवीय समाज लेकिन इसके बावजूद भारतीय समाज के विकृत चेहरे को बहुत कम रचनाएँ ही सही तरह से दिखा पाई हैं। ऐसा करने वाली एक रचना है 'थमेगा नहीं विद्रोह', जिसने समाज की इस विकृत मानसिकता को समझने और समझाने का सार्थक प्रयास किया है। यह आजादी के बाद लोगों के दिलों–दिमाग में उपजे सपनों की पूर्ति न होने की परिणति का सफलता से चित्रण करती है।'' [31] पूरे उपन्यास में विभिन्न कथाओं के माध्यम से जहाँ उपन्यासकार ने जाति व धर्म के सवालों को उठाया है वहीं उसने स्त्री प्रश्नों को भी बड़ी संवेदनाशीलता से पाठकों के सामने पेश किया है।

उपन्यास की पृष्ठभूमि पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर के एक गाँव दरियावपुर की है। भारतीय समाज के जातीय संस्तरीकरण में पश्चिमी उत्तर प्रदेश की स्थिति थोड़ी भिन्न है। यहाँ पर ब्राह्मण या राजपूत की स्थिति सिरमौर वाली नहीं है, वरन् यहाँ पर सामन्त वर्ग की भूमिका पिछड़ी जातियों में शुमार की जाने वाली जाट, गुर्जर, यादव जैसी जातियाँ करती है। दरियावपुर गाँव में भी मुख्यतः दो जातियों का संघर्ष चलता है एक तरफ गुर्जर हैं जो अपने को मालिक वर्ग मानते हैं वहीं दूसरा वर्ग जाटवों का है और वे उन्हीं गुर्जरों के खेतों में मजदूरी करते हैं। कुछ घर मुसलमानों के भी हैं परन्तु उनकी रोजी–रोटी का जुगाड़ विभिन्न व्यवसायों से होता है।

इस उपन्यास का कथानक अभी तक चले आ रहे उपन्यासों से भिन्न है। उपन्यासकार ने कई लम्बी कहानियों का एक पुंज बनाया है परन्तु इन सारी कहानियों को जोड़ने का कार्य वहीं दरियावपुर गाँव करता है। उपन्यासकार उपन्यास के बारे में स्वयं कहता है कि– ''यह कथाव्यथा, आख्यान, व्याख्यान किस्सागोई नहीं है, जीते–जागते, साँस लेते, कष्ट में कराहते, आनन्द में उत्सव मनाते पात्रों की कथा है यह । इसलिए पात्र और चरित्र अपनी कथा कहने को, अपनी मर्जी से जब जहाँ, जैसे चाहें आएंगे जाएंगे, अलबत्ता यह दरियावपुर गाँव प्रत्येक पात्र और चरित्र के साथ अनिवार्य

रूप में स्थिरीकारक सा अवश्य उपस्थित रहेगा तथा कभी–कभार विवशता में सूत्रधार की भूमिका भी मेरे गले आ पड़ेगी। इसे मैं जानता हूँ।''[32]

उपन्यास की कथावस्तु का विकास कई कथाओं के गठजोड़ से हुआ है। इन सारी कथाओं को दरियाव नामक पात्र सूत्रधार की परम्परा में वर्णन करता है। पूरा उपन्यास दरियाव के 'आत्म–संस्मरण' जैसा है। उपन्यास में पहली कथा का प्रारम्भ दरियावपुर गाँव के इतिहास से जुड़ा हुआ है। इसी कथा में लेखक दरियावपुर गाँव के निवासियों के आपसी सामाजिक–सांस्कृतिक सम्बन्धों पर रोशनी डालता है। पूरी कथा का मर्म दलित जातियों की श्रम संस्कृति को स्थापित करता हुआ नजर आता है।

उपन्यास की अगली कथा दरियावपुर के खाला की है। पूरा गाँव उसे 'खाला' ही कहकर सम्बोधित करता है। यह एक ऐसी स्त्री की कहानी का बयां है जिसे धर्म, समाज, तथा खानदान की इज्जत के नाम पर आजीवन प्रेम से दूर कर दिया जाता है। लेखक पूरे उपन्यास में स्त्री पात्रों की मार्मिक संवेदनाओं को कुशलतापूर्वक रेखांकित किया है। खाला पूरे गाँव के हर काम–काज में रची बसी है। उसका प्रेमी जो कि अब फकीर हो गया है, जब गाँव में आता है खाला अपने आपको घर में कैद कर लेती है। एक दिन वह फकीर उसी गाँव में चुपचाप मर जाता है। यह एक सच्चे निःस्वार्थ प्रेम की इंतहा थी। फकीर के मरने पर खाला का सवाल खटकता है– ''मरने के बाद किसने देखा कि कयामत का दिन आएगा भी कि नहीं और आएगा भी तो हम औरतों के साथ कैसा न्याय होगा। बहन सब मिथ्या है, आज मरे कल प्रलय है।''[33] और कुछ दिन में खाला की मृत्यु हो जाती है।

इसी प्रकार कथा आगे बढ़ती है और किस्सा 'जाटवों का कुआँ' की शुरुआत होती है। कुँए की पूरी कहानी जहाँ एक तरफ गुर्जरों की हैवानियत बयां करती है वहीं जाटव मुहल्ले के संगठित प्रतिरोध की सफलता भी दिखाती है। यह पूरी कथा दलितों के संगठित प्रतिरोध की मिसाल है लेकिन कथानक का यही हिस्सा हमें सोचने पर भी विवश करता है। दसोंधी की मौत तथा रामरती का उम्र के इस पड़ाव में बलात्कार और उसकी आत्महत्या की घटना

के बाद भी गुर्जरों से समझौता करना, प्रतिरोध को अधूरा कर देता है। यदि संघर्ष आगे बढ़ता तो जाटव मुहल्ला गुर्जरों को सजा दिलाने में कामयाब होता, परन्तु यहाँ दोनों की मौत व्यर्थ चली जाती है।

उपन्यास में आगे की कथावस्तु का विकास भागो वाली प्रकरण से होता है। भागो उपन्यास के सूत्रधार दरियाव की पड़ोसन है। उसके पिता अन्धविश्वास के चक्कर में पड़कर 'जात' लगाते हैं। 'जात' लगाने के लिए एक हजार रूपया कर्ज लेते हैं और उसके एवज में जिंदगी भर बंधुआ मजदूर बन जाते हैं। ऐसे में आर्थिक अभावों के कारण भागों का विवाह तपेदिक के मरीज से हो जाता है और भागो भी तपेदिक के संक्रमण से मर जाती है। यह पूरा हिस्सा दलितों में अंधविश्वास, अशिक्षा तथा गरीबी के कारण लड़कियों का जीवन किस प्रकार नारकीय हो जाता है, उसी को बयां करता है।

तुलाराम और चावली की कहानी दलितों में संस्कृतिकरण और धर्म परिवर्तन की नाकामी को दर्शाती है। चावली के पिता खचेडू पहले आर्य समाज में सम्मिलित होते हैं। आर्य समाज में उन्हें सैद्धान्तिक रूप से तो बराबरी का दर्जा दिया जाता है परन्तु व्यवहार में उसका प्रयोग कभी नहीं होता है। आर्यसमाज के मन्दिर में चावली के साथ बलात्कार हो जाता है जिससे खचेडू महाशय का आर्य समाज से मोहभंग होता है और वह ईसाई बनते हैं। परन्तु प्रत्येक धर्म में उनका स्थान मेहतर का ही होता है। तुलाराम कृष्ण मन्दिर बनाने के एवज में न केवल अपनी पुरखों की पाँच बीघा जमीन गँवाता है बलिक उसका रुपान्तरण तुलाराम भगत से तुलाराम मजदूर के रूप में हो जाता है। जिस मन्दिर को अपने समृद्धि और खुशहाली के लिए बनवाता है उसी के कारण उसका पूरा परिवार बिखर जाता है।

पूरे उपन्यास में सबसे जीवन्त पात्र चावली का है। पुत्र पैदा न होने के कारण घर में उसकी सौत आ जाती है, परन्तु दाई के कार्य में निपुण होने के कारण उसे कभी धनाभाव की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है। समाज का प्रतिष्ठित समुदाय जो दिन में उससे छुआछूत बरतता है, रात में अपने घर की प्रतिष्ठा के लिए उसके पाँव पकड़ने से भी पीछे नहीं हटता। उपन्यासकार

चावली की कथा के माध्यम से इस खोखले समाज की खोखली प्रतिष्ठा और सम्मान की हक़ीकत पाठकों के सामने रखता है।

पूरे उपन्यास का कथानक ढीला–ढाला अवश्य है परन्तु कथानक के प्रत्येक हिस्से से दलितों के विद्रोह की ज्वाला दिखायी देती है। पूरा उपन्यास दलित समस्याओं को अत्यन्त सूक्ष्मता से प्रस्तुत करता है।

उधर के लोग– अजय नावरिया जी का उपन्यास 'उधर के लोग' राजकमल प्रकाशन से 2008 में प्रकाशित हुआ था। अपने प्रकाशन के साथ ही यह कई मामलों में चर्चित रहा। उपन्यास के कथानक की पृष्ठभूमि का क्षेत्र राजधानी दिल्ली है। उपन्यास का कथानक जातीय विमर्श, उपजाति विमर्श, तथा स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के इर्द–गिर्द घूमता है। उपन्यास में दलित वर्ग की जाति तथा उपजाति की समस्या पर विभिन्न पात्रों के माध्यम से बहस की गयी है। उपजाति विमर्श की सारी चर्चा आरक्षण एवं राजनीतिक अधिकारों पर आधारित रही है तथा एक खास जाति (चमार) के बारे में कहा गया है कि आरक्षण का सबसे अधिक फायदा उसी जाति ने उठाया है। रजतरानी मीनू इस प्रकार के विश्लेषण का विरोध करते हुए कहती हैं कि– ''उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती की राजनीतिक सत्ता को पूरे चमार समाज को सत्ता सम्पन्न मान लिया जायेगा तो समाज का अध्ययन अधूरा होगा। आम चमारों के पास क्या है, ऐसी कौन सी सत्ता उनके पास है जो खटीक और उसके समानान्तर उपजातियाँ उनसे लेना चाहती हैं? शिक्षा, साहित्य, मीडिया, ज्ञान, विज्ञान, निजी कंपनियाँ और तमाम तरह की निजी संस्थाओं पर क्या चमार काबिज है? देने वाला कौन है? सत्ता सदियों से किसके पास रही है? यह जानते हुए लेखक का अन्जान बनना और राजनीति के दुश्चक्र में फंसना साहित्य और समाज दोनों का अहित ही होगा।''[34] इस उपजाति विमर्श पर कई और समीक्षकों की भी राय इसके विरोध में ही होगी परन्तु दलित उपजातियों में बढ़ने वाले विभेद पर विमर्श करके ही दलित समाज मजबूत, संगठित तथा चेतनशील होगा और उसमें सवर्ण समाज से लड़ने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा आयेगी।

उपन्यास के नायक की पृष्ठभूमि दलितों में उभर आये मध्यवर्ग से है जो कि प्रोफेसर है। उसके मित्रों में भी आई.ए.एस तथा आई.पी.एस. जैसे लोग है तथा इनकी जीवन शैली शहरी मध्यवर्गीय है। अतः इनकी समस्याओं का स्वरूप भी दो भागों में बंटा है। अभय कुमार दूबे ने कहा है कि– ''नये शहर की तलाश में आया हुआ दलित नायक नागरिकता के आवरण से भी अपनी नीची जाति छिपाने में नाकाम है। जो केंचुल उसने अछूतबाड़े में छोड़ दी थी वह अभी भी उसके अंग के साथ चिपटी हुई है। वह नागरिक समाज की खोज में फिलहाल नाकाम हो चुका है।''[35] इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नायक तथा उसके साथी भी जातीय अवमाननाओं से मुक्त नहीं हो पाये हैं। संकट के बादल तो अब और भी गहरे हो रहे हैं। दलितों में जातियों एवं उपजातियों को लेकर विभेद बढ़ने लगा है।

जहाँ तक उपन्यास की कथावस्तु का सवाल है वह मुख्यतः दो बिन्दुओं पर केन्द्रित है– एक जाति का सवाल तथा दूसरा स्त्री–पुरुष सम्बन्ध। कथावस्तु का प्रारम्भ एक आलीशान रेस्तरां से होता है जहाँ प्रोफेसर (नायक) तथा आयशा नाम की लड़की बैठे हुए हैं। उपन्यासकार ने उपन्यास के नायक को नाम न देकर 'प्रोफेसर' नाम से पूरे उपन्यास में प्रस्तुत किया है। पूरे उपन्यास की कथावस्तु में प्रोफेसर साहब के जीवन से जुड़ी घटनाएँ ही आती हैं ओर उनकी समीक्षा भी वह ही स्वयं ही करता है। इसी क्रम में प्रोफेसर आयशा का पूरा परिचय (फ्लैश बैक में) देता है। इसी घटनाक्रम में पता चलता है कि वह वेश्यावृत्ति करती है। बातों के क्रम में ही पता चलता है कि वह एक अवैध सन्तान थी तथा जहाँ पर नौकरी करना प्रारंभ किया वहीं से उसके शारीरिक शोषण की शुरुआत हुई। अन्ततः आयशा दुनियादारी समझ गयी और उसने इसी धंधे से पैसा बनाना शुरु कर दिया।

प्रोफेसर साहब से इन्हीं यादों के क्रम में पता चलता है उनकी दो शदियाँ हो चुकी है। पहली पत्नी बन्दना झा थी तथा दूसरी संगीता। नायक का पहला विवाह अन्तर्जातीय हुआ था तथा पत्नी वन्दना ब्राह्मण जाति से थी। नायक तथा वन्दना का कॉलेज में प्रेम होता है और वे दोनों शादी करने का

फैसला करते हैं। बाबा साहब अम्बेडकर ने भी जाति–प्रथा को तोड़ने के लिए अन्तर्जातीय विवाह की बात की थी। उपन्यासकार ने इस कथा के माध्यम से अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को दर्ज करने का प्रयास किया है। वन्दना से नायक का विवाह असफल रहता है। विवाह की असफलता को उपन्यासकार ने सांस्कृतिक विभिन्नता में देखा है। शादी से पहले नायक के पिता का वक्तव्य काबिलेगौर है कि– ''शादी करना तुम्हारा अधिकार है। कैसे करो, किससे करो, कब करो– यह तुम जानो।'' इसी क्रम में वे आगे कहते हैं विलोई हुई छाछ में दला हुआ दलिया घुलता है, दूध में नहीं... वन्दना की संस्कृति अलग है।''[36] परन्तु यहाँ पर नायक और वन्दना के सम्बन्धों की पड़ताल अधूरी रह जाती है। ऐसे सम्बन्धों की पड़ताल नायक के अतिरिक्त किसी ऐसे पात्र को भी करनी चाहिए थी जिससे वन्दना का पक्ष भी उभर कर सामने आता।

इसके अतिरिक्त नायक अपनी दूसरी पत्नी से भी अलग रह रहा है तथा वह अपनी पत्नी को वापस अपने घर लाना चाहता है। प्रोफेसर साहब अपने दूसरे विवाह में अपने पिता तथा अन्य रिश्तेदार जो कि यह विवाह करवा रहे थे, से चाहते है कि वे प्रथम विवाह के बारे में लड़की को बता दे परन्तु संगीता को विवाह से पहले यह सब नहीं बताया जाता है। जब उसे प्रथम विवाह तथा वन्दना के बारे में पता चलता है तो वह नाराज होकर घर से चली जाती है। अब इधर नायक एक तरफ तो आयशा से दोस्ती भी चाहता है और दूसरी तरफ पत्नी जो कि गर्भवती है उसे वापस घर भी लाना चाहता है।

नायक की दोस्ती आयशा से बढ़ती जाती है और वहीं आयशा संगीता को बच्चे को जन्म देने के लिए भी मना लेती है। नायक तथा आयशा के सम्बन्धों की परिणति शारीरिक सम्बन्धों तक पहुँचती है तो एक बारगी यह लगता है कि उपन्यास का अन्त नायक तथा संगीता के विवाह के ट्रैजिक समाप्ति पर न हो जाय। परन्तु एक बार फिर से कहानी पलट जाती है आयशा सामाजिक सेवा के लिए कलकत्ता चली जाती है तथा उपन्यास के अंत में नायक अपनी पत्नी संगीता तथा बेटी के साथ मिल जाता है।

उपन्यासकार ने दलित मध्यवर्गीय शहरी जीवन को लक्ष्य करके उपन्यास लिखा है। हालांकिउपन्यास में कहीं–कहीं पुरुषवादी नजरिए की छाप भी दिखायी पड़ती है लेकिन अगर पात्रों के चरित्र चित्रण पर नजर डाले तो सभी पात्र सजीव रूप में दिखायी देते है। पहली बार किसी उपन्यास में दलित नायक 'मानवीय भूलें' करता है। चूँकि सभी पात्र मध्यवर्गीय है इसलिए उनकी सामाजिक सोच का दायरा भी कुछ–कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं जैसा ही है जैसे अस्पताल बनवाना। अन्त में हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार उपन्यास की कथावस्तु में आधुनिक शहरी मध्यवर्गीय दलितों की समस्याओं तथा संवेदनाओं को अंकित करने में काफी हद तक सफल रहा है।

ग़दर जारी रहेगा

एस.के. पंजम जी का उपन्यास 'ग़दर जारी रहेगा' 2010 में प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व भी पंजम जी ने 'दलित दहन' जैसा महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा है। 'गदर जारी रहेगा' उपन्यास मूलतः दलित समस्याओं पर केन्द्रित नहीं है। यह उपन्यास विस्थापितों, मजदूरों, किसानों तथा आदिवासियों की भुखमरी, बदहाली, शोषण जैसी समस्याओं पर केन्द्रित है। पंजम जी ने दलित चेतना में नयें आयामों को जोड़ने तथा दलित चेतना के नयें संवाहकों की तलाश की है। जैसा कि उपन्यास की भूमिका में ही उन्होंने लिखा है कि– ''सेज (SEZ) के नाम पर किसानों/आदिवासियों के उत्पीड़न भूमि अधिग्रहण और विस्थापन ने आम जन को तोड़ कर रख दिया। सिंगुर कलिंग या ऐसे ही सैकड़ों खूनी पंजों ने जनता का गला घोट दिया। गदर जारी रहेगा उपन्यास साम्राज्यवाद/ सामन्तवाद की लूट और खसोट का कच्चा–चिट्ठा है।''[37]

उपन्यास का प्रारम्भ अलिवेलम्मा नामक मजदूर स्त्री से होता है जो कि मेहनत–मजदूरी करके अपने घर वालों का पेट भरती है। अलिवेलम्मा का शारीरिक शोषण पहले सामंत के बेटे करते हैं फिर विस्थापित मजदूरों का मुंशी। उसका अपना पति भी उसके पैसे छीनकर जुए और शराब में उड़ाता है। पैसे न देने पर मारता–पीटता भी है। अन्ततः उससे तंग आकर वह नक्सली संगठन से सहयोग माँगती है और अपने पति को छोड़कर वह खुद

संगठन में शामिल हो जाती है। घर छोड़ने से पहले उसकी एक बेटी भी रहती है जिसे वह दुनियां के भरोसे छोड़ देती है।

लेखक ने नक्सली संगठन की बहुत ही सतही जानकारी के सहारे अपने उपन्यास की कथावस्तु को विस्तार दिया है। जिस प्रकार उसने अलिवेलम्मा की एक के बाद एक शादियाँ करवायी है वह बहुत ही सतही लेखन का परिचायक है। अलिवेलम्मा नक्सली कार्यवाहियों में बढ़चढ़कर भाग लेती है जिसके कारण पुलिस प्रशासन उस पर आत्मसमर्पण के दबाव के लिए उसकी बेटी शीतल को हथियार की तरह प्रयोग करती है। पुसिलकर्मियों द्वारा थाने में ही शीतल का बलात्कार किया जाता है। शीतल समाजसेवी संगठनों के दबाव में छूट जाती है। परन्तु इसके बाद उसने नक्सली संगठन में जाने का फैसला कर लिया।

हालांकि उपन्यास की कथावस्तु बहुत तेजी से आगे बढ़ती है। शीतल नक्सली आन्दोलन में ही शादी करती है। एक पुलिस मुठभेड़ में उसका पति नारायण मारा जाता है। शीतल नक्सली आन्दोलन छोड़कर पुनः मजदूरी का कार्य करने लगती है। मजदूरों के शोषण के खिलाफ शीतल, उसकी माँ अलिवेलम्मा, शैलेन्द्र आदि मिलकर संगठन बनाते हैं। सरकार इन्हीं मजदूरों किसानों, आदिवासियों की जमीन पर 'सेज' जैसी परियोजना बनाती है। मजदूरों का शोषण चौतरफा होने लगता है। एक तरफ उनका ठेकेदार शोषण करता है, दूसरी तरफ सरकारी मशीनरी उनकी जमीन छीनने की कोशिश में लग जाती है तो तीसरी तरफ इसी शोषण में स्वामी–संत जैसे धर्म के ठेकेदार भी हिस्सा बँटाते नजर आते हैं।

उपन्यास के अन्त में जमीन बचाने के लिए सारी सर्वहारा जनता एक तरफ संगठित होती है तो दूसरी तरफ उनके विपक्ष में राज्य सत्ता, पूँजीपति, राजनेता, सामन्त–साहूकार आदि सभी मिलकर जमीन हड़पने की कोशिश करते हैं। जमीन की लड़ाई में सशस्त्र संघर्ष होता है जिसमें ढेर सारे आदिवासी, मजदूर अपनी जान गवाँ देते हैं। पुलिस द्वारा गोलीबारी रोकने पर सभी लोग भाग जाते हैं परन्तु शीतल, शैलेन्द्र तथा उनके साथी गिरफ्तार कर

लिए जाते हैं। मजदूरों तथा आदिवासियों की जमीन तो बच जाती है परन्तु शीतल और शैलेन्द्र को उम्रकैद की सजा हो जाती है।

उपन्यास का कथानक बिखरा हुआ है। उपन्यासकार ने कई ऐसी कल्पनायें की है जो अविश्वसनीय है। मजदूरों को लाठी–भाले की ट्रेनिंग तक तो ठीक है परन्तु इतने अल्प संसाधनों में बन्दूक चलाने की ट्रेनिंग कैसे सम्भव है। मजदूरों की यदि इतनी आय होती कि वह बन्दूक–पिस्तौल खरीद सके तो उनका शोषण ही क्यों होता। अतः उपन्यासकार को सलाह होगी कि यदि नक्सली या आदिवासी पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखना हो तो उसकी गहरी, संवेदनशील जानकारी इकट्ठी करे तथा समस्याओं की जड़ तक पहुँचने की कोशिश करे।

सुबह के लिए

कैलाश चन्द चौहान जी का उपन्यास 'सुबह के लिए' सन् 2011 में प्रकाशित हुआ था। इससे पहले भी दलित समस्याओं को लेकर उनकी कहानियाँ चर्चित रही है। यह उपन्यास भी दलित जीवन की समस्याओं को पुरजोर तरीके से उठाता है तथा सवर्ण समाज तथा शोषक संस्थाओं द्वारा लादी गयी अवमाननाओं का पुरजोर तरीके से विरोध करता है। उपन्यास की भूमिका में डॉ. गुलाब कहते हैं कि– ''आत्मकथा के अतिरिक्त कथा साहित्य में भी भारतीय समाज व्यवस्था की जातिवादी बुनावट पर प्रहार हुए हैं। यह सब समाज को स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुता पर आधारित मानव मूल्यों को हासिल करने एवं उसे गरिमापूर्ण जीवन प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया। इस कड़ी में कैलाश चंद चौहान रचित सुबह के लिए उपन्यास दलित जीवन के दुखते, कसकते अनुभवों को शब्दबद्ध करने का उल्लेखनीय प्रयास है।''[38]

उपन्यास की कथावस्तु का प्रारम्भ गाँव से होता है। उपन्यासकार ने ग्रामीण कथा के प्रारम्भ में ही स्त्रियों के सवाल को संवेदनात्मक तरीके से प्रस्तुत किया है। सोनी जो कि सवर्ण जाति की स्त्री है निः संतति की पीड़ा से व्यथित है। बच्चा न पैदा होने के कारण घर में सास–ससुर, पति सभी उससे

घृणा करते है। उपन्यास का यह व्यक्तव्य देखने लायक है, ''पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की पहचान का मुख्य आधार क्या है? संतानोत्पत्ति। स्त्री कितना भी अच्छा खाना बना लेती हों। गृहकार्य में दक्ष हो। कितनी भी व्यवहार कुशल हो... किसी भी विवाहित स्त्री के लिए सर्वाधिक नकारात्मक टिप्पणी बांझ मानी जाती है।''[39] हालांकि उपन्यास की कथावस्तु में ऐसे विचार पात्रों के नहीं है। ऐसे विचार स्वयं उपन्यासकार के है। उपन्यासकार द्वारा कथावस्तु में इस प्रकार से भाषण देने के लिए स्वयं उपस्थित होना यह दिखाता है कि उपन्यास की कथावस्तु में लेखक के पूरे विचार प्रकट नहीं हो पा रहे हैं।

औपन्यासिक कथावस्तु आगे बढ़ती है जिसमें सोनी तथा उसके दलित नौकर काले के शरीरिक सम्बन्धों से एक बेटा पैदा होता है जो कि जमींदार बलदेव सिंह का वारिस बनता है। काले की भी शादी हो जाती है। काले की पत्नी फूलो के विदाई के अवसर पर उपन्यासकार का कथन संवेदनहीनता का परिचायक है। उपन्यासकार कहता है कि– ''फूलो समाज के तानों से बचने के लिए खूब रोई। कोई यह न कह सके कि 'देख चुपचाप चली गई।' उसे तो अपने माँ–बापू भाई से जुदा होने का तनिक भी दुख नहीं हुआ।''[40] लड़कियाँ जब प्रेम विवाह करती है तब भी उनको घर छूटने का दुख होता है। यहाँ तो फूलो एक अनजान घर में जा रही है। पति कैसा होगा, उसकी माँ कैसी होगी, इससे वह बेखबर है। यहाँ उपन्यासकार की टिप्पणी उसकी संवेदनहीनता का परिचायक है।

कथानक आगे बढ़ता है, काले के घर भी एक लड़का तथा लड़की पैदा हो गये। सोनी के लड़के का नाम हेमंत तथा काले के लड़के का नाम विक्रम तथा लड़की का नाम स्नेहा रखा गया। दोनों घरों के बच्चे स्कूल जाने लगे। हेमंत लाड़–प्यार में पढ़ाई पर ध्यान नहीं देता है वहीं विक्रम पूरी कक्षा में पढ़ने में सबसे ज्यादा तेज रहता है। स्कूल के अध्यापक जाट है अतः विक्रम को पढ़ाई में अव्वल देखकर हमेशा भड़कते हैं। उपन्यास का यह पूरा हिस्सा मूलतः शिक्षा व्यवस्था में जाति के फैले जहर को दिखाता है। एक दिन काले की तबियत खराब हो जाती है तथा झाड़–फूंक तथा अन्धविश्वास के चक्कर में उसकी मृत्यु हो जाती है।

इसके बाद उपन्यास की कथावस्तु में तेजी से विकास होता है विक्रम आगे की पढ़ाई करते हुए उत्तीर्ण होता जाता है। इस पूरे भाग में कथाकार ने मूलतः तात्रिकों की चालकियों का ही ब्योरा दिया है। विक्रम का दाखिला इन्जीनियरिंग कॉलेज में हो गया। वह पढ़ाई करने शहर अपनी बुआ के पास आ जाता है। यही से पूरा उपन्यास मूलतः फार्मूले जैसा हो गया है। वह शहर की दलित बस्ती में स्कूल खोलता है। उसका प्रियंका नामक सवर्ण लड़की से प्यार भी होता है। प्रिंयंका तथा विक्रम के रिश्ते से प्रियंका के पिता जी भड़क जाते हैं।

कथानक आगे बढ़ता है और आगे की घटनाओं में शहरों में दलित सफाई कर्मियों का शोषण किस प्रकार होता है इसे उपन्यासकार ने समस्या की तह में जाकर दिखाया है। चाहे विक्रम के फूफा जी का कर्ज लेने की समस्या हो या लक्ष्मी जैसी युवती का शारीरिक शोषण करने के लिए सफाई दरोगा द्वारा जानबूझकर परेशान किया जाना, विक्रम इन सबका सक्रिय विरोध करता है तथा अपराधियों को सजा दिलवाता है। इसी प्रकार की एक घटना में उसके फूफा जी की नाले में दम घुटने से मृत्यु हो जाती है। विक्रम के फूफा जी को मजबूर करके सफाई करने के लिए सीवर में घुसाया जाता है जिससे उनकी मृत्यु हो जाती है। यथार्थ परिस्थितियों में भी इस तरह की घटना की भयावहता हम आनंद तेलतुम्बड़े के एक लेख से समझ सकते हैं– ''इस अमानवीय काम से मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष की रहमनुमाई कर रहे सफाईकर्मी आन्दोलन (एस.के.ए.) के बैनर तले निकाले गये जुलूस में दर्द भरे तरीके से वे पुकार रहे थे। हमारी जान मत लो। ऐसा कहते हुए वे हर साल होने वाली 22000 सफाई कर्मियों की गुमनाम मौतों का वे हवाला दे रहे थे (अखिरकार भाजपा के सांसद तरुण विजय ने राज्य सभा में अभी पिछले महीने ही इसे कबूल किया है।'')[41] उपन्यासकर ने सरकारी मशीनरी द्वारा दलित सफाई कर्मियों की भयावह हत्या को प्रस्तुत करके समस्या को सार्थक ढंग से उठाया है।

इसके बाद कथावस्तु में दलित सफाईकर्मियों की मौत पर दलित नेताओं द्वारा की गयी घिनौनी राजनीति दिखायी देती है। विक्रम की इन्जीनियरिंग की

पढ़ाई खत्म हो जाती है, उधर उसके समाज सेवा का कार्य भी फलीभूत होने लगता है। विक्रम गाँव जाता है जहाँ पर उसे अपनी नौकरी लगने की डाकसूचना मिलती है। गाँव के सवर्ण द्वारा जातिसूचक शब्दों के प्रयोग पर विक्रम विरोध करता है। उपन्यास के अन्त में दलितों की तरक्की से घृणा के कारण सवर्णों द्वारा दलितों का घर जलाना गोहाना, मिर्चपुर जैसी घटनाओं की याद दिलाता है। अन्त में विक्रम अपनी माँ तथा बहन स्नेहा के साथ दिल्ली आ जाता है। उपन्यास की कथावस्तु यहीं पर समाप्त हो जाती है।

जख़्म हमारे– मोहनदास नैमिशराय जी का उपन्यास 'जख़्म हमारे' सन् 2011 में प्रकाशित हुआ था। नैमिशराय जी दलित साहित्य के सशक्त रचनाकार है। उन्होंने इस उपन्यास में साम्प्रदायिकता को लक्ष्य करके लिखा है जो उनकी बहुआयामी रचनात्मकाता का बानगी है। साम्प्रदायिक दंगों के कारण सबसे ज्यादा नुकसान समाज के हाशिये के तबकों (दलित, अल्पसंख्यक) का होता है। रचनाकार का दंगों का अपना निजी अनुभव भी उसे इस तरह के रचनात्मक लेखन के लिए जमीन मुहैय्या कराता है। भूमिका में लेखक ने स्वयं लिखा है कि– ''जन्म से ही मेरे मन मस्तिष्क पर साम्प्रदायिक दंगों के हजारों चित्र अंकित होते रहे हैं। मैं उस शहर से ताल्लुक रखता हूँ जिस शहर में आजादी के बाद लगभग पचासों बार हिन्दू मुसलमानों के बीच दंगे हुए। मेरे भीतर वह सामाजिक दुर्घटना अभी भी अंकित है।''[42]

उपन्यास का कथावस्तु मुख्यतः दो भागों में बँटी हुई है। औपन्यासिक कथा का विकास गुजरात की पृष्ठभूमि में हुआ है। उपन्यास का प्रारम्भ गुजरात में आये भूकम्प से हुआ है जिसने वहाँ के जनजीवन को तबाह कर दिया। भूकम्प ने घरों व दुकानों को तबाह कर दिया और उससे बर्बाद हुए लोगों को विभिन्न शिविरों में शरण लेनी पड़ी। गुलाम अहमद जो कि उपन्यास के प्रारम्भिक हिस्से का महत्वपूर्ण दलित किरदार है, शहर में मजदूरी करता है। उपन्यास के प्रारम्भिक हिस्से की कथा उसी के इर्द–गिर्द घूमती है। शिविर में शरण लिए हुआ लोग भूकम्म की तबाही के कारण विपदाग्रस्त हैं परन्तु ऐसे हालत में भी वे अपनी जातीय श्रेष्ठता के अहंकार को नहीं भूलते है तथा

गुलाम अहमद को जातिसूचक गालियों के साथ अलग लाईन में खड़ा होने के लिए मजबूर करते है। प्राकृतिक आपदा ने सभी दुखियारों को इकट्ठा तो कर दिया परन्तु दलित उसमें भी अपने आपको अलग–थलग ही महसूस करता है। उपन्यासकार गुलाम अहमद की परिस्थिति पर लिखता है कि– ''वह उनके बीच अजनबी बन गया था। भूचाल में सब कुछ ध्वस्त हो गया था, पर जाति नहीं।''[43]

शिविर में गुलाम अहमद को अपनी पत्नी व बच्चों की याद आती है और वह उनसे मिलने अपने गाँव वापस आता है। गाँव में उसकी पत्नी व बच्चों की घर में दबकर मृत्यु हो गयी थी। वह पत्नी व बच्चों की लाश को दफनाकर शहर वापस आ जाता है। शहर में उसकी मुलाकात सरजू मोची से होती है जो उसे पुलिस महकमें में काम की तलाश में ले जाता है। यहाँ आधुनिक भारत का एक और यथार्थ सामने आता है कि व्यक्ति को काम भी उसकी जाति के हिसाब से ही दिया जाता है। गुलाम को मलबे से लाश निकालने का काम मिलता है। मलबों से लाश निकालते–निकालते वह बीमार होकर खुद एक लाश में तब्दील हो जाता है। उपन्यास के कथानक का यह पूरा हिस्सा प्राकृतिक आपदा के कारण दलितों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को दिखाता है। यहाँ आपदाओं द्वारा किया गया नुकसान भी जाति के आधार पर कम या ज्यादा होता है अर्थात उच्च वर्ण–जाति के लोग इससे जल्दी उबर जाते है, वहीं शोषित तबका और भी शोषित होने के लिए मजबूर हो जाता है।

उपन्यास का दूसरा हिस्सा साम्प्रदायिक दंगों पर आधारित है। राजू परमार जो कि गुलाम अहमद का भतीजा है, भूकम्प के कारण चोटिल हो जाता है। जिस दिन गुलाम अहमद की मृत्यु होती है, उसी दिन वह अस्पताल से बाहर निकाल दिया जाता है। भूकम्प के हादसे ने उससे भी उसके पुराने दोस्त, रहने का घर सबकुछ छीन लिया। इसी असहाय स्थिति में उसकी मुलाकात असलम से होती है जो उसे अपने घर ले जाता है। दूसरी तरफ उपन्यास की नायिका सादिया का विवरण आता है जो अपने अब्बा के साथ रहती है। उसकी माँ और भाई की साम्प्रदायिक दंगों में हत्या हो गयी थी।

राजू ठीक होने के बाद रविदास हॉस्टल में रहने लगता है तथा उसका दाख़िला सरदार पटेल डिग्री कॉलेज में हो जाता है। असलम तथा उसके दोस्तों के साथ मिलकर राजू दलित मुस्लिम महासंघ में काम करने लगता है तथा इंकलाब पत्रिका में लेखन भी करता है। उपन्यास के इसी हिस्से में लेखक का दलित मुक्ति को लेकर विचार उभर कर आता है। लेखक कहता है कि– ''दलित–मुसलमानों का एक ही साझा दर्द था। और वह यह है कि आजादी के पचास बरस बीत जाने के बाद भी उन पर जुल्म और अत्याचार होते रहे हैं। सवर्णों की केन्द्रीय धारा में उन्हें जानबूझकर शामिल नहीं किया जाता है। धन और धरती में उनकी हिस्सेदारी नगण्य थी।''[44]

कथावस्तु के विकास क्रम में राजू सादिया को कुछ साम्प्रदायिक हिन्दू धर्मांधों से बचाता है। उसके बाद उनकी मुलाकात कॉलेज में होती है। सादिया राजू के विचारों एवं कार्यों से प्रभावित होकर प्रेम करने लगती है। राजू के हिन्दू–मुस्लिम गठजोड़ का विरोध, हिन्दू धर्मांध तथा सत्ता दोनों ही पुरजोर तरीके से करते है। राजू का विरोध करते हुए सत्तासीन लोग उसे हॉस्टल से बाहर निकाल देते हैं। इसी दलित–मुस्लिम गठजोड़ को तोड़ने के लिए शहर में साम्प्रदायिक दंगा करवाया जाता है। उपन्यास की कथावस्तु में एक तरफ जहाँ हिन्दू साम्प्रदायिकता की आलोचना दिखायी देती है वहीं लेखक मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भी आलोचना करता है। औपन्यासिक कथा में आया यह विवरण इसकी बानगी है– ''हिन्दूओं से पीछे नहीं थे कुछ मुस्लिम नेता। वे आपस में भी लड़ रहे थे। उनके सामने कौम की खिदमत का सवाल नहीं था। सियासत में अपना–अपना कद बड़ा करने की मुहिम थी उनकी। वे न धर्म को जानते थे, और न मुल्क को। अख़बारों और रिसालों के माध्यम से वे जहर उगल रहे थे।''[45]

साम्प्रदायिक दंगों में सादिया के पिता की हत्या हो जाती है। उनकी फैक्ट्री तथा घर दोनों को दंगाई जला देते हैं। सादिया के पड़ोसी उसको छुपाकर उसकी जान बचाते हैं। दूसरी तरफ हिन्दू–धर्मांधता की आड़ में साम्प्रदायिक पार्टी चुनाव जीत जाती है। उपन्यास का अन्त इस दृढ़ निश्चय

के साथ होता है कि इस साम्प्रदायिकता का भी संगठित होकर सामना किया जायेगा।

भंवर– कैलाश चन्द्र चौहान का उपन्यास 'भंवर' सन् 2013 में प्रकाशित हुआ तथा यह उनका दूसरा उपन्यास है। उपन्यासकार की विशेषता में जयप्रकाश कर्दम जी कहते हैं कि– ''कैलाश की विशेषता यह कि लेखक होने के साथ–साथ वह सामाजिक कार्यकर्ता भी है। सामाजिक कार्यकर्ता होने के नाते सामाजिक सम्बन्धों, परिस्थितियों के साथ–साथ सामाजिक तनावों, दबावों की उनको पहचान है। समाज की कौन–सी नब्ज कमजोर है, कहाँ पर नश्तर मारना है, कहाँ जख्म है, कहाँ मरहम लगाना है, यह सब की समझ उनको है।''[46] पूरे उपन्यास को पढ़ने के बाद कर्दम जी के कथन की सार्थकता समझ में आती है। उपन्यासकार ने अपनी एक रचना में दलितों की तीन पीढ़ियों की संवेदनशील कथा को प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार ने औपन्यासिक कथा में जहाँ एक तरफ आधुनिक शहरी दलित मध्यवर्ग को निशाने पर रखा है जो अपनी जातीय पहचान को लेकर सशंकित है वहीं दूसरी तरफ दलित समाज की रुढ़ियों, परम्पराओं को भी नहीं बख्शा है चाहे वह अशिक्षा हो, या बेटा–बेटी का विभेद हो।

उपन्यास की कथावस्तु प्रारम्भ में दो समानान्तर कथाओं के साथ विकसित होती है। एक कथा शहरी दलित मध्यम वर्ग पर आधारित है, वहीं दूसरी ग्रामीण दलित समाज पर। औपन्यासिक कथा का प्रारम्भ सुधाकर नामक युवा पात्र के परिचय से होता है जो उपन्यास का नायक है। उपन्यास में आये विवरण से पता चलता है कि वह मूलतः अंबाला (हरियाणा) का रहने वाला है तथा दिल्ली में उसका बैंक मैनेजर के रूप में ट्रांसफर हुआ है। पुष्पा अपने पति लोकेश तथा बेटी मनोरमा के साथ रहती है तथा सुधाकर उसके यहाँ किरायेदार के रूप में रहता है। अनामिका और सुधाकर हमउम्र है। अनामिका अपने नौकरानी का बैंक में एकाउंट खुलवाने जाती है और वहीं से उनके रिश्ते में घनिष्ठता आने लगती है। अनामिका व सुधाकर को साथ में देखकर पुष्पा अपने अतीत में चली जाती है तथा इसके माध्यम से औपन्यासिक कथा में एक

नयी उपकथा जुड़ती है। इस उपकथा से पता चलता है कि पुष्पा ने अपने युवावस्था में अर्न्तजातीय प्रेम किया था तथा वह गर्भवती भी हो गयी थी। पुष्पा से विवाह के मसले पर सवर्ण समाज की मानसिकता खुल कर सामने आती है। लड़के के पिता कहते हैं कि– ''तू मौजमस्ती किसी के साथ भी कर ले, तुझे पूरी छूट है। लेकिन तुझे शादी किसी ठाकुर की लड़की से ही करनी होगी।''[47] पुष्पा का विवाह जातीय भेदभाव के कारण नहीं हो पाता है तथा वह बिना विवाह के ही बच्चे को जन्म देती है। अपने बच्चे को डॉक्टर के सहारे छोड़कर अपनी माँ के साथ वापस आ जाती है।

उपन्यास के कथावस्तु का विकास फिर से पुष्पा की स्मृतियों से होता है जिसकी जद में उसकी ससुराल, सास–ससुर तथा देवर–देवरानी आदि आते है। उपन्यास इस के हिस्से के विवरण में हमें ग्रामीण दलित समाज की समस्याओं के विविध रूप दिखायी देते है। पुष्पा का देवर कुवरपाल तथा उसकी पत्नी शांति एक अदद लड़का पैदा करने के लिए पाँच लड़कियाँ पैदा करते हैं। उपन्यास का यह हिस्सा दलित समाज में ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के प्रभाव को दिखाता है। पुत्र मोह के चक्कर में कुवरपाल या उसके जैसे लोग परिवार नियोजन के महत्व को समझ नहीं पाते तथा बड़ा परिवार होने के कारण आर्थिक तंगी से जूझते है। छठवीं बार में लड़का पैदा होने की खुशी में कुवरपाल जो कि सफाई मजदूर है, अपने विभाग से पचास हजार रूपये ऋण लेता है। पूरे पैसे वह घर पर समारोह में खर्च कर देता है। इस पूरे प्रकरण को देखने से हम समझ सकते है कि चेतना के अभाव में दलित समाज किस प्रकार की मूर्खता करता है। यदि कुवरपाल में चेतना होती तो वह उन पैसों को अपने बच्चों की शिक्षा–दीक्षा में खर्च करता। उपन्यास के इसी हिस्से में पता चलता है कि अनामिका पुष्पा की गोद ली गई बेटी है।

उपन्यास के अगले पड़ाव में कुवरपाल का ट्रांसफर लोकेश की कालोनी में हो जाता है। लोकेश अपने अन्दर आत्मविश्वास की कमी तथा दलित चेतना के अभाव में अपनी जाति छुपाकर रहता है। अपने कालोनी में कुवरपाल की उपस्थिति उसे डरा देती है तथा जल्दी से अपने भाई का ट्रांसफर दूसरी जगह

करवा देता है। वहीं दूसरी तरफ अनामिका से मिलने सुधाकर उसके स्कूल जाता है जहाँ वह दलित–शोषित बच्चों को पढ़ाती है। इन्हीं मुलाकातों के क्रम में उनका प्रेम परवान चढ़ता है। पुष्पा तथा लोकेश सुधाकर से शादी की बात करते हैं तथा अपनी दलित जाति का खुलासा भी करते हैं। दलित समाज में जातीय विभेद के मसले पर सुधाकर मानीखेज बयान देते हुए कहता है कि– ''अंकल जी, यह समझ नहीं आता कि हम दलित भी ब्राह्मणवादी सोच से बाहर क्यों नहीं निकल पा रहे हैं। हम दलित है, क्या इससे पता नहीं चलता कि हम सब एक हैं। मैं भी दलित, आप भी दलित।''[48] यह बयान दलित समाज की एकता प्रेरित करता है।

उपन्यास की कथावस्तु के अगले हिस्से में कुवरपाल की पुत्री पूजा आई. ए.एस.टॉप करती है। अख़बार के मुख्यपृष्ठ पर उसकी ख़बर छपती है। ख़बर को पढ़कर पुष्पा के स्मृतियों का द्वार फिर से खुलता है तथा उपन्यास में एक नयीं उपकथा जुड़ती है। इस उपकथा में पुष्पा की माँ विमला का संघर्ष दिखाई देता है। अपने पति से परिव्यक्त होने के बावजूद विमला अपनी बेटी को पढ़ाती है। परन्तु वही माँ जब बीमार होती है तो उसको बेटी (पुष्पा) के ससुराल वाले साथ रखने के लिए तैयार नहीं होते हैं। यह उपकथा भारतीय समाज के उस संरचनात्मक कमी को दिखाती है जिसमें बेटी चाहकर भी अपने माता–पिता की मदद नहीं कर पाती। हालांकिउपन्यास का अन्त फिल्मी फार्मूले पर आधारित प्रतीत होता है। अन्त में पता चलता है कि सुधाकर पुष्पा का बेटा है। सुधाकर के घर वाले शादी से मना करते है तो वह घर छोड़कर पुष्पा के घर आ जाता है। अन्त में सुधाकर की माँ लाजवन्ती शादी के लिए तैयार हो जाती है। इस प्रकार उपन्यास की कथा समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित उपन्यासों में कथावस्तु के स्तर पर महत्वपूर्ण प्रगति की है। दलित उपन्यासकारों ने कथावस्तु के विषय के चुनाव में लगातार विविधता दिखायी है। समय के साथ बदलाव करते हुए दलित उपन्यासकारों ने दलित समाज की अशिक्षा अन्धविश्वास, गरीबी जैसी समस्याओं को नए तरीकों से कथावस्तु में प्रस्तुत किया है। मानव की परख से

शुरू हुई दलित उपन्यासों की यात्रा लगातार गतिशील है। 'मानव की परख' उपन्यास की कथावस्तु में प्रस्तुत दलित जीवन अपनी मुक्ति के लिए समाज के रहमोंकरम पर भरोसा करता है। वही दलित चेतना से युक्त उपन्यासों में दलित समाज स्वयं मुक्ति की राह तलाशता है। दलित चेतना के विकास के साथ ही दलित उपन्याकारों ने अपने उपन्यासों की कथावस्तु में साम्प्रदायिकता, वेश्यावृत्ति, पूँजीवादी, बाजार जैसे विषयों को भी सम्मिलित किया है। दलित उपन्यासों की कथावस्तु में दलित समाज में उभर रहे मध्य वर्गीय जीवन (उधर के लोग, भंवर) को भी विषय के रूप में सम्मिलित किया है। इसी प्रकार 'थमेगा नहीं विद्रोह' जैसे उपन्यास की कथावस्तु के माध्यम से दलित समाज एवं संस्कृति में आ रहे बदलावों की भी पड़ताल की गयी है। दलित उपन्यासों की कथावस्तु में दलित समाज की विविध समस्याओं को चिन्हित किया गया है। दलित उपन्यासों की कथावस्तु में दलित समाज की अन्य कई जातियों की अनुपस्थिति दिखायी देती है। उपन्यासकारों को दलित समाज की अन्य जातियों, जो छूट गई हैं, उनपर भी ध्यान देना चाहिये। हालांकि नये दलित उपन्यासकारों से हम उम्मीद कर सकते हैं कि अपने उपन्यासों की कथा वस्तु में वे दलित समाज की विभिन्न जातियों की समाज, संस्कृति एवं उनकी विभिन्न समस्याओं को भी प्रस्तुत करेंगे

संदर्भ

[1] मीनू रजत रानी, हिन्दी दलित कथा साहित्यः अवधारणाएँ एवं विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड ड्रिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली प्र. सं. 2014, पृष्ठ 68

[2] सेन देवीदयाल, मानव की परख, आत्माराम एण्ड सन्स पब्लिशर्स, 1954, पृष्ठ ख

[3] वही

[4] वही, पृष्ठ 1

[5] वही, पृष्ठ 31

[6] वही, पृष्ठ 43

[7] वही, पृष्ठ 50

[8] वही, पृष्ठ 38

[9] कर्दम जयप्रकाश करुणा, कंचन प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 3,

[10] मीनू रजतरानी, हिन्दी दलित कथा साहित्य अवधारणाएँ एवं विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र.सं. 2014, पृष्ठ 78

[11] कर्दम जयप्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृष्ठ 10

[12] वही, पृष्ठ 17

[13] वही, पृष्ठ 17

[14] वही, पृष्ठ 19

[15] वही, पृष्ठ 65

[16] कपाड़िया प्रेम, मिट्टी की सौगंध, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 3

[17] प्रकाश सत्य, जस तस भई सवेर, सागर प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2012, पृष्ठ 8

[18] वही, पृष्ठ 21

[19] नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 5

[20] वही,पृष्ठ 7

[21] वही, पृष्ठ 28

[22] वही, पृष्ठ 42

[23] वही, पृष्ठ 51

[24] वही, पृष्ठ 105

[25] नैमिशराय मोहनदास, आज बाजार बंद है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रं. सं. 2004, पृष्ठ 10

[26] वही, पृष्ठ 33

[27] वही, पृष्ठ 38

[28] वही, पृष्ठ 86

[29] कावेरी, मिस रमिया, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स गाजियाबाद (उ.प्र.) प्र.सं. 2007, पृष्ठ 15

[30] वही, पृष्ठ 21

[31] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा, जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 43

[32] जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2008, पृष्ठ 22

[33] वही, पृष्ठ 47

[34] मीनू रजतरानी, हिन्दी दलित कथा साहित्य अवधारणाएँ एवं विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, प्र.सं. 2014, पृष्ठ 87

[35] दुबे अभय कुमार (सं.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं 2002, पृष्ठ 37

[36] नावरिया अजय, उधर के लोग, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2013, पृष्ठ 32

[37] पंजम एस.के., ग़दर जारी रहेगा, दिव्यांश पब्लिकेशन, लखनऊ, प्रं.सं. 2010, पृष्ठ 35

[38] चौहान कैलाश चन्द, सुबह के लिए, आरोही, नई दिल्ली, प्रं.सं. 2011, पृष्ठ 8

[39] वही, पृष्ठ 20

[40] वही, पृष्ठ 51
[41] बिष्ट पंकज (सं.), समयांतर मई 2016, पृष्ठ 6
[42] नैमिशराय मोहनदास, ज़ख़्म हमारे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली प्रं.सं. 2011, पृष्ठ 6
[43] वही, पृष्ठ 11
[44] वही, पृष्ठ 75
[45] वही, पृष्ठ 79
[46] चौहान कैलाश चंद, भंवर, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2013, पृष्ठ 7
[47] वही, पृष्ठ 30,
[48] वही, पृष्ठ 95,

तृतीय अध्याय

हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : गरीबी एवं वर्ण जाति व्यवस्था का स्वरूप

(क) गरीबी का बदलता समाजशास्त्र एवं दलित उपन्यास

आधुनिक ज्ञान परम्परा में गरीबी को एक आर्थिक समस्या के रूप में ही देखे जाने का प्रचलन है जिसके प्रभाव के कारण हम गरीबी के सिर्फ आर्थिक पहलू को ही देख पाते हैं। परन्तु किसी व्यक्ति या समाज के गरीब होने के पीछे उसके अपने सामाजिक–सांस्कृतिक कारण भी होते हैं। बाबा साहब अम्बेडकर ऐसे महत्वपूर्ण बौद्धिक चिन्तक है जिन्होंने दलितों की गरीबी के सामाजिक–सांस्कृतिक कारणों की पड़ताल की है। बाबा साहब अम्बेडकर ने 'अलग–थलग स्थिति की समस्या' नामक लेख में उन मनुवादी विधानों का उल्लेख किया है जो दलितों को गरीब बनाये रखने का धर्म शास्त्रीय विधान रचती है–

''10–129– किसी भी शूद्र को संपत्ति का संग्रह नही करना चाहिए, चाहे वह इसके लिए कितनी ही समर्थ क्यों न हो, क्योंकि जो शूद्र धन का संग्रह कर लेता है, उसे उसका मद हो जाता है और वह अपने उद्धत या उपेक्षापूर्ण व्यवहार से ब्राह्मणों को कष्ट पहुचाता है।

8–417– यदि किसी ब्राह्मण का जीवन संकटग्रस्त हो तो वह निः संकोच शूद्र के धन को अधिग्रहीत कर ले।''[1]

इतना ही नहीं मनुस्मृति ने शूद्रों का कार्य उपर के तीनों वर्णों की सेवा करना सुनिश्चित कर दिया। बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा की गयी हिन्दू धर्मग्रन्थों की आलोचना से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हिन्दू धर्म–ग्रन्थों ने सदियों पूर्व ऐसे विधि–विधान बनाये तथा दलितों पर ऐसे निषेध लागू किये कि वह आमरण कोशिश करके भी गरीबी तथा बदहाली के चंगुल से बाहर नहीं निकल सकता। सदियाँ बीत गयी परन्तु इन निषधों के कारण दलितों की

गरीबी तथा बदहाली में कोई सुधार नहीं हुआ तथा उनकी स्थिति आज भी 'सेवक' की ही बनी हुई है। आधुनिक जीवन प्रणाली में भी अस्पृश्यता का पूरा सफाया नहीं हो सका और इसीलिए कई तरह के व्यवसायों और उद्योगों से बिना किसी प्रतियोगिता के ही दलित समाज बाहर हो गया।

बाबा साहब अम्बेडकर ने दलितों की मुक्ति के लिए सामाजिक–राजनीतिक अधिकारों का आन्दोलन चलाया पर उनकी दृष्टि दलितों के आर्थिक सुधारों पर भी बनी रही। इसीलिए हम उनके आन्दोलन तथा लेखन में दलितों के जीवन–यापन के आधारों में भी सुधार की कोशिश देखते हैं और इसीलिए उन्होंने भूमि–सुधार, जोतों की समस्या, बेगार के विरुद्ध नियम–कानून तथा सार्वजनिक संस्थाओं में आरक्षण जैसे प्रावधानों को दलित जीवन सुधार के दायरे में रखा। दलित चिंतक डी.आर.नागराज अपने लेख आत्मशुद्धि बनाम आत्म–सम्मान में जाति तथा संसाधनों के अन्तर्सम्बन्धों पर कहते हैं कि– ''भारत में जाति–प्रथा सिर्फ सांस्कृतिक मूल्यों का एक ढाँचा नहीं है, यह जाति अनुक्रम के समानान्तर सत्ता और पूँजी के असमान वितरण की संरचना का भी मामला है। जाति–प्रथा के खिलाफ विद्रोह की आध्यात्मिक सुन्दरता के प्रशंसकों को भौतिकवादी माँगों की विरुपता भी स्वीकार करनी चाहिए।''[2] दरअसल डी.आर.नागराज का यह वक्तव्य हरिजन आन्दोलन के विश्लेषण में आता है जिसमें वह जाति–प्रथा तथा भौतिक संसाधनों के अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं। साथ ही वह दलित–मुक्ति आन्दोलन को ताकीद भी करते है कि सिर्फ भाववादी और प्रतीकात्मक जाति विरोधी आन्दोलनों से दलितों की संरचनागत समस्याएँ नहीं सुधरने वाली हैं। अपने आन्दोलनों में उन्हें यथार्थ के धरातल पर उतरकर गरीबी, बेरोजगारी, भूमिहीनता आदि जैसे मुद्दों से भी टकराना पड़ेगा।

उत्तर अंबेडकरी दलित आन्दोलनों की इसी प्रवृत्ति की तरफ आनन्द तेलतुम्बड़े भी इशारा करते हैं। वे कहते हैं कि– ''हालांकि उनके (अम्बेडकर) बाद इस आन्दोलन की शक्ल ऐसी बनी कि अलग–अलग और बिखरे हुए दलों के नेतृत्व में आर्थिक मुद्दे और दलितों के जातीय शोषण के वास्तविक भौतिक

आधार मुख्यतः दरकिनार किए जाते रहे जिसके नतीजे में प्रतीकों और पहचान की राजनीति जाति विरोधी दलित राजनीति पर हावी होती चली गई। जिस आन्दोलन को जाति के खात्मे की लड़ाई का नेतृत्व करना था वह इसको भूलकर जातीय पहचान पर गर्व करने की हद तक चला गया।''[3] इस कथन में आनन्द तेलतुम्बड़े 'पहचान की राजनीति' की नीतियों की खामी बता रहे हैं तथा खास कर उनका निशाना बसपा जैसी पार्टियों के ऊपर है। तेलतुम्बड़े पहचान की राजनीति का विरोध कुछ ज्यादा ही कठोर होकर कर रहे हैं। यह समस्या पूरे दलित राजनीति की रही है। कभी भी कोई दलित पार्टी पूरे भारत का नेतृत्व करने में सफल नहीं हो पायी है तथा देखा जाय तो दलित राजनीति की अपनी क्षेत्रीय रणनीतियाँ भी रही हैं जिसके तहत दलित जनता को संगठित किया गया हैं। दलितों की जिन संरचनागत समस्याओं में सुधार की आवश्यकता है उसमें खुद लोकतान्त्रिक प्रणाली ही आड़े आ रही है।

खैर जिस 'पहचान की राजनीति' की नीतियों का विरोध ये दोनों बौद्धिक जन कर रहे हैं उन नीतियों के खिलाफ बाबा साहब ने जस्टिस पार्टी की हार की गंभीर विवेचना करते हुए कहा था कि– ''अव्वल तो ये ठीक–ठीक यह नहीं तय कर पाये कि ब्राह्मण तबकों से उनके मतभेद क्या थे। हालाँकि इन लोगों ने ब्राह्मणों की तीखी आलोचना की लेकिन कोई भी यह कह सकता है कि उनके मतभेद सैद्धान्तिक थे।..... ब्राह्मणवाद का परित्याग करने के बजाय वे उसे आदर्श मानकर उससे चिपके रहे। ब्राह्मणवाद के खिलाफ उनका गुस्सा महज इसलिए था कि ब्राह्मणों ने उन्हें केवल दोयम दर्जा ही दिया।.... गैर ब्राह्मण पार्टी के राजनैतिक कार्यक्रम में एक खामी यह थी कि पार्टी ने अपने युवा कार्यकर्ताओं के लिए कुछ नौकरियों को सुरक्षित करने को ही मुख्य मुद्दा बना लिया था। वैसे यह मुद्दा पूरी तरह जायज था लेकिन गैर ब्राह्मण नौजवानों को सरकारी नौकरी दिलाने के लिए पार्टी बीस साल तक लड़ी, क्या उन्होंने नौकरी के फायदे उठाने के बाद पार्टी को याद रखा?''[4] डी.आर. नागराज ने इस वक्तव्य के दो निहितार्थ निकाले हैं पहला आरक्षण के फायदे से नौकरी पाने वाला युवा अपने समाज को उत्साह से भर देता है। अर्थात

जिस समुदाय से युवा नौकरी पाता है, उसके लोग उसकी आार्थिक–सामाजिक उन्नति देखकर उत्साह से भर जाते हैं तथा वह लोग भी सरकार द्वारा उपलब्ध संसाधनों को कुशलतापूर्वक उपयोग करने की कोशिश करते हैं। दूसरा निहितार्थ इससे दलित वर्ग में केवल एक सुविधा सम्पन्न अल्पसंख्यक समूह तैयार होता है तथा पूरे वर्ग की संरचनागत समस्या में कोई खास परिवर्तन नहीं होता है। हालांकि इसके प्रतिउत्तर में हम कह सकते हैं कि वर्तमान दलित समुदाय में जो सुविधा सम्पन्न वर्ग तैयार हुआ उसने दलित वर्ग के हितों की लड़ाई में भरपूर साथ दिया है। एक तरह से उसने दलित आन्दोलन में चालक की भूमिका निभायी है।

दलित उपन्यास लेखन भी दलित आन्दोलन के बृहत्तर स्वरूप का एक हिस्सा है। दलित उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से दलित समाज की समस्याओं को सामाजिक पटल पर रखकर उसको जनसमुदाय से रूबरू करवाया है। चूँकि अभी तक हिन्दी पट्टी के दलित आन्दोलन का सामाजिक–राजनीतिक मुद्दों पर ज्यादा जोर रहा है, शायद इसीलिए दलित उपन्यास लेखन में आर्थिक समस्याओं का सन्दर्भ खुलकर सामने नहीं आता है। इसी बात की तस्दीक करते हुए रजतरानी मीनू लिखती हैं कि– ''दलित उपन्यासों में आर्थिक समस्याओं का चित्रण अपेक्षाकृत सामाजिक समस्याओं से काफी कम हुआ है। इन समस्याओं के मूल में भी समाज का जातिगत ढाँचा प्रमुख रूप से उत्तरदायी है।''[5] हालांकि दलित उपन्यासों की कथा वस्तु में जो समस्याएँ दिखायी देती हैं, उनका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उन समस्याओं के क्रोड में गरीबी की भी मुख्य भूमिका है। उपन्यास 'मानव की परख' में पूरे कथानक में जो ट्रेजिडी निर्मित होती है उसके केन्द्र में गरीबी भी है। गरीबी और दलित जाति से सम्बन्ध ये दोनों ही चीजे रानी भंगिन की तबाही की जिम्मेदार है। यदि रानी भंगिन के पास आर्थिक संसाधन होते तो वह न तो मथुरा आती और न ही उसका बलात्कार होता और न ही वह सेठ के जाल में फंसती। रानी का बलात्कार करने के बाद रानी के कचहरी जाने की धमकी पर सेठ पैसे की ताकत बखानते हुए कहता है कि– ''नहीं रानी यह

तुम्हारी भूल है। यह सब (कचहरी, प्रशासन) हम पैसे वालों की ही है। जैसा पैसा चाहता है, वहाँ वैसा होता है, जैसा तुम कहोगी वैसा नहीं।''[6] यह कथानक आजादी के प्रथम दशक का है। तब से लेकर आज तक पैसे की ताकत बढ़ी ही है, घटी तो कतई नहीं है। आज भी जो आर्थिक संसाधनों से मजबूत है अदालत, कानून, पुलिस, पूरी की पूरी व्यवस्था ही उसके मातहत कार्य करने लगती है। चूँकि उपन्यासकार के पास गरीबी से मुक्ति का कोई सार्थक वैचारिक दर्शन मौजूद नहीं था इसीलिए उपन्यास में दलितों की गरीबी से मुक्ति का कोई सार्थक रास्ता नहीं दिखाया गया है। उपन्यास दोहन में गरीबी का कोई यथार्थ परक दृश्य नहीं दिखायी देता है। उपन्यासकार की कथादृष्टि में चेतना के अभाव के कारण पूरा उपन्यास सिर्फ प्रकृति वर्णन के स्तर पर ही सार्थक दिखायी देता है। उपन्यासकार ने उपन्यास में किसी भी पात्र की जाति की कोई पहचान नहीं बतायी है जबकि उपन्यास की कथावस्तु गाँव पर आधारित है। उपन्यास की कथावस्तु में निर्मला के जीवन–यापन के प्रसंग में गरीबी का एक मार्मिक वर्णन दिखायी देता है। निर्मला अपने बेटे के बीमार होने पर इलाज के लिए पैसे माँगते हुए कहती है कि– ''बीबी जी, मैं तुम्हारे पिछले पैसे भी इसी के साथ दूँगी। पर इस बार मुझे इन्कार मत करो। मेरा बच्चा बहुत बीमार है। दो रोज से चाय–चीनी के लिए भी पैसे नहीं हैं।''[7] इसके अलावा उपन्यास में शायद ही कोई गरीबी का प्रसंग आया हो। उपन्यास में बनवारी का किसान से मजदूर में तब्दील होने का कारण दहेज जैसी समस्या है।

जयप्रकाश कर्दम जी के उपन्यास 'करुणा' में गरीबी के कई महत्वपूर्ण पहलू सामने आये हैं। दलित नायक रमेश को गरीबी के कारण नौकरी पाने के लिए नसबंदी करवानी पड़ती है जिससे उसके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। इससे भी दुखद प्रसंग दलित लड़की अंगूरी की है। अंगूरी के साथ जमींदार का बेटा बलात्कार करने की कोशिश करता है परन्तु उसका पिता भुल्लन पैसे की कमी के कारण अदालत में मुकद्मा करने तक की हिम्मत नहीं जुटा पाता है। दलितों के लिए आधुनिक संस्थाओं की निरर्थकता को ऐसे ही

प्रसंग सही साबित करते हैं। दलितों के लिए आज भी न्याय के दरवाजे बन्द ही पाये जाते है। पहले तो उनका केस ही दर्ज नहीं होता और यदि हो भी जाय तो अदालत की लम्बी–खर्चीली प्रक्रिया को सहन कर पाना दलितों के बलबूते के बाहर है। वहीं दूसरी तरफ जमींदार का बेटा पैसे के बल पर रमेश को अपनी बहन के हत्या के झूठे मुकद्मे में फसाकर जेल भेज देता है। गरीबी के विरुद्ध जेल में एक कैदी कहता है कि– ''हुक्का चुराना, सेंध लगाना, जेब काटना ये भी कोई काम है। अरे कुछ करना ही है तो इन पूंजीपतियों की हत्या करो ताकि गरीब कमजोर लोगों को शोषण से मुक्ति मिले। किसी को लूटना ही है तो इन अमीरों की तिजोरियों को लूटों जिनमें लाखों–करोड़ों गरीब मजदूरों के खून की कमाई भरी पड़ी है।''[8] इसके अतिरिक्त उपन्यास में गरीबी दूर करने का कोई उपाय नहीं सुझाया गया है।

जयप्रकाश कर्दम जी का उपन्यास 'छप्पर' उनके पूर्व के उपन्यास करुणा से इस मायने में अलग है कि इसमें कर्दम जी ने गाँव तथा शहर दोनों ही जगहों में दलितों की गरीबी का एक यथार्थ समाजशास्त्र प्रस्तुत किया है। चंदन के पिता सुक्खा ग्रामीण भूमिहीन मजदूर हैं। गरीबी के कारण उनका खेत और घर (छप्पर) नीलाम हो जाता है। वह भी सिर्फ इसलिए क्योंकि सुक्खा ने अपने बेटे चन्दन को पढ़ने के लिए शहर भेजा है। गाँव का ब्राह्मण–सामन्ती गठजोड़ चन्दन की पढ़ाई को रोकने के लिए सुक्खा के परिवार के खिलाफ साजिश करना प्रारम्भ करता है। गरीबी के कारण शोषण का दूसरा प्रसंग कमला नामक दलित स्त्री की जीवन व्यथा में मिलता है। उसके पिता ईंट–भट्ठे पर मजदूरी करते हैं। ईंट–भट्ठे का मालिक अपने साथियों के साथ मिलकर कमला का बलात्कार करता है। पैसे के बल पर भट्ठे का मालिक पुलिस थाने में रिपोर्ट ही दर्ज नहीं होने देता है। यह प्रसंग गरीबी की चक्की में पिसने वाले उन करोड़ों असंगठित ग्रामीण–बंधुआ दलित मजदूरों की जिंदगी के यथार्थ को प्रस्तुत करता है।

उपन्यास में शहरी दलित मजदूरों की गरीबी का खाका वह कुछ इस ढंग से प्रस्तुत करते हैं– ''रही काम की बात सो दिन–रात कमरतोड़ करके भी

आदमी को दो जून की रोटी मयस्सर नहीं हो पाती ठीक से। बीस–तीस रुपये का काम कराकर मालिक छः–सात रुपये देता है– दिहाड़ी के। भूखा पेट क्या करे जो मिल जाए उसी से संतोष करना पड़ता है। ज्यादा दिहाड़ी की बात भी करे कैसे, क्या पता कल उससे भी हाथ धोना पड़ जाए।''[9] यह वक्तव्य नई अर्थनीति के गोद से निकली उस ठेका–उपठेका मजदूरी पद्धति की भयावहता को दिखाता है जिसके शोषण के शिकार अन्ततः दलित मजदूर ही होते हैं। उपन्यासकार गरीबी के इसी व्यूह को समझकर बाबा साहब के मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास दिखाता है। शिक्षा और संगठन के मसले पर वह अम्बेडकरवादी है परन्तु जिस प्रकार उसने जमींदार के हृदय परिवर्तन द्वारा दलित समाज की मुक्ति का नायाब फार्मूला इजाद किया है वह यथार्थ के धरातल पर नहीं टिकता है। यह हृदय परिवर्तन गाँधीवादी चेतना को ही प्रस्तुत करता है।

प्रेम कपाड़िया का उपन्यास 'मिट्टी की सौगन्ध' एक गरीब दलित स्त्री शीला की कथा है। उपन्यास के प्रारम्भ में गाँव का जमींदार मोहन सिंह शीला नामक दलित युवती की इज्जत लूट लेता है। गरीबी का सबसे ज्यादा शोषणकारी प्रभाव दलित स्त्रियों पर पड़ता है। उपन्यास में दलितों पर गरीबी के कारण होने वाले जुल्म को यह कथन अभिव्यक्त करता है– ''कुछ नहीं होने वाला.... हम गरीबों की इज्जत यूं ही लुटती रहेगी। दलित होना कलंक है ही उस पर दलित औरत होना और बुरा हर आदमी हमारी बहू–बेटियों को बुरी नजर से देखता है।''[10] दलितों में गरीबी के कारण उनके खिलाफ होने वाले अपराधों का प्रतिकार करने के लिए संसाधन भी नहीं होते हैं। उपन्यासकार ने दलितों की गरीबी का कारण सामन्तवादी व्यवस्था को माना है परन्तु दलितों की गरीबी दूर करने पर कोई विचार व्यक्त नहीं किया है।

मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 'मुक्तिपर्व' आर्थिक समस्याओं के बजाए सामाजिक–चेतना पर ज्यादा जोर देता है। बस्ती में स्कूल खुलने के पश्चात् छात्रों के प्रसंग में गरीबी का यथार्थवादी चित्र दिखायी देता है– ''हालाँकि इन बच्चों के पास साबुत कपड़े भी न थे। पाँव तो सभी के नंगे थे।

बेतरतीब से बाल। पहली बार कंघी से काढ़ने पर भला कैसे ठीक हो सकते थे।''[11] उनकी हालत गरीबी के कारण ही ऐसी थी और उससे मुक्ति पाने के लिए उनके माँ–बाप उन्हें पढ़ाना चाहते हैं परन्तु परिवार की आर्थिक स्थिति उन्हे फिर से स्कूल से खींचकर घरेलू कार्यों में लगा देती है। आज भी दलित छात्रों के स्कूल से ड्रापआऊट का सबसे बड़ा कारण परिवार की आर्थिक स्थिति ही है। आगे की पढ़ाई में गरीबी दोहरी समस्या बनती है एक तरफ सुनीत गरीबी से जूझता है वहीं दूसरी तरफ उसके पिता बंशी। गरीबी के कारण दलित छात्रों का रहन–सहन, कपड़े आदि निम्न स्तर के होते हैं जिसके कारण पूरे स्कूल में उनका उपहास होता है। वहीं दूसरी तरफ कपड़े, किताब–कॉपी आदि को व्यवस्थित करने में उनका पूरा परिवार परेशान रहता है। हालाँकि उपन्यास में आये कुछ प्रसंग गम्भीर आर्थिक सवालों को भी जन्म देते हैं जैसे ''बस्ती में सबसे पहले बंशी ने गुलामी छोड़ी फिर बाद में एक–एक कर अन्य लोगों ने जैसे–जैसे उन्हें गुलामी का एहसास हो रहा था वैसे–वैसे वे नवाबों रईसों के यहाँ से अपने–अपने काम–धंधे छोड़ रहे थे। पुरुषों की देखा–देखी औरते भी जमींदारों तथा काश्तकारों के घरों तथा खेतों से अपनी–अपनी मजूरी छोड़ रही थी। उनके भीतर भी चेतना का सूरज उगने लगा था। जो उनके विचारों को प्रखर बना रहा था। वे अबला नहीं रही थी, बल्कि सबला बन रही थी।''[12] उपन्यास में आये इस प्रसंग पर गौर करे तो एक जायज सवाल उठता है कि दलित समाज ने गुलामी छोड़ी परन्तु उनके घर का खर्च कैसे चला? उपन्यासकार इस मसले पर खामोश है। उपन्यास की कथावस्तु आजादी के तुरन्त बाद के समय पर आधारित है। उस समय दलितों के पास कोई बड़ी पूँजी भी नहीं थी कि जिससे वह कोई व्यवसाय करते। उनके पास शिक्षा का भी अभाव था इसलिए सरकारी नौकरी में भी जाना सम्भव नहीं था। देश का व्यवसायीकरण भी इतनी तेजी से नहीं हुआ था कि वह किसी फैक्ट्री में रोजगार करते। शायद उपन्यासकार पर सामाजिक–राजनीतिक चेतना इस तरह से हावी है कि उसने आर्थिक–समस्याओं पर ध्यान ही नहीं दिया है।

सत्यप्रकाश जी के उपन्यास 'जस तस भई सवेर' में दलितों की बदहाली एवं गरीबी के कारणों में मुख्यतः धार्मिक अन्धविश्वास एवं अशिक्षा है। उनका पूरा उपन्यास दलित समाज को धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण हाने वाली हानि की हक़ीकत बयां करता है जिसके कारण वह गरीबी और शोषण के अन्तहीन जाल में फँस जाते हैं। ग्रामीण सामन्ती समाज में गाँव के जमींदार तथा पुरोहित के गठजोड़ की चालाकियों में फंसकर हंसा अत्यधिक ब्याज की दर पर कर्ज लेता है। उपन्यास में घटना का वर्णन इस प्रकार है– ''जब खुशामद करते–करते हंसा पावों में ही लेट गया तो चौधरी देवीपाल ने दया दिखायी और नाक रगड़वाकर हंसा को देवता के कारज के लिए पाँच हजार रुपये का कर्ज दे दिया परन्तु यह शर्त भी लिखवा ली कि मूल का ब्याज हंसा प्रतिमाह 5 रुपये प्रति सैकड़ा की दर से देता रहेगा और जब तक कर्ज उतर नहीं जाता हंसा चौधरी देवीपाल के खेतों में ही मजदूरी करेगा। मजदूरी नकद नहीं मिलेगी। मजदूरी की रकम कर्ज–ब्याज में समायोजित कर दी जायेगी।''[13] चूँकि हंसा इतने महंगे दर का ब्याज निश्चित ही चुका नहीं पायेगा क्योंकि उसने कर्ज का रुपया किसी प्रतिफल देने वाले कार्य में नहीं लगाया है। उसने कर्ज का सारा रुपया धार्मिक–आडम्बरों में खर्च कर दिया है। इसीलिए इन परिस्थितियों में उसका बंधुआ मजदूर बनना तय है। इस प्रकार इस घटना से हम समझ सकते हैं कि हंसा जैसे दलितों का अन्धविश्वास के कारण बंधुआ मजदूर में तब्दील होना तय है।

उपन्यासकार ने दलितों की गरीबी और शोषण के लिए पूरी समाज व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया है तथा इस व्यवस्था की तुलना वट वृक्ष से की है। उपन्यास का एक पात्र कहता है कि ''चौधरी और भगत इस मोहक वट वृक्षीय व्यवस्था के तने व दाढ़ी हैं। देवता से मिलन व जात–बारात, ग्रहों की शान्ति का उपाय, तन्त्र–मन्त्र और कल्याण के टोटके आदि इसकी शीतल छाया हैं। भगत धार्मिक आडम्बरों के लिए प्रेरित करता है और चौधरी इसके लिए कर्ज देता है दोनों का उद्देश्य शोषण करना है।''[14] दरअसल उपन्यासकार ने पूरे उपन्यास की रचना ही इसी वट वृक्ष से दलित समाज को आगाह करने के लिए किया है। अब सवाल यह उठता है कि हंसा जैसे दलित इस

वट वृक्षीय व्यवस्था में क्यों फंसते है? डॉ. अजमेर सिंह काजल लिखते हैं कि– ''सामाजिक रूप से पिछड़े लेकिन धार्मिक कार्यों में अग्रणी रहने वाले वंचित कामकाजी लोगों को कोई न कोई देवता, जिंद, भूत–प्रेत सपने में दिखायी ही देते रहते हैं और इसका कारण है गरीबी, चिंता, मानसिक भय, शोषण की मार, अनिद्रा बढ़ती बेचैनी, पारिवारिक चिंताएँ। लेकिन दुखी एवं भोला समाज इसका इलाज अर्थशास्त्र के जरिए करने की बजाय साधु–संतों, भगतों से गंडे–ताबीज प्राप्त करके करने में लगा रहता है। कमाल है गरीबी का भी और गरीबों की मानसिकता का भी कि वे उनके आगे मुक्ति निवेदन करते हैं जिन्होंने उन्हें शोषण किया है, वंचित किया है, अधिकार विहीन किया है, उपन्यास इसी अज्ञानता को चेतना में बदलना चाहता है।''[15] उपन्यासकार ने दलितों की गरीबी से मुक्ति का उपाय महात्मा बुद्ध के निर्देश 'अप्प दीपो भवो' में ढूँढा है।

नैमिशराय का उपन्यास 'आज बाज़ार बंद है' वेश्या जीवन पर आधारित है। हालाँकि इस उपन्यास में वेश्या–जीवन के आर्थिक पहलू खुलकर सामने नहीं आये हैं। किसी स्त्री के वेश्या बनने की पृष्ठभूमि में लेखक ने सामाजिक–धार्मिक संस्थाओं की भूमिका को तो दिखाया है परन्तु इसका एक आर्थिक पक्ष भी हो सकता है, इस पर लेखक ने विचार नहीं किया है। वेश्या समाज में गरीबी का चित्रण संकेतों के रूप में ही उपन्यास में दिखायी देता है। उपन्यास में एक प्रसंग आता है– ''नजदीक ही प्लास्टिक के जग में पानी रखा था। जग को होठों तक लाकर उसने पानी पिया, जैसे वेश्याओं का जीवन, वैसे ही बिखरी हुई अन्य वस्तुओं का अस्तित्व था। एक दूसरे के पर्याय थे वे सब। मिट्टी के खिलौनों की गंध और वेश्याओं के शरीर से आती बास में कुछ अधिक अंतर ना था।''[16] यहाँ उपन्यासकार इन सस्ती वस्तुओं के माध्यम से वेश्याओं के जीवन का अभाव दिखाया है। लोग अक्सर कहते हैं कि वेश्याएँ तो लोगों को 'लूट' लेती हैं। लोगों को लूटने का यह ख्याल अपने आप में ही कितना हास्यास्पद है। जिंदगी भर 'लूटने' वाली सुनहरी (एक प्रौढ़ वेश्या) के घर का दृश्य ह्रदय को व्यथित कर देता है– ''अल्मूमिनियम के दो–तीन टेढ़े–मेढ़े बर्तन। बस इतना सा ही इस घर में था। जवानी में बुढ़ापे की तस्वीर

बनी एक कंकाल–सी औरत। बाल बिखरे हुए, जिनसे झाँकती सफेदी। आँखों में बेचैनी और दहशत। गंदी सी साड़ी और ढीला–ढाला ब्लाउज। होठों का शहद जैसे समय ने चूस लिया हो।''[17] लेखक ने वेश्या जीवन के इस पहलू को संजीदगी से प्रस्तुत किया है। वह यह दिखाने में कामयाब रहा है कि वेश्याओं के जीवन का अन्तिम दौर भयानक अभावों में बीतता है।

उपन्यास के प्रारम्भ में ही उपन्यासकार ने बाबा–साहब अम्बेडकर को उद्धृत किया है– ''आप मुझसे पूछोगी। तुम अपनी जीविका कैसे चलाओगी? उसके लिए सैकड़ों रास्ते हैं। मैं आपसे पुनः आग्रह करता हूँ कि तुमको इस अपमानित जीवन को त्याग देना चाहिए। आपको चाहिए कि अन्य महिलाओं की तरह शादी कर सामान्य जीवन जीएं, न कि ऐसी परिस्थितियों में रहे जो आपको वेश्यावृत्ति की ओर अनिवार्य रूप से घसीटती हो।''[18] उपन्यासकार ने भी उपन्यास का अन्त कुछ इसी प्रकार से किया है परन्तु वेश्याओं की आर्थिक समस्याओं का सवाल अनुत्तरित रह जाता है। वेश्यावृत्ति को छोड़ने के बाद उनका जीवन–यापन कैसे होगा, उन्हें मजदूरी पर कौन रखेगा तथा यदि मजदूरी मिल भी जाये तो वह व्यक्ति उनका शारीरिक शोषण करने का प्रयास नहीं करेगा, इसकी भी कोई गारण्टी नहीं है। इन्हीं आर्थिक सवालों के अनदेखी के कारण उपन्यास का अन्त सरलीकरण से ग्रस्त हो गया है।

कावेरी का उपन्यास 'मिस रमिया' एक गरीब दलित स्त्री का शिक्षा के लिए किए गए संघर्ष पर आधारित है। उपन्यास में आये एक प्रसंग से पता चलता है कि लोग गरीबी तथा कर्ज के कारण अपनी बेटी तक को बेच देते हैं। गरीबी का यह भी एक यथार्थ है जब एक पिता अपनी संवेदनाओं को मारकर बेटी बेचता है। यह प्रथा आज भी बदस्तूर जारी है। अखबारों में आये दिन ऐसी घटनायें आती रहती हैं। उपन्यास में इस प्रथा के बारे में बताया गया है– ''चन्दू एक दिन अपनी औरत को मारा वह रुठकर मैके गयी। वहाँ इसके बाप के उपर मालिक का कर्ज था। बेचारा बाप। लड़की को छोड़कर कोई धन–दौलत नहीं था। मरता क्या न करता। बेचने गया ब्याही बेटी को।''[19] यह घटना आज के तृतीय महाशक्ति बनते हुए भारत की पोल खोलती

है जहाँ एक पिता की संवेदनाओं को गरीबी ने इस तरह से खत्म कर दिया है कि वह अपनी बेटी को गाय, बैल जैसे जानवरों की तरह बेचने को मजबूर है।

इसी प्रकार उपन्यास में आर्थिक अभावों का एक प्रसंग और आता है जिसमें रमिया का सहपाठी उसकी फीस देकर मदद करता है। इसके बदले में वह रमिया की गरीबी का फायदा उठाकर उसका शारीरिक शोषण करने की कोशिश करता है। यह गरीबी का ही प्रभाव है जब आर्थिक रूप से मजबूत समुदाय गरीबों के मान–सम्मान की कीमत ही नहीं समझता है। दलितों–शोषितों के शिक्षित होने में गरीबी सबसे बड़ी बाधा बनकर आती है। रमिया के दोस्त बैजू की फीस जमा करने के लिए उसके पिता को घर की गाय तक बेचनी पड़ती है। उपन्यास में इस घटना का विवरण इस प्रकार आता है– ''गाँव में सब लड़कों के घर घूम आये परन्तु सूद पर भी पैसा नहीं मिला। एक गोली गाय की बछिया उनके पास हैं, उसके उपर इनकी बहुत बड़ी आशा थी कि अपने पूर्वज की सम्पत्ति चार कट्टा रेहन रखी जमीन छुड़ायेंगे। अब और कोई आशा न देखकर इसको बेचना ही पड़ेगा।''[20] यदि इस घटना की तफ्शील से विवचेना करे तो दलित समाज की कई समस्याएँ दिखायी देती हैं। गरीबी के कारण दलितों के पास आर्थिक संसाधनों की कमी होती है। यहाँ तो बैजू के घर में शिक्षा के प्रति चेतना है, नहीं तो आर्थिक संसाधनों के इस संघर्ष में ज्यादातर दलित परिवार चूक जाते हैं और वह अपने बच्चों की शिक्षा को रोक देते हैं। शिक्षा के न होने के कारण दलित समाज का वह छात्र चेतनशील नागरिक नहीं बन पाता है। कावेरी ने भी दलित समाज की सारी समस्याओं का हल शिक्षित होकर जागरूक बनने में ढूँढ़ा है।

उपन्यास मुक्तिपथ में उपन्यासकार ने वामपंथ के नजरिये से दलित समस्याओं को देखने का प्रयास किया है। उपन्यासकार ने ग्रामीण समाज में दलितों की गरीबी के लिए भूमिहीन स्थिति को जिम्मेदार माना है। गाँव में दलितों के पास खेती योग्य जमीन न रहने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति पूरी तरह मजदूरी पर निर्भर होती है। जमींदारों पर आर्थिक निर्भरता के कारण उनका मनमाना शोषण होता है। हरियाणा में दलितों के शोषण के लिए सीरी

जैसी प्रथा चलती है। सीरी के बारे में लेखक लिखता है कि– ''पंजाब या वर्तमान हरियाणा– जैसे प्रदेशों में सीरी एक विशेष प्रथा है, जिसका सीधा–सीधा अर्थ है हिस्सेदार। दरअसल, सीरी एक बंधुआ मजदूर तो नहीं होता, पर उससे ज्यादा अच्छी हालत में भी नहीं होता वह। कहने को तो उसे जिसके खेतों में काम करना होता है, उसके परिवार के सदस्यों के साथ मिलकर काम करना होता है। पर सीरी अक्सर दलित जातियों से होते हैं।''[21] इस प्रकार उपन्यास में हम देखते हैं कि जो दलित एक बार सीरी प्रथा में फँसता है वह बंधुआ मजदूर में तब्दील हो जाता है। उपन्यास में आया बारु का प्रसंग सारी प्रथा की भयावहता को दिखाता है– ''कहने को तो उसे फसल का दसवां हिस्सा मिलता था, पर कर्ज का जंजाल इतना बड़ा और जटिल था कि उससे मिलने वाली फसल ब्याज चुकाने में कट जाती थी, पर कर्ज नहीं उतार पाता था। इस प्रकार बारु को अपने मालिक के साथ साल–दर–साल काम करना पड़ रहा था। वह लगभग बंधुआ मजदूर बन चुका था।''[22] इतना ही नहीं जमींदार पर आर्थिक निर्भरता के कारण उसकी पत्नी भी शारीरिक शोषण का शिकार बन जाती है।

उपन्यासकार ने दलितों की आर्थिक शोषण से मुक्ति के लिए बनाये गये आरक्षण जैसे प्रावधानों को भी नाकाफी माना है। उपन्यासकार आरक्षण के मुद्दे पर कहता है कि– ''पर अब दलितों के आरक्षित कोटे में आने वाली नौकरियों को अक्सर वे युवक या युवतियाँ हथिया लेते थे, जिसके माता–पिता पहली पीढ़ी में आरक्षण की बदौलत उच्च पदों पर आसीन हो गये थे और उनके बच्चों को अच्छे स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने का मौका मिला था। आरक्षित नौकरिया अब पहली बार या दूसरी बार आरक्षण का लाभ उठा चुके परिवारों की झोली में ही पड़ती थी। नए शिक्षित दलित युवकों के लिए अब नौकरी पाना इतना आसान नहीं रहा था।''[23] आरक्षण का इस प्रकार से किया गया मूल्यांकन दलित उपन्यासों में एक नया सन्दर्भ जोड़ता है लेकिन अगर इसकी विवेचना की जाय तो इसके कई और निहितार्थ निकलते हैं। उपन्यासकार जिसकी आलोचना कर रहा है, दलित आन्दोलन में वहीं वर्ग

चेतना फैलाने का कार्य कर रहा है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार क्या आरक्षित कोटे की नौकरियाँ ईमानदारी से भरी गयी हैं, क्योंकि अभी तक आरक्षित स्थानों को भरने में कार्यपालिका स्वयं ही टालमटोल का रवैया लगातार अपनाती रही है। तीसरा सवाल यह बनता है कि उपन्यासकार दलितों के जिस वर्ग की आलोचना कर रहा है, वही वर्ग दलितों के खाली जगहों को भरने का सरकार पर दबाव भी बना रहा है।

उपन्यासकार ने दलितों की आर्थिक शोषण से मुक्ति के लिए जिस वर्ग की अवधारणा का उपयोग किया है वह कितनी कारगर है इसका भी विश्लेषण करना होगा। उपन्यासकार कहता है कि– ''बहुत गहराई से सोचने पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि दुनियाँ में दो ही जातियाँ हैः एक अमीर दूसरी गरीब, एक शोषकों की और दूसरी शोषितों की। हाँ शोषितों के बीच दलितों की हालत सबसे अधिक दयनीय है। उनका सभी की तरह का आर्थिक शोषण तो होता ही है उपर से सामाजिक दलन उनकी स्थिति को और विकट बना देता है।''[24] इस पूरे कथन से लगता है कि उपन्यासकार ने दलित समाज की समस्या को गहराई से पकड़ा है परन्तु जैसे ही शोषण से मुक्ति के सवालों पर वह वर्ग की अवधारणा पर जोर देता है तो उससे भारतीय समाज का जातिगत–भेदभाव का यथार्थ छूट जाता है। वर्ग तथा जाति का अंतर्सम्बन्ध बहुत पेचीदा है। यदि उपन्यासकार ने दलित आत्मकथायें पढ़ी होती या भारतीय समाज का गहन अनुभव किया होता तो उनकी समझ में आ जाता कि एक ही वर्ग में रहने वाले मजदूरों में भी जाति के कारण ऊँच–नीच की संरचना मौजूद होती है। उपन्यासकार का दलितों तथा शोषितों को संगठित होकर शोषण से मुक्ति की तजवीज तो ठीक है परन्तु वह लाल झंडे के नीचे हो यह आवश्यक नहीं है। इनकी मुक्ति तो नीले झंडे के नीचे भी संभव है।

उमराव सिंह जाटव के उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' में दलित समाज की गरीबी के कई मार्मिक प्रसंग आते हैं। उपन्यास में भागो नामक विद्रोहिणी का प्रसंग आता है। कभी 'पाश' ने अपनी कविता में लिखा है 'सबसे खतरनाक होता है हमारे सपनों का मर जाना'। यहाँ पर दलित समाज का स्वप्न नहीं

मरा तो है परन्तु वह स्वप्न किस प्रकार है इसका एक बानगी है यह विवरण– ''ऐसा भाग्य जिस पर काका ने खुशियाँ मनायी थी कि हम लोगों के पेट के गर्त में दो वक्त की रोटी पड़ती रहे, कि शरीर में साँसों की डोर उतनी भर मजबूत रहे, कि बस जिंदा रहे, तन में इतनी भर शक्ति रहे कि गूजरों के खेतों में हम बेगारी करते रहे, मेरी माँ, और मेरी ही क्या जटवाड़े की औरतें बच्चे जनती रहें, कि हर जन्मे बच्चे को माँ उन्हें अपने कलेजे का दूध पिलाकर, अपने पेट की रोटी देकर जवान करे कि वह गूजरों के खेत–घर में एक अच्छा कमाऊ बेगारी करने वाला मजदूर बने, कि बेगारी करते–करते तपेदिक का रोगी होकर मर जाए, और मरने से पूर्व चार–छह और मजदूर पैदा कर जाए।''[25] यह पूरा वक्तव्य भागो के पैदा होने का है तथा जिसे उसके पिता भाग्यशाली मानते हैं। यह पूरे दलित समाज की दारुण गाथा है। ऐसी ही गरीबी में दलितों की अनगिनत पीढ़ियाँ पिसकर समाप्त हो गयीं।

उपन्यास में दलितों की गरीबी के जो कारण दिखाये गये हैं उसमें धार्मिक अन्धविश्वास मुख्य है। धार्मिक अन्धविश्वास के जाल में फँसकर भागो के पिता बंधुआ मजदूर में तब्दील हो जाते हैं। आर्थिक अभावों के कारण भागो की शादी तपेदिक के मरीज से हो जाती है जिसके फलस्वरूप भागो भी तपेदिक के संक्रमण का शिकार होती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। दूसरा किस्सा तुलाराम भगत का है जिसके उपर मन्दिर बनवाने की सनक चढ़ जाती है। अपनी सनक को पूरा करने के चक्कर में पुरखों द्वारा अर्जित खेत बेचता है और अन्त में किसान से दिहाड़ी मजदूर में तब्दील होता है। तुलाराम भगत के प्रसंग में ही उपन्यासकार ने सामाजिक परिस्थितियों के हिसाब से गरीबी के मायने को बताने की कोशिश की है– ''पंडत जी भी गरीब है, मुंशी सुमेरा भी गरीब है, पूरा जटवाड़ा भी गरीब है लेकिन पंडत जी एक बात तो देखों तीनों की गरीबी कैसी है। पंडत जी में सामर्थ्य नहीं कि पंडतानी को कंगन और बेटे को साइकिल दिला सकें, मुंशी सुमेरा जाटव में सामर्थ्य नहीं कि एक माह भी पंडत श्री प्रकाश के भट्ठे पर काम करके वेतन न मिले तो दोनों वक्त की रोटी भी कुनबा को मिले, जटवाड़े में इतनी भुखमरी है कि गूजरों के बहिष्कार के चलते आधे घरों के बच्चों तक को रोटी के दो टुकड़ों के लाले पड़े हैं।

और मुझे तो तनिक भी संशय नहीं है कि ये बिड़ला, टाटा सेठ भी अवश्य ही गरीबी भुगत रहे होंगे कि बच्चे और एक नई कार माँगते होंगे, पत्नियाँ हीरों के दसवे हार की फरमाइश करती होंगी, स्वयं एक और कारखाने को स्थापित करने अथवा हड़पने की इच्छा रखते होंगे और बेचारे मारे गरीबी के मन मसोसकर रह जाते होंगे, न दे पाते होंगे न ले पाते होंगे।''[26] इस पूरे वक्तव्य में उपन्यासकार गरीबी के उस सामाजिक आयाम को दिखाने की कोशिश करता है जहाँ एक ही शब्द गरीबी के सामाजिक सन्दर्भ बदल देने से उसके मायने बदल जाते हैं।

उपन्यासकार ने आर्थिक उदारीकरण के कारण दलित समाज में उपजी नयी आर्थिक समस्याओं से भी पाठक को रूबरू करवाया है। चूँकि भारत में आर्थिक उदारीकरण के साथ ही निजीकरण की भी प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। इसी निजीकरण की प्रक्रिया ने सार्वजनिक क्षेत्र की आरक्षित नौकरियों की संख्या लगातार घटायी है। अभी तक तो दलित आन्दोलन में शिक्षित होने तथा संगठित होने पर जोर दिया गया है परन्तु शिक्षित होने के बाद भी रोजगार का कोई साधन न मिले तो दलित युवा क्या करेंगे? उपन्यास के सूत्रधार दरियाव के शब्दों में कहे– ''मेरे बेटे ने एम.कॉम. कर लिया है नौकरी नहीं मिलती, मिल जाय तो रिश्वत देने की औकात नहीं , कहीं काम–धंधे पर लगा दो, न हो तो दिल्ली में कहीं चौकीदारी पर रखवा दो। जैसे दरबार लगा हो किसी महाराजा का, जबानी प्रतिवेदनों की भीड़ लग गई– मेरा बेटा, मेरा भाई मैं स्वयं बी.ए. बी.एस.सी., एम.एस.सी. एल.एल.बी. इत्यादि हूँ, कहीं नौकरी लगवा दो, बाबू , चपरासी, पुलिस में सिपाही, सेना में सिपाही, कुछ न हो सेना में– पुलिस में नाई–धोबी ही लगवा दो, दिहाड़ी मजदूरी करता–फिरता हूँ, जबरदस्ती ब्याह कर दिया बाप ने और तीन बच्चे हो गए इत्यादि।''[27] उपन्यास में आया यह प्रसंग दलित वैचारिकी को दलित मुक्ति के उपायों पर फिर से सोचने के लिए बाध्य करता है। अभी तक के दिये गये दलित मुक्ति के उपाय कितने कारगर रह गये हैं इसके विश्लेषण की आवश्यकता है।

भूमंडलीकरण ने गाँवों में किसानों को भी मजदूर बनने पर मजबूर कर दिया है। खेती–किसानी अब फायदे का सौदा नहीं रहा तो उन पर आश्रित

दलित मजदूरों के स्थिति पर तो और बुरा प्रभाव पड़ा है। अब उन्हें शहरों में विस्थापित होकर मजदूरी करनी पड़ रही है। एस.के. पंजम का उपन्यास 'गदर जारी रहेगा' गरीबी और भुखमरी के विरुद्ध जन आन्दोलन की इतिहास गाथा है। उपन्यासकार ने गरीबी और भुखमरी की समस्या को दलित समाज तक सीमित न करके आदिवासी, भूमिहीन किसानों को भी अपने लेखन की जद में रखा है। पूरा उपन्यास बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का रूपक है। पूरे उपन्यास में पूँजीवाद के कारण समाज में बढ़ती हुई गरीबी का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया गया है।

अजय नावरिया जी का उपन्यास 'उधर के लोग' मध्यवर्गीय दलित समाज को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। उपन्यास में गरीबी के बारे में आयशा कहती है कि– ''आवा का आवा दहक रहा है मास्टर जी और भूख बहुत बुरी होती है, सातवें दिन का फाका सारी इज्जत भुला देता है।''[28] गरीबी और भूख ही है जो स्त्री को वेश्या बनने पर मजबूर कर देता है। गरीबी एक स्त्री को मान–सम्मान, नैतिकता सभी को भुलाकर शरीर बेचने की हद तक ले आती है। इसी प्रकार गरीबी के कारण ही दलित समाज में स्त्री–पुरुष दोनों दिहाड़ी मजदूरी करनी पड़ती हैं। इसका प्रभाव बच्चों के भविष्य पर पड़ता है इस दृष्टिकोण से उपन्यास में आया यह प्रसंग उल्लेखनीय है– ''औरत–मरद दोनों मजदूरी पर जाते हैं। घर पर छोटे बच्चों की देखभाल के लिए बड़े बच्चे रह जाते हैं। अब वो भी स्कूल जाएँगे तो देखभाल कौन करेगा।''[29] इस प्रसंग से हम अनुमान लगा सकते हैं कि दलित समाज का भविष्य क्या होगा। ये अनपढ़ बच्चे भी बड़े होकर अपने माँ–बाप की तरह दिहाड़ी मजदूरी करेंगे और जीवन भर गरीबी के चक्कर में पिसते रहेंगे। इस तरह दलितों के जीवन में गरीबी का दुष्चक्र चलता रहेगा।

उपन्यास 'जख़्म हमारे' मूलतः गुजरात में आयी भूकम्प आपदा तथा गुजरात दंगों पर केन्द्रित है। गरीबी के कारण जब भी कोई प्राकृतिक आपदा आती है तो उसका सबसे ज्यादा खामियाजा दलित समाज को ही भुगतना पड़ता है। गरीबी के कारण ही दलित कच्चे तथा कमजोर घरों में रहते हैं।

जब भूकम्प जैसी आपदा आती है तो सबसे ज्यादा दलित ही अपने परिवार जनों को खोते हैं। उपन्यास का पात्र गुलाम जब भूकम्प में अपना परिवार खोकर शहर पहुँचता है तो गरीबी एवं भूख के कारण भूकम्प में तबाह घरों से लाशें निकालने का काम करता है। इसी प्रकार दंगों का भी सबसे ज्यादा खामियाजा यही कामगार वर्ग उठाता है।

कैलाश चन्द चौहान के दोनों उपन्यास सुबह के लिए तथा भंवर में दलित समाज के गरीबी के कारणों में दलितों की भूमिहीन स्थिति तथा अशिक्षा को दिखाया है। भूमिहीन होने के कारण उन्हें गाँव में मजदूरी करके अपनी जीविका चलानी पड़ती है। इस कारण से उनकी आर्थिक स्थिति खराब रहती है। गरीबी के कारण यदि एक बार कर्ज ले लिया तो जीवनभर उस कर्ज से छुटकारा नहीं पाते हैं। ऐसा ही एक वक्तव्य उपन्यास 'सुबह के लिए' में आता है– गाँव में दलितों की आमदनी बहुत कम होती है और ज्यादा काम होने के बावजूद पैसा बहुत कम दिया जाता है, फलतः जरुरत पड़ने पर गाँव के भूस्वामियों से कर्जा लेना उनकी मजबूरी होती है।... अनपढ़ दलित हिसाब में कच्चा होता है, उसका भी भूस्वामी नाजायज फायदा उठाते हैं। दलित कर्ज पर कर्ज लेता रहता है और पिसता रहता है।''[30] इसी प्रकार उपन्यासकार शहरी दलितों की गरीबी की समस्या को अशिक्षा में ही देखता है। सफाई–मजदूरों के बच्चे पढ़ने–लिखने में ध्यान नहीं देते हैं तथा उन मलिन बस्तियों का वातावरण भी उन्हें शिक्षा के प्रति उत्साहित नहीं करता है। इस प्रकार जब ये अशिक्षित बच्चे बड़े होते हैं तो अपने माँ–बाप की तरह साफ–सफाई एवं मजदूरी जैसे अकुशल कार्यों में लग जाते हैं। इस प्रकार गरीबी एवं शोषण का एक अन्तहीन सिलसिला चलता रहता है।

इस प्रकार हम देखते है कि सारे ही दलित उपन्यासकार दलितों में व्याप्त गरीबी को भूमिहीनता, अन्धविश्वास, अशिक्षा, बंधुआ मजदूरी से जोड़कर देखते हैं परन्तु गरीबी दूर करने के उनके सुझावों पर कुछ सवाल खड़े होते हैं। गरीबी दूर करने के लिए उन्होंने शिक्षित होने पर जोर दिया है परन्तु शिक्षा के बाजारीकरण ने उसे दलितों की पहुँच से दूर कर दिया है। आनन्द

तेलतुम्बड़े लिखते हैं कि– '' भूमंडलीकरण का मुक्त बाज़ार पर जोर वास्तव में मूलरूप से दलित मुक्ति के सवाल और बहस को ही नकार देता है और इसके बदले 'ह्यूमन कैपिटल'– बहस को प्रोत्साहित करता है जिसके आधार पर बाज़ार में शिक्षा केवल एक आर्थिक वस्तु हो जाती है। यह बहस पूरे नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) के लिए ही विभिन्न प्रकार के अप्रत्यक्ष खतरे पैदा करती है पर दलितों के लिए तो बाज़ार के अतिरिक्त शिक्षा के सारे तर्काधारों को ही ध्वस्त कर देती है यानी शिक्षा दलित मुक्ति का एक महत्वपूर्ण जरिया है इस धारणा को ही समाप्त कर देती है।''[31] इस कथन से हम समझ सकते हैं कि बाज़ार ने शिक्षा के चेहरे को इस प्रकार बदल दिया है कि दलित मुक्ति का यह हथियार ही **भोथरा** हो गया है। अतः हमे दलित मुक्ति के लिए पूरी शिक्षा–व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन की लड़ाई लड़नी पड़ेगी।

इसी प्रकार भूमिहीनता की स्थिति के विरुद्ध लड़ाई पर भी दलित उपन्यासकारों ने जोर दिया है परन्तु आर्थिक उदारवाद ने कृषि को भी घाटे का सौदा बना दिया है। ऐसे में यदि दलितों को थोड़ी बहुत जमीन मिल भी जाय तो उससे उनकी गरीबी नहीं दूर होगी वह तब भी अदृश्य बेरोजगारी की समस्या से जूझेंगे। अतः हम कह सकते हैं कि दलित समाज को गरीबी एवं शोषण से मुक्ति के लिए पूरी व्यवस्था में संरचनागत परिवर्तन की लड़ाई लड़नी होगी। इस आमूलचूल व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई से ही दलित समाज गरीबी एवं शोषण से मुक्ति पा सकेगा।

(ख) सत्ता एवं वर्ण जाति व्यवस्था का सम्बन्ध

सभ्यताओं के विकास की परम्परा में हम देखते हैं कि बढ़ती हुई आबादी की जरूरतों को पूरा करने के लिए श्रम विशेषीकरण को बढ़ावा दिया गया। भारतीय आदिकालीन सभ्यता में भी उत्पादन में वृद्धि के लिए समाज को श्रम विशेषीकरण के आधार पर चार वर्गों में बाँटा गया तथा इस प्रणाली को वर्ण व्यवस्था के नाम से जानते हैं। वर्ण व्यवस्था में समाज के चारों हिस्सों को क्रमशः ब्राह्मण (ज्ञानार्जन तथा अध्यापन) क्षत्रिय (युद्ध और रक्षा) वैश्य (खेती एवं

व्यापार) एवं शूद्र (सेवक) के नाम से जानते है। वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भ में व्यक्ति के वर्ण निर्धारण का कार्य गुरु करता था। प्रत्येक व्यक्ति के विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भ में उपनयन संस्कार होता था। इसी उपनयन संस्कार के अवसर पर गुरु प्रत्येक विद्यार्थी का उसके गुणों के आधार पर वर्ण–निर्धारण करता था। चूँकि वर्ण निर्धारण का कार्य छात्रों के गुणों के आधार पर होता था। अतः तब तक हम वर्ण व्यवस्था को गतिशील मान सकते हैं।

कालान्तर में उपनयन संस्कार का अधिकार गुरु के पास न रहकर पिता के पास केन्द्रित हो गया जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों के वर्ण निर्धारण का आधार अब उनके गुणों पर न होकर, पिता या परिवार के आधार पर होने लगा। वर्ण–निर्धारण की व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन क्योंकर हुआ तथा वर्ण–निर्धारण का आधार बदल देने पर किस तबके का फायदा हुआ ये सवाल मानीखेज है। चूँकि किसी भी समाज में जिस तबके का वर्चस्व होता है वहीं अपने हिसाब से उसके कायदे–कानून में परिवर्तन करता है। वर्ण–व्यवस्था में जो तबका शीर्ष पर था अर्थात् ब्राह्मण उसने अपनी सन्तानों का भविष्य सुनिश्चित करने के लिए वर्ण का आधार कर्म से बदलकर जन्मना कर दिया। रजनीकांत शास्त्री लिखते हैं कि– ''ब्राह्मण समुदाय ने समाज में जिस उच्च पद को कठोर परिश्रम के द्वारा अर्जित किया था, उसे अपने कुल में सीमित रखने की इच्छा हो गई। उन्हें भय हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि अन्य वर्ण के लोग भी गुण–कर्मों के द्वारा उन्नति करते–करते हमारे पद को छीन ले तथा हमारी भावी सन्तानें अयोग्यता के कारण वर्णान्तर में ढकेल दी जाय, अतः वर्ण निर्णयार्थ वे केवल जन्म को ही सबकुछ मानने तथा ऐसे–ऐसे श्लोकों की रचना करने लगे।''[32] अपने भावी सन्तानों का भविष्य सुरक्षित करने के फेर में ब्राह्मण तबके ने इस व्यवस्था को ईश्वरीकृत बनाने का जतन किया। चूँकि समाज में निम्न तबकों में संख्या बल अधिक था तथा इनके अनुपात में ब्राह्मण तबके का संख्या बल कम था। अतः ऐसी अन्याय–पूर्ण व्यवस्था के खिलाफ किसी भी संभावित विद्रोह को रोकने के लिए उसको पवित्र एवं ईश्वरीकृत घोषित करना अनिवार्य था।

चूँकि तत्कालीन समय में ब्राह्मण तबके के पास ही साहित्य सृजन की कुशलता थी अतः उन्होंने इस व्यवस्था को स्थायी करने के लिए तमाम ग्रन्थों तथा स्मृतियों की रचना की। वर्ण–व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के दशवें मंडल में हुआ है–

''ब्रह्मणोअस्य मुखमासीद्बाह् राजन्यः कृतः।
उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भयां शूद्रोअजायत।।''

(प्रजापति ने जिस पुरुष का विधान किया इसका मुख ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, जांघे वैश्य है और पैर शूद्र है।)

हालांकि बाद में हुए बहसों– मुबाहिसों में मान लिया गया कि ऋग्वेद का यह हिस्सा प्रक्षिप्त है। परन्तु वर्ण–व्यवस्था के इस रूपक से यह सिद्ध होता है कि कालान्तर में ब्राह्मण तबके ने न केवल इस विभाजन को प्राकृतिक बनाकर स्थापित किया वरन् वर्णों में भी उच्च निम्न, निम्नतर के आधार पर विभेद कर दिया। अर्थात् मुख से उत्पन्न ब्राह्मण इस व्यवस्था में शीर्ष पर है वही पैरों से उत्पन्न शूद्र निम्नतर स्थिति में है। आगे चलकर शूद्रों से उपनयन का अधिकार भी छीन लिया गया। बाबा साहब अम्बेडकर उपनयन संस्कार पर लिखते हैं कि– ''उपनयन से व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा और वैयक्तिक अधिकार प्राप्त होते थे। ब्राह्मणों ने शूद्रों से उपनयन का अधिकार छीनकर उन्हें ज्ञानार्जन और संपत्ति संचय से वंचित कर दिया। उसका सामाजिक पतन हो गया। वह दरिद्र और अज्ञानी हो गए। शूद्रों से बदला लेने के लिए ब्राह्मणों ने शूद्रों के विरुद्ध उपनयन विरोध को अणुबम के रूप में प्रयोग कर उन्हें गर्त में ढकेल दिया और उन्हें शमशान तुल्य बना डाला।''[33] वेदों द्वारा स्थापित इस चतुर्वर्णीय व्यवस्था को मनु ने दैवीय सिद्धान्त के रूप में स्थापित कर दिया। उसने मनुस्मृति द्वारा स्थापित नियमों को लागू करवाना राजा का कर्तव्य घोषित कर दिया।

इस प्रकार चतुर्वर्णीय व्यवस्था में उपर के तीन तबके जिन्हें उपनयन का अधिकार था द्विज कहलाये। द्विज का तात्पर्य होता है दूसरा जन्म लेने वाला।

जिन जातियों को उपनयन का अधिकार नहीं था वे शूद्र कहलाये। शूद्र भी वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत आते थे परन्तु समाज का एक बड़ा तबका इस चतुर्वर्णीय व्यवस्था के बाहर था जिन्हें मनु ने इस व्यवस्था के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया, वह अवर्ण कहलाया। चतुवर्णीय व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए बाबा साहब अम्बेडकर लिखते हैं कि– ''जो चातुर्वर्ण्य के भीतर थे चाहे उच्च थे या नीच, ब्राह्मण थे अथवा शूद्र वे सवर्ण कहलाए अर्थात् उन पर वर्ण की मुहर लगी थी। जो चातुर्वर्ण्य के बाहर थे वे अवर्ण कहलाए यानी उन पर वर्ण की मुहर नही लगी थी। चारो वर्णों से उत्पन्न जातियों को सवर्ण हिन्दू कहा जाता है।''[34]

इन अवर्ण जातियों को हिन्दू वर्ण व्यवस्था से बाहर रखा गया। अवर्ण जातियों के मुख्यतः दो वर्ग थे एक आदिम एवं जरायम पेशा जातियाँ तथा दूसरा अस्पृश्य जातियाँ। आदिम एवं जरायम पेशा जातियों के लिए हिन्दू धर्म ने कोई स्पष्ट कानून नहीं बनाया अर्थात् भविष्य में वे हिन्दू धर्म में समाहित हो सकते थे। परन्तु अस्पृश्य जातियों के उपर हिन्दू धर्म विधानों में निश्चित निर्योग्यताएँ निर्धारित की गयी।

बाबा साहब अम्बेडकर अस्पृश्य तबके के बारे में लिखते हैं कि– ''चातुर्वर्ण्य में मनु ने जिन लोगों को शामिल किया, उनका प्रतिरूप हिन्दू नामक आधुनिक मिश्रित वर्ग है। जिन्हें मनु ने बाह्य (चातुर्वर्ण्य से बाहर) कहा, उनका प्रतिरूप भारत में वर्तमान अस्पृश्य है। चातुर्वर्ण्य में शामिल चार वर्णों–ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के बीच की विभाजन रेखा आधुनिक काल में धुंधली पड़ गई और वे कुछ हद तक आपस में घुलने–मिलने लगे हैं। लेकिन चातुर्वर्ण्य के भीतर वालों तथा बाहर वालों के बीच जो विभाजन रेखा मनु ने खीची थी वह आज भी स्पष्ट है और उसे न तो मिटाने और न ही उसका उल्लंघन करने की इजाजत है।''[35] इससे हम समझ सकते हैं कि वर्ण व्यवस्था जब जन्मना निर्धारित होने लगी तथा उसका वर्ण श्रेष्ठता क्रम स्थिर कर दिया गया तो वही व्यवस्था विकृत होकर जाति व्यवस्था में तब्दील हो गई।

बाबा साहब अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए कहा है कि– ''जाति–व्यवस्था की एक विचित्र विशेषता यह है कि विभिन्न जातियाँ एक समान स्तर पर नहीं खड़ी है। यह वह व्यवस्था है जिसमें विभिन्न जातियों का का स्थान एक–दूसरे के उपर उर्ध्वाकार क्रम में निश्चित किया गया है। कदाचित मनु जाति के निर्माण के लिए जिम्मेदार न हो, परन्तु मनु ने वर्ण की पवित्रता का उपदेश दिया है। जैसा कि मैंने इससे पूर्व स्पष्ट किया है, वर्ण–व्यवस्था जाति की जननी है और इस अर्थ में मनु जाति व्यवस्था का जनक न भी हो परन्तु उसके पूर्वज होने का उस पर निश्चित ही आरोप लगाया जा सकता है।''[36] दरअसल इससे पूर्व हम वर्णों के निर्धारित श्रेष्ठता क्रम पर चर्चा कर चुके हैं। आधुनिक युग में भी जाति का श्रेष्ठता क्रम वर्ण के श्रेष्ठता क्रम से ही निर्धारित होता है। जो जातियाँ वर्ण क्रम में उपरी तबके से सम्बन्धित है उनका मेल–मिलाप तथा खान–पान होने लगा है। उनके बीच का अन्तर क्रमशः धुंधला पड़ने लगा है परन्तु अवर्ण वर्ग से जिन जातियों का उद्‌भव हुआ है, वो आज भी अस्पृश्यता तथा निर्योग्यताओं का बोझ ढो रही हैं।

आधुनिक समय में हम जब जातियों का परस्पर अन्तर्सम्बन्ध देखते हैं तो कई विरोधाभास दिखायी देते हैं। शूद्र वर्ण से निकली जातियाँ (कारीगर जातियाँ) जिनके उपर स्वयं ही कभी निर्योग्यताएँ लादी गयी थी, उन्हें स्वभाविक रूप से अवर्ण वर्ग की जातियों के हितैषी के रूप में आगे आना चाहिए था। अवर्ण जातियों ने जाति विहीन समाज बनाने का जो संघर्ष चलाया है उसमें शूद्र वर्ण की जातियों को साथ देना चाहिए था परन्तु बजाय साथ देने के यही मध्य वर्ग की जातियों ने दलित जतियों का विरोध करना शुरू कर दिया। बाबा साहब अम्बेडकर इसी समस्या पर लिखते हैं कि– ''हिन्दू में जाति भावना होती है। उसमें वर्ग–भावना भी होती है। उसमें जाति–भावना या वर्ग–भावना इस बात पर निर्भर करती है कि उसका टकराव किस जाति से होता है। जिस जाति से उसका टकराव होता है, यदि वह उसके वर्ग की ही जाति है, तो उसमें अपनी जाति–श्रेष्ठता की भावना होती है। यदि जाति उसके वर्ग के बाहर की छोटी है तो उसमें वर्ग–श्रेष्ठता आ जाती है।''[37] यही

मनुस्मृति के विधानों की सफलता का कारण भी है। इस तरह के विभाजन के कारण ही उत्पीड़ित तबका एक साथ संगठित नहीं हो पाता है। एक उत्पीड़ित तबका सोचता है कि दूसरे वाले उत्पीड़ित तबके से वह श्रेष्ठ है और दूसरा वाला उत्पीड़ित तबका सोचता है कि वह तीसरे उत्पीड़ित तबके से श्रेष्ठ है। वर्ण–जाति व्यवस्था के प्रतिरोधी अन्दोलनों के सामने दो तरफा संघर्ष है एक तरफ तो उसे ब्राह्मणवादी वर्चस्व के खिलाफ लड़ना है तो दूसरी तरफ उत्पीड़ित तबकों की एकता एवं उनको संगठित करने की चुनौती भी उसके सामने है। इसी चुनौती को स्पष्ट करते हुए बाबा साहब अम्बेडकर लिखते हैं कि– ''उच्चतम से सभी को गिला है और सभी उसका पतन चाहेंगे। पर नीचे वाले एकजुट नहीं हो सकते। उच्चतर वर्ग उच्चतम वर्ग से पिण्ड छुड़ाना चाहता है, परन्तु वह उच्च और निम्न और निम्नतर वर्ग के कंधे से कंधा नहीं मिला सकता कि कहीं वे उसके बराबर न हो जाएँ। उच्च वर्ग उच्चतर वर्ग को गिरा देना चाहता है जो उसके उपर है, परन्तु वह निम्न और निम्नतर से नहीं मिलेगा कि कहीं वे उसके बराबर का दर्जा न पा जाएँ। निम्न वर्ग उच्चतम, उच्चतर और उच्च वर्ग से छुटकारा पाना चाहेगा, परन्तु निम्नतर से उसकी पटरी न बैठेगी कि कही निम्नतर निम्न का दर्जा न पा ले।''[38] यहीं वर्ण–जाति व्यवस्था से उत्पन्न सबसे बड़ी समस्या है तथा सामाजिक एकीकरण की सफलता में सबसे बड़ा अवरोध है। जाति–व्यवस्था के कारण ही आधुनिक समाज में भी समानता एवं बंधुता के मूल्य स्वीकार्य नहीं है।

आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की जानकारी से लैस होकर भी विद्वानों का एक बड़ा समूह जाति–व्यवस्था को श्रम विशेषीकरण की एक विधि मानता है और इसी समझदारी के तकाजे पर वह कहता है कि इस तरह के विभाजन से समाज में उन्नति होगी। विद्वानों का यह समूह यह मानने के लिए तैयार ही नहीं है कि वर्ण–जाति व्यवस्था केवल श्रम का विभाजन ही नहीं करती वरन् यह श्रमिकों का भी वर्ण–जाति व्यवस्था के आधार पर विभाजन करती है। किसी निम्न जाति में जन्मा व्यक्ति दूसरे कार्यों मे प्रतिभावान होने के बावजूद अपने जाति पेशे को करने के लिए मजबूर होता है। बाबा साहब अम्बेडकर ने

लिखा है कि– ''जाति व्यवस्था केवल श्रम का विभाजन नहीं है। निःसंदेह सभ्य समाज में श्रम विभाजन आवश्यक होता है। लेकिन किसी भी सभ्य समाज में श्रम विभाजन के साथ श्रमिकों का अपरिवर्तनीय प्राकृतिक विभाजन नहीं किया जाता। जाति व्यवस्था श्रमिकों का विभाजन करने वाली व्यवस्था नहीं है– जो कि श्रम के विभाजन से सर्वथा भिन्न है, बल्कि वह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों के विभाजन की श्रेणी एक दूसरे के उपर निर्धारित की गई है।''[39]

उपरोक्त कथन में बाबा साहब अम्बेडकर ने ध्यान दिलाया है कि जाति–व्यवस्था में कोई जाति वर्गान्तरण भी नहीं कर सकती है। हिन्दू धर्मग्रन्थों में जातियों के वर्गान्तरण का निषेध किया गया है। प्राचीन समय से ही यह सामाजिक व्यवस्था इतनी कठोर बनायी गयी कि ऐसा करने पर किसी भी व्यक्ति, परिवार या समाज का सामाजिक बहिष्कार कर दिये जाने का खतरा होता था। मेगस्थनीज ने तत्कालीन समाज–व्यवस्था पर लिखा है कि– ''व्यक्ति को न तो दूसरी जाति में विवाह करने की अनुमति थी और न ही व्यवसाय को बदलने की छूट थी, न एक से अधिक जाति का सदस्य बन सकता था। केवल दार्शनिक इसमें अपवाद थे जो अपनी प्रतिष्ठा के बल पर ऐसा कर सकते थे।''[40] हालांकि आधुनिक युग में किसी जाति का वर्गान्तर तो नहीं हुआ है परन्तु आधुनिक संसाधनों का कुशलतापूर्वक उपयोग करके कुछ जातियों ने आर्थिक सुदृढ़ता हासिल की जिसके कारण उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में बदलाव तो हुआ ही है। उदाहरणस्वरूप हम तमिलनाडु के 'एडवा' और 'नडारों' की सामाजिक स्थिति में आये बदलाव को देख सकते हैं।

वर्ण–जाति व्यवस्था की इसी समझदारी के साथ हम दलित उपन्यासों में आये इसके प्रारुप की विवेचना करेंगे। 'मानव की परख' उपन्यास का प्रारम्भ ही मथुरा की दलित बस्ती से होता है। लेखक दलित बस्ती के बारे में लिखता है कि– ''लगता है क़ब्रिस्तान और उस बस्ती में काफी समानता है क्योंकि जिस प्रकार क़ब्रिस्तान में कोई क़ब्र नीचे धसी होती है, कोई उपर से फूटी होती है, कोई बिखरी और कोई एक दूसरे से सटी होती है उसी प्रकार इस

बस्ती के घरों का हाल है। कच्चे कोठों के बीच एक–दो पक्के मकान क़ब्रिस्तान के बीच कच्ची क़ब्रों के पास पक्की क़ब्रों की याद करा देते हैं। धूप और हवा न क़ब्रों में पहुच पाती है और न यहाँ के छोटे–बड़े घरों में''[41] उपन्यासकार ने दलित बस्ती की तुलना शमशान से की है। उसी दौर की दलित बस्ती और दलितों के जीवन की प्रस्तुति वैचारिक रूप से दूसरे धरातल पर खड़े तुलसीराम भी जब अपनी आत्मकथा में करते हैं तो उसका नाम मुर्दहिया (शम्शान) ही रखते हैं। क्या इससे हम यह कयास नहीं लगा सकते कि जिस प्रकार मानव जीवन में क़ब्रिस्तान या श्मशान का स्थान जीवन के अन्तिम छोर पर आता है उसी प्रकार भारतीय समाज में भी दलितों का स्थान उसके अन्तिम छोर पर ही स्थित है।

उपन्यासकार द्वारा शहरों में अलग–थलग पड़े दलित बस्ती के इस यथार्थ को कुछ लोग वर्ण–व्यवस्था का कारण न मानकर इसका संम्बन्ध गरीबी से भी जोड़ सकते हैं परन्तु गाँवों में वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण दलितों के दोयम दर्जे को भारतीय समाज में स्वीकार्य भाव से लिया जाता है। गाँव में जमींदार के बुलाने पर जब पूरे गाँव के लोग इकट्ठा होते हैं तो बैठने की व्यवस्था भी वर्ण–जाति के पैमाने से तय होती है। उपन्यास में गाँव का दृश्य इस प्रकार आता है– ''शाम को जमींदार जी के लम्बे–चौड़े घेरे में गाँव के सारे लोग जमा हुए। जमींदार जी की आज्ञानुसार उनके कारिन्दों ने चारों वर्णों में से श्रेष्ठ समझे जाने वाले तीन वर्णों को खरैरी खाटों पर और शेष को जिसकी जनसंख्या तीनों वर्णों की संख्या से चौगुनी थी, नीचे नंगी जमीन पर बैठा दिया।''[42] यह वक्तव्य वर्ण–जाति व्यवस्था के उस श्रेणी क्रम को दिखाता है जिसकी मार पूरी जनसंख्या का तीन चौथाई हिस्सा झेल रहा है। यह वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण उस अवमानना की स्थिति को दिखाता है जहाँ पीड़ित तबके को प्रत्येक सामाजिक क्रियाकलाप में उसकी हीन स्थिति का एहसास करवाया जाता है। इसी प्रकार उपन्यास में वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण उच्च तबके के उस घिनौने रूप को भी दिखाया गया है जो सार्वजनिक जीवन में धर्म और पवित्रता की दुहाई देकर दलितों से अस्पृश्यता बरतता है

परन्तु दलित स्त्रियों के शारीरिक शोषण में सारी नीति–मर्यादा को भूल जाता है। वही सेठ जो रानी के साथ बलात्कार करता है तब उसकी धर्म और पवित्रता नहीं जाती परन्तु रानी ही के ही बेटे को मन्दिर में सफाई के लिए घुसने के कारण मन्दिर की अपवित्रता का ढोंग रचकर उसकी पिटाई करता है। यह वर्ण–व्यवस्था में उपरी तबके की हकीकत है जो सार्वजनिक जीवन में हर कदम पर धर्म और नैतिकता की दुहाई देता फिरता है परन्तु निजी जीवन में स्वार्थ के कारण सारे ही मूल्यों को ताक पर रख देता है।

उपन्यास के अन्त में रानी के बिछड़े हुए बेटे रोहित की शादी इन्दु से होती है। रोहित को रानी द्वारा पहचाने जाने पर उसकी जाति का पता चल जाता है। दुनिया की नजरों में रोहित का भंगी जाति से होना ही उसके सारे गुण, सारी प्रतिभा को समाप्त कर देता है। वहीं सेठ (इन्दु का पिता) उसे गोली माने का प्रयास करता है। सेठ कर्नल गुप्ता से कहता है कि– ''तो तुम्हारी इच्छा है कि यह मालुम होने पर कि वह रानी का छोकरा है उसे तुम्हारा ही पुत्र मान लू और दुनिया के लिए मिसाल बन जाने दूँ कि भविष्य में हमारे दामाद भंगी और चमार हुआ करेंगे?''[43] उपन्यास का यह प्रसंग आजादी के दशक की परिस्थितियाँ बताता है परन्तु क्या भारतीय समाज में वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण दलितों की स्थिति में कोई परिवर्तन हुआ है? परम्परागत पिता से लेकर उत्तर आधुनिक पिता के दृष्टिकोण में दलितों को लेकर कोई परिवर्तन दिखायी नहीं देता है। 21वीं सदी के इस दूसरे दौर में भी 'ऑनर किलिंग' की घटनायें रोज ही अखबारों का हिस्सा होती हैं और ऐसी घटनाएँ सिर्फ हिन्दी क्षेत्र में ही नही वरन् दक्षिण भारत में भी होती हैं।

उपन्यास 'करुणा' में वर्ण–जाति व्यवस्था का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है। गाँव के विवाद में वहाँ के जमींदार के संवाद से पता चलता है कि उपन्यास का नायक चमार जाति से है। हालाँकि ग्रामीण प्रसंग में भी गाँव के जातीय आधार पर किसी विभाजन का पता नहीं चलता है। गाँव का जमींदार वर्ण–जाति व्यवस्था तथा सामन्ती नशे के कारण ही अपने बेटे द्वारा एक दलित लड़की से बलात्कार करने की कोशिश को जायज मानता है। उपन्यास के

नायक रमेश तथा लड़की के पिता के पंचायत बुलाने पर उसकी प्रतिक्रिया उपन्यास में कुछ इस प्रकार आती है– ''एक चमार का इतना साहस कि मेरी इज्जत से खिलवाड़ करने पर तुल गया। सरकार ने इन्हें सुविधायें क्या दे दी, इन दो कौड़ी के आदमियों का दिमाग चढ़ गया है। कल तक परिवार भूखों मरता था, आज भर पेट मिलने लगा है तो दिमाग सातवें आसमान पर झूल रहा है। चला है नेतागिरी करने। बात को ऐसे तूल दे रहा है जैसे कहार की बेटी नहीं ब्राह्मण या ठाकुर की लड़की छेड़ दी हो। अरे चमार की लड़की छेड़ी है उसने किसी ब्राह्मण या ठाकुर की तो नहीं छेड़ी।..... आखिर कहारिन–चमारिन होती किस लिए है।''[44] यह प्रसंग ग्रामीण जातिवादी एवं सामंती समाज की उस सोच को उजागर करती है जहाँ सिर्फ ब्राह्मण–ठाकुर जाति की महिलाओं का सम्मान ही उनके लिए मायने रखता है, दलित पिछड़े समाज की महिलाओं को ये गुलाम स्त्रियाँ ही समझते हैं। घर की महिलाओं के सम्मान की बाबत अगर दलित समाज अपनी आवाज़ उठाता है तो सवर्ण समाज आधुनिक होती व्यवस्था को ही कोसने लगता है।

कर्दम जी के दूसरे उपन्यास छप्पर में गाँव के चित्रण में गाँव को वर्ण–जाति व्यवस्था के आधार पर दो भागों में बाँटा गया है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही वर्ण–जाति व्यवस्था के आधार पर गाँव की बसावट का जिक्र आता है– ''अन्य भारतीय गाँव की तरह मातापुर में भी थोड़े से लोग सुखी एवं सम्पन्न तथा शेष लोग दीन और दरिद्र हैं। सुखी संपन्न लोगों मे सवर्ण कहलाने वाले ब्राह्मण–पुरोहित ठाकुर जमींदार तथा लाला साहूकार हैं। दूसरे गाँवों की तरह सवर्ण लोग उपर की ओर तथा अवर्ण कहे जाने वाले दलित गंगा के बहाव की ओर निचान में बसे हैं।''[45] उपन्यास के इस प्रसंग से हम समझ सकते हैं कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था ने संसाधनों का बँटवारा सुनिश्चित कर दिया है। संसाधनों पर सवर्ण समाज का कब्जा पारम्परिक व्यवस्था से ही बरकरार है। और तो और गाँवों की बसावट भी इस प्रकार से निर्धारित की गयी है कि किसी भी आपदा का सामना सबसे पहले दलितों को ही करना पड़े। जहाँ गाँवों में वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण दलितों की स्थिति या तो भूमिहीन या बंधुआ मजदूर की बना दी गयी है, वही यह व्यवस्था सवर्ण

समाज के व्यक्ति को पहले से ही श्रेष्ठता और योग्यता का तमगा दे देती है। सवर्ण तबके के व्यक्ति की जीविका योग्यता न होने पर भी आसानी से चल जाती है। इस बात को हम काणे पण्डित के चरित्र से समझ सकते हैं– ''किसी और मुल्क या गैर जाति में पैदा हुआ होता तो भूखों मरता काणाराम, लेकिन धन्य हो भारत की समाज व्यवस्था कि यहाँ पर ब्राह्मण भूखों मर ही नहीं सकता। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में ब्राह्मण उससे टैक्स वसूल करता रहता है। चाहे कितना भी अशिक्षित, अयोग्य और अक्षम क्यों न हो लेकिन एक ब्राह्मण पण्डित पुरोहिताई करके सुख और सम्मान से जी सकता है।''[46] यह जाति–व्यवस्था की कड़वी सच्चाई है जिसमें काणे पण्डित जैसे लोग सुख–चैन एवं सम्मान से जीते हैं वहीं दूसरी तरफ सुक्खा जैसे दलित मेहनत–मजदूरी करके भी भरपेट भोजन नहीं पाते हैं।

सुक्खा अपने बेटे चन्दन को शहर में पढ़ने के लिए भेजता है। एक दलित का पढ़–लिखकर उन्नति करना पारम्परिक समाज को गंवारा नहीं है। चन्दन की पढ़ाई का विरोध काणा पण्डित एवं जमींदार दोनों ही करते हैं। उसे प्रायश्चित के नाम पर वापस बुलाना चाहते हैं। गाँव का जमींदार चन्दन को वापस बुलाने की साजिश कुछ इस प्रकार बयां करता है– ''वह (चन्दन) पढ़–लिखकर कहीं नौकरी कर ले इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन चन्दन की देखा–देखी यदि सब चमार–चूहड़े पढ़–लिख जाएँ और सब के सब बाहर जाकर नौकरी करने लगेंगे तो कल हमारे खेतों और घरों में काम कौन करेगा?''[47] यह जाति–व्यवस्था की ही देन है जब सवर्ण तबका दलितों को विकास करने से रोकने के लिए झुण्ड बनाकर साजिश करता है। उपन्यास के इसी प्रसंग पर तेज सिंह लिखते हैं कि– ''यह भारत के आत्मनिर्भर ग्रामीण–समाज की वर्ण–व्यवस्था का वास्तविक रूप है जिसे हजारों साल से सवर्ण समाज अपने वर्ग हितों के लिए बनाए रखना चाहता है और पंचायती राजव्यवस्था उसका साधन बनती है। जब दलितों द्वारा इस सामाजिक–संरचना को तोड़ने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं तो सवर्ण समाज का जातिवादी घिनौना चेहरा हमारे सामने आ जाता है और दलितों के जीवन–यापन के सारे

रास्ते बन्द कर दिए जाते हैं।''[48] इस प्रकार हम देखते हैं कि छप्पर में भारतीय समाज के जातिवादी स्वरूप का यथार्थ चित्रण हुआ है।

उपन्यास 'मिट्टी के सौगंध' में वर्ण–जाति व्यवस्था का सतही स्वरूप आया है। पूरा उपन्यास मूलतः एक दलित स्त्री (शीला) तथा राजपूत युवक विजेन्द्र की सिनेमाई प्रेम कथा पर आधारित है। सत्य प्रकाश जी के उपन्यास 'जस तस भई सवेर' में ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही परिवेश में वर्ण–जाति व्यवस्था के शोषणकारी स्वरूप का यथार्थ अंकन हुआ है। ग्रामीण परिवेश में गाँव का जमींदार इसी जाति व्यवस्था के कारण दलित स्त्रियों का शारीरिक शोषण करता है। जमींदार जो कि सामन्ती व्यवस्था का प्रतिनिधि है, का साथ धर्म के पाखंडी रूप का प्रतिनिधि हरसन्ना भगत देता है यानी दलितों के इस शोषण में सामन्ती व्यवस्था का साथ धार्मिक व्यवस्था देती है। जमींदार को अपनी सामाजिक स्थिति के कारण आधुनिक संस्थाओं (पुलिस, कानून) से बच निकलने का लाभ मिलता है वहीं दूसरी तरफ दलितों का दुहरा नुकसान होता है। दलितों के साथ अपराध भी होता है और उसकी सामाजिक स्थिति के कारण ही न्याय मिलने की बजाय थाने जैसी जगहों पर उनका अपमान किया जाता है। दलित स्त्री रामरती के साथ बलात्कार होता है, उसका पति थाने में रिपोर्ट दर्ज करवाने जाता है तो दरोगा उल्टा उसे गालियाँ देते हुए कहता है– ''साले मादर चोद, हराम की औलाद तुम लोग इज्जतदार और शरीफ लोगों के खिलाफ झूठे मामले बनाते रहते हो। तुम लोगों को इज्जतदार लोगों की इज्जत से खेलते हुए शर्म नहीं आती। हरिजन एक्ट का दुरुपयोग करते हो। अरे नालायक के बीज तेरी इज्जत क्या है जो बिगड़ जायेगी।''[49] थाना प्रभारी की यह प्रतिक्रिया उस स्थिति को बयां करती है जिसका सामना दलित समाज के लोगों को करना पड़ता है। दलितों को न्याय दिलाने की बजाय पुलिस उन्हें ही प्रताड़ित करती है। इसी प्रकरण से हम समझ सकते हैं कि सत्ता का आधुनिक स्वरूप (पुलिस) भी दलित समाज के साथ न्याय नहीं करता है। सत्ता के पारम्परिक स्वरूप से लेकर आधुनिक स्वरूप तक सभी उच्च वर्ण–जाति तबके के हिसाब से संचालित होती है।

शहरी परिवेश में फैले वर्ण–जाति व्यवस्था के सूक्ष्म एवं जहरीले स्वरूप को उपन्यासकार ने बारीकी से पकड़ा है। मण्डल कमीशन लागू होने के बाद आरक्षण विरोध की घटनाओं की जड़ में उपन्यासकार मीडिया के जातिवादी–ब्राह्मणवादी चरित्र को रेखांकित करता है। उपन्यासकार मीडिया की शब्दावली का विश्लेषण करते हुए कहता है कि– ''अब देखिए सरकार ने हरिजन शब्द का प्रयोग (अनुसूचित जाति, जनजाति के लिए) निषेध कर दिया है, परन्तु समाचार पत्रों के सम्पादकों एवं पत्रकारों को यह छोटी सी बात भी स्मरण नहीं रहती अथवा वर्ग विशेष की भावनाओं को आहत करने के लिए जानबूझकर उनके नाम के साथ 'हरिजन' शब्द लिखकर उन्हें अपमानित कर रहे है। दूसरों को कहेंगे 'भारतीय पहलवान' इन्हें कहेंगे 'हरिजन पहलवान'।''[50] इतना ही नहीं उपन्यासकार ने मण्डल विरोधी 'झूठी आत्मदाह' की घटनाओं का भी विश्लेषण किया है जिसमें मीडिया की भूमिका नकारात्मक दिखती है। तत्कालीन समय में मीडिया के जतिवादी एवं ब्राह्मणवादी चरित्र के कारण ही एक समुदाय के खिलाफ हिंसा का माहौल बना।

आजादी के बाद दलित जातियों की उन्नति के लिए आरक्षण का संवैधानिक प्रावधान किया गया। मण्डल कमीशन लागू होने के साथ पिछड़ी जातियों को भी सरकारी संस्थानों में आरक्षण की सुविधा दी गयी परन्तु भारतीय समाज का उच्च वर्ण–जाति तबका अक्सर योग्यता को पैमाना बनाकर आरक्षण का विरोध करता रहा है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार ने एक मानीखेज सवाल उठाया है– ''हाँ, अभी तकनीकी क्षेत्रों में स्थिति थोड़ी परिवर्तित है परन्तु वहाँ भी अब छुटपुट मामले ही मिलते हैं अरे आपकी अव्यवस्था के कारण पहले तो उम्मीदवार ही नहीं मिलते थे आगामी दो चार वर्षों में आपकी यह समस्या कि कम अंकों पर प्रवेश मिला भी हल हो जायेगी। परन्तु दक्षिणा द्वारा प्रवेश (डोनेशन एडमीशन) से भी तो कम अंकों वाला उम्मीदवार प्रवेश पा जाता है वहाँ तो आप योग्यता क्रम न देखकर धन का मानदंड ही देखते हैं क्या वह अयोग्य उम्मीदवार नहीं है परन्तु कोई उसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाता।''[51] दरअसल उपन्यास का यह प्रसंग सवर्ण तबके

की कलई खोलता है जो दलित–पिछड़ी जातियों का विरोध करने के लिए योग्यता के पैमाने का झूठा सहारा लेता है। आरक्षण विरोध के मसले पर उच्च जाति के तबके की लामबंदी ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही परिवेश में होती है। इसी प्रकार दलित नायक शिवदास की शादी का विरोध सुमेधा के तबके के सारे ही लोग करते हैं चाहे वह उच्च शिक्षित हो या अनपढ़। इस प्रकार पूरे उपन्यास में उपन्यासकार ने वर्ण–जातिव्यवस्था के उस जहर को दिखाने में सफलता पायी है जिसके कारण एक स्वस्थ समाज का निर्माण सफलतापूर्वक नहीं हो पा रहा है।

उपन्यास 'मुक्तिपर्व' मुख्यतः शिक्षा जगत में फैले जातीय भेदभाव को केन्द्रित करके लिखा गया है। उपन्यासकार ने आधुनिकता के प्रतीक शहरों में वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण शहरी आवाम को दो हिस्सों में बांटकर देखा है। एक तरफ सवर्ण समुदाय तथा दूसरी तरफ समाज का दलित शोषित निम्न तबका। ये समाज के दो हिस्सों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते बल्कि दोनों की दुनियां ही अलग–अलग है। उनके मूल्य, रहन–सहन तथा उनकी संस्कृति के पैमाने ही अलग–अलग है। उपन्यासकार ने लिखा है कि– ''चमार और डोम शहर की सीमा के इस तरफ रहते थे। उस तरफ सवर्ण रहते थे तो इस तरफ दलित। दोनों की दुनिया अलग थी। उधर बाग–बगीचे थे तो इधर जंगल। उधर बाजार थे, पनघट थे, मंदिर थे इधर श्मशान, कूड़ाघर, कलालों की दुकानें। दोनों तरफ के अपने–अपने संस्कार थे और अपनी–अपनी संस्कृति। जब वे एक–दूसरे से टकराते तो मारकाट होती। सवर्ण लाठियाँ बल्लम चलाते हुए गालियाँ देते, थूकते, खुलेआम पेशाब करते और अपनी उद्दण्ड संस्कृति का परिचय देते। फिर भी वे शहर में सभ्य कहलाते।''[52] उपन्यास के इस प्रसंग से हम समझ सकते हैं कि भारतीय 'सभ्य' समाज में वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण दलित तथा सवर्ण समाज दो सभ्यताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें सवर्ण समाज दलितों के शोषण पर ही टिका हुआ है। सवर्ण तबका सभ्य होने का पैमाना भी खुद ही निर्धारित करता है।

वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण 'शिक्षा का मन्दिर' स्कूल भी जाति के आधार पर बँटा हुआ है। स्कूल के सवर्ण अध्यापक दलित छात्रों को जाति के कारण अपमानित व प्रताड़ित करते हैं। अध्यापकों की सवर्ण मानसिकता उपन्यास के इस प्रसंग में खुल कर सामने आती है–

'कौन से स्कूल से आये हो'?
'निकेतन प्राईमरी स्कूल से।'
जवाब दिया था सुनीत ने।
समझ गया बच्चू समझ गया,
चमारों के स्कूल से आये हो यही ना।''[53]

किसी भी समाज में अध्यापक बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधि होता है। उसके हाथों में समाज को आगे ले जाने वाली बागडोर होती है परन्तु हिन्दू समाज में ऊँची जाति का अध्यापक अपने जातिवादी चरित्र को नहीं छोड़ता है। वह दलित छात्रों को शिक्षित करने की बजाय स्कूल से भगाने की फिराक में लगा रहता है। यहीं नहीं इन जातिवादी अध्यापकों की नजरों में दलित छात्रों की स्थिति जानवरों से बदतर होती है। दलित छात्रों के स्कूल में दाखिला लेने पर सवर्ण अध्यापकों की प्रतिक्रिया पूरे जातिवादी चरित्र के साथ आती है– ''पर हम बताए देते है हैड मास्टर जी, इतना तो हमने झेल लिया, आगे अगर किसी चमार–भंगी के लौंडे–लपाड़े को आपने इस स्कूल में दाखिला दिया तो बात इतनी बिगड़ जायेगी कि फिर संभालनी मुश्किल हो जायेगी।''[54] उपन्यासों में ही नहीं वरन् दलित आत्मकथाओं में भी सवर्ण अध्यापकों का चरित्र कमोवेश ऐसा ही दिखायी देता हैं। अध्यापकों के इन्हीं चरित्रों से भारतीय समाज की 'प्रगतिशीलता' एवं 'विश्व गुरु' होने की पोल खुलती है।

दलित उपन्यास 'आज बाजार बन्द है' मुख्यतः वेश्या जीवन पर आधारित है। उपन्यासकार ने वेश्यावृत्ति की तह में जाकर वर्ण–जाति व्यवस्था से उसका सम्बन्ध ढूँढा है। यह भारतीय समाज की कड़वी सच्चाई है जहाँ वर्ण–जाति व्यवस्था के कारण दलित तबके की स्त्रियों का देवदासी जैसी प्रथा

के माध्यम से शारीरिक शोषण किया जाता है और उसके बाद उन्हें वेश्यावृत्ति के दलदल में धकेल दिया जाता है। जहाँ एक तरफ दलित तबके को जाति–पाँति एवं छूआँछूत के कारण मन्दिर में प्रवेश से रोका जाता है वहीं दूसरी तरफ उसी तबके की स्त्रियों को देवताओं की दासी बनाकर मन्दिर में पुजारियों द्वारा शोषण किया जाता है। देवदासी प्रथा पर पार्वती द्वारा किया गया सवाल पूरे दलित समाज की वेदना को दिखाता है– ''हमें पहले देवदासी बनाया, फिर वेश्या! एक ही जाति की कुआँरी लड़कियों को देवदासी क्यों बनाया जाता है? उसने कई बार मंदिर में जाकर यह सवाल पूछा था। एक व्यक्ति को सजा या उसके परिवार को या फिर उसकी जाति को या उसकी जाति की एक पीढ़ी को। यहाँ तो दलित जातियों की सभी पीढ़ियों को यह सजा भोगनी पड़ती रही है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी सजा भोगने की कितनी भयानक प्रक्रिया है यह। क्या धर्म का यही मानवीय दर्शन है?''[55] वर्ण–जाति व्यवस्था द्वारा निर्मित यह भयानक त्रासदी है जिसे दलित तबका सदियों से झेल रहा है। यह वक्तव्य हिन्दू धर्म की मानवीयता को कठघरे में खड़ा करता है। पार्वती का यह सवाल किसी ईश्वर से ही नहीं है वरन् धर्म के उन ठेकेदारों से भी है जो वर्ण–जाति व्यवस्था का फायदा उठाकर समाज के एक पूरे तबके को शोषण के अन्तहीन जाल में फँसाते है। इस प्रकार यह पूरा उपन्यास हिन्दू धर्म की अध्यात्मिक सत्ता (मन्दिर) द्वारा दलित स्त्रियों के शारीरिक शोषण की शिनाख्त करता है।

उपन्यास मुक्तिपथ वर्ण–जाति व्यवस्था तथा वर्ग सिद्धान्त दोनों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। उपन्यास में आये ग्रामीण परिवेश में जहाँ सवर्ण–दलित का विभाजन स्पष्ट दिखायी देता है वहीं शहर में जाति व्यवस्था के साथ गरीब–अमीर का विभेद भी दिखायी देता है। उपन्यास में आये प्रसंगों से हम समझ सकते हैं कि जातिवाद का जहर केवल गाँव के अनपढ़–गंवारों में ही नहीं फैला है वरन् उसका असर उच्च शैक्षिक संस्थानों तथा बौद्धिक वर्ग में भी है। ग्रामीण परिवेश में पूरे गाँव की बसावट ही वर्ण–जाति व्यवस्था के हिसाब से तय की गयी है।

उपन्यास में दलित बस्ती का वर्णन इस प्रकार आता है– ''दलितों की बस्ती का नजारा ही कुछ अजीब था। शायद मनुस्मृति के नियमानुसार बसाई गई थी वह बस्ती। उसे गाँव से काफी दूर हटकर कुर्ड़ी (गाँव में कूड़ा फेकने की जगह) के पास बसाया गया था, जहाँ सारे गाँव का कूड़ा फेका जाता था। ऊँचा सा टीला या छोटी सी पहाड़ी लगने लगा था वह कूड़े का ढ़ेर। वहीं पर अनेक सूअर गंदगी में मुँह मारते हुए डोलते रहते थे। बरसात के दिनों में जब पानी उस कूड़े पर पड़ता था तो उससे गंदगी बहकर घरों के बीच तंग गलियों में आ जाती थी।''[56] यह उस वर्ण–जाति व्यवस्था की ही देन है जिसने ग्रामीण दलितों के रहन–सहन को अमानवीय बना दिया है। आरक्षण के मसले पर बराबरी तथा योग्यता का गुणगान करने वाले लोग या उनका तबका शायद अपने जीवन का एक दिन भी ऐसी परिस्थितियों में बिताने के लिए तैयार न हो।

ग्रामीण जीवन में जाति व्यवस्था के कारण छुआँछूत का भी प्रचलन दिखायी देता है। दलितों को पीने के पानी जैसी मूलभूत आवश्यक वस्तु के लिए संघर्ष करना पड़ता है। उपन्यास में एक ऐसा ही प्रसंग आता है– ''पानी के नाम पर दलितों की बस्ती में कुछ नहीं था। वे अक्सर सवर्ण लोगों के कुएँ से पानी लेने के लिए जाते थे। पर उन्हें वहाँ पास नहीं फटकने दिया जाता था। वे अपने घड़ों या टोकणियों को वहाँ से थोड़ी दूर कतार में रख देती थी और जब सवर्ण औरते अपने बरतनों में पानी भर लेती, तब जैसा जिसके मन में आया, उन बरतनों में पानी डाल देती।''[57] यह वक्तव्य ग्रामीण दलित जीवन की उन नारकीय परिस्थितियों की तरफ ध्यान दिलाता है जिसमें दलित तबका अपना जीवन गुजर–बरस करता है। मनुस्मृति के विधानों के कारण दलित तबके को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए सवर्ण तबके पर निर्भर रहना पड़ता है। दूसरी तरफ शहर के उच्च शैक्षिक संस्थानों में भी जातीय विषमता का जहर फैला हुआ है। विश्वविद्यालय में एक सवर्ण अध्यापक एक दलित छात्रा का शारीरिक शोषण करने की कोशिश करता है। छात्रा द्वारा

विरोध करने पर अध्यापक भरी क्लास में जातिसूचक शब्दों प्रयोग करके उसे अपमानित करता है।

इस घटना का विरोध दलित छात्र नफे सिंह करता है। सवर्ण तबके के छात्र जातिसूचक गालियों से उसका अपमान करते हैं। सवर्ण छात्र गालियाँ देते हुए कहते हैं कि– ''साले ढेढ़ो, कमीनो तुम्हारी यह हिम्मत कि ऊँची जात वालों की बराबरी करने लगे, उन्हें नौकरी से निकलवाने के लिए आन्दोलन करने लगे, सड़कों पर उतर आए! भूल गए कि मनुस्मृति में साफ–साफ लिखा है ब्रह्मा की जूती के नोक से पैदा हुए हो तुम शूद्र लोग।..... साले चमार! हरामजादे चूहड़े!''[58] ऐसी गालियाँ एवं विचार भारत के उच्च शैक्षिक संस्थानों के छात्रों की हैं। ये वही संस्थान हैं जिनके कंधों पर आधुनिक भारत के सेकुलर समाज के निर्माण की जिम्मेदारी थी परन्तु वहाँ से शिक्षित होने के बाद भी सवर्ण तबके के छात्र अपने जातीय श्रेष्ठता के अहंकार को भूल नहीं पाते हैं। ऐसी घटनाओं से हम यह कयास लगा सकते हैं कि भारत में समानता एवं बंधुता के विचार अभी भी दूर की कौड़ी हैं।

उमराव सिंह जाटव के उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' में जिस गाँव दरियापुर का जिक्र आता है, जाति संरचना के हिसाब से उसकी बसावट निम्न शब्दों में बयाँ होती है– ''इसके तीन चौथाई भाग में गूजर बसते हैं और सीमा निर्धारण के लिए कहें तो गाँव का पूरा उत्तर, पूरा पूर्व तथा आधा पश्चिम में है। गाँव के दक्षिण तथा आधा पश्चिम पर जाटवों का कब्जा है। गूजरों के आधे पश्चिम और जाटवों के आधे पश्चिम के बीच 'चाखी' में 'फाने' (आटा पीसने वाली हाथचक्की में दोनों पाटों के बीच के अन्तराल को नियंत्रित रखने के लिए लकड़ी का टुकड़ा) जैसे ठुके हैं मुसलमान, जिनमें एक घर लुहार, एक घर सक्का और बाकी के तीन घर खाती बढ़इयों के है।''[59] उपन्यास में जाति व्यवस्था के कारण होने वाला टकराव मुख्यतः गूजरों एवं जाटवों के बीच में होता है। सामन्ती एवं जातीय हिंसा का सबसे वीभत्स प्रभाव दलित स्त्रियों के उपर पड़ता है। गूजर जातीय शोषण को बरकरार रखने के लिए जाटवों को शौच तक करने से रोकते हैं। गूजरों के जातीय शोषण की शिकार चार वर्ष के

बच्चे की दादी रामबती होती है। गूजरों के लड़के रामबती के साथ बलात्कार करते हैं और इसी कारण रामबती आत्महत्या कर लेती है। जाति–व्यवस्था का ही यह किया–धरा है जिसके कारण दलित तबका ग्रामीण सार्वजनिक संसाधनों पर किसी प्रकार के अधिकार से महरूम होता है। उपन्यास की अन्य कथा जिसमें चावली के पिता खचेडूदास का जिक्र आता है, उससे हम कह सकते हैं कि दलित चाहे जिस धर्म में चला जाय जाति का पुछल्ला उसके पीछे लगा ही रहता है। चावली के पिता पहले आर्य समाज में जाते हैं फिर धर्म परिवर्तन करके इसाई बनते हैं पर अन्ततः समाज उनको भंगी ही मानता है।

अजय नावरिया का उपन्यास 'उधर के लोग' में जातीय विमर्श मुख्यतः दलितों की ही विभिन्न जातियों के बीच होता हैं। उपन्यास में आये विभिन्न दलित पात्र आरक्षण की बदौलत मिलने वाली सुविधाओं को विभिन्न दलित जातियों में बाँटकर देखते हैं। उपन्यास में बहस सवर्ण और अवर्ण की न होकर जाटव, वाल्मीकि, खटिक आदि जातियों के बीच फैले भेदभाव पर होता है। उपन्यासकार ने कपड़ों के रंगों की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए इसके पीछे भी वर्ण–जाति व्यवस्था का हाथ देखा है। उपन्यास का एक पात्र कहता है कि– ''तुम शहर में पैदा हुए हो न इसलिए। गाँव में लाठी मार के कमर तोड़ देते हैं, हाई कास्ट लोग। ब्राह्मण भी तो गरीब होते हैं, पर वे सफेद कपड़े पहन सकते हैं। उनके पैर क्यों पूजते हैं लोग? और काहे के हाई कास्ट... जिसकी लाठी उसकी भैंस। कल तक की बैकवर्ड कास्ट भी वही व्यवहार करती है आज, दूसरों के साथ। जूते खाओ और ताकत में आ जाओ तो दूसरों को मारो। अब जाटव कम्यूनिटी भी वही कर रही है।''[60] इसी प्रकार उपन्यास में एक और प्रसंग आता है– ''हरियाणे में तो भंगी और खटिक हाशिए पर हैं। उनका पालिटिकल एकजिसटेंस (राजनीतिक अस्तित्व) भी नहीं है। कोई पोलिटिकल पार्टी उनके प्रति सेंसिटिव नहीं है। हर जगह जाट की तूती बोलती है या फिर जाटवों की।''[61] उपन्यास में ऐसे ढेरों प्रसंग आये है जहाँ उपन्यासकार ने दलित जातियों के आपसी अर्न्तभेदों पर बहस की है।

उपन्यास की जाति व्यवस्था की विवेचना पर रजतरानी मीनू लिखती हैं कि– ''चमारों ने उपन्यासकार का क्या बिगाड़ा है जो इतना आक्रोश! वे इतने विवेकहीन तो नहीं लगते कि दलितों के विरोधियों के बहकावे में आ जाएँगे। पर इससे भी तो साफ इनकार नहीं किया जा सकता कि विरोधी उनकी पीठ थपथपा रहे हैं।''[62] हालाँकि रजतरानी मीनू जी ने इस विमर्श को नकारात्मक माना है परन्तु आज भी दलित समाज अपनी–अपनी जातियों के खेमे में बँटा हुआ है। इस तरह के बहसों–मुबाहिसों से भविष्य का दलित समाज और संगठित होकर उभरेगा। दलित जातियों के परस्पर मतभेद आपसी विचारों एवं बहसों से ही समाप्त होंगे।

कैलाश चन्द चौहान जी के उपन्यास में भी वर्ण–जाति व्यवस्था के आधार पर दो ही जातियों का जिक्र आता है पहला जाट तथा दूसरा वाल्मीकि। उपन्यास में सवर्ण समाज को दलित काले के सम्बन्धों से पैदा हुआ बेटा स्वीकार है परन्तु उसका लाया हुआ कपड़ा स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित उपन्यासों ने वर्ण–जाति व्यवस्था के शोषणकारी स्वरूप को सूक्ष्मता से पकड़ा है। हालाँकि बदलते समय के साथ जाति–व्यवस्था के शोषण का स्वरूप और बारीक हुआ है। पूँजीवाद, बाजार आदि ने जाति–व्यवस्था पर किस प्रकार से प्रभाव डाला है, इसकी भी रचनात्मक शिनाख्त की जानी चाहिए। आधुनिकता के साथ परम्परावादी व्यवस्था ने समझौता कर लिया है। परम्परावादी समाज में वर्ण–जाति व्यवस्था के शीर्ष पर स्थित तबका आधुनिक व्यवस्था में भी इसकी संरचनाओं का लाभ लेकर शीर्ष पर काबिज है। वैश्वीकरण एवं बाजार ने ग्रामीण समाज को प्रभावित किया है। पारम्परिक रूप से खेतिहर तबके की आमदनी कम हुई है जिससे वर्ण–जाति व्यवस्था भी प्रभावित हुई है। ग्रामीण उच्च वर्ण–जाति तबके की आमदनी कम होने के कारण उसकी ठसक कम हुई है। राजनीति में दलित समाज की भागीदारी ने ग्रामीण दलित जीवन में आत्मविश्वास पैदा किया है। सत्ता में दलितों की भागीदारी ने भी पारम्परिक व्यवस्था की चूल को हिलाया है। ग्रामीण जीवन में घटते रोजगार की समस्या ने दलित समाज के लोगों को प्रवास के लिए

मजबूर किया है। दलित उपन्यासकारों के सामने इन नई परिस्थितियों से उपजी समस्याओं को भी प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता है। अन्त में हम उम्मीद कर सकते हैं कि भविष्य के दलित उपन्यासों में इन समस्याओं एवं परिस्थितियों को भी कथावस्तु में जगह मिलेगी।

संदर्भ

1 सेठ कैलाश चन्द्र, नैमिशराय मोहनदास, बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड 9, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, दिल्ली, द्वि.सं. 2011, पृष्ठ 177

2 दुबे अभय कुमार (सं.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति सं. 2007, पृष्ठ 63

3 तेलतुम्बडे आनन्द, जनवादी समाज और जाति का उन्मूलन, सं. रूबीना सैफी आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्र.सं. 2016, पृष्ठ 11

4 प्रा. स्त्रोत, दास भगवान (सं.), दस स्पोक आंबेडकर खण्ड–1, भीम पत्रिका पब्लिकेशन्स जालंधर, 1963, पृष्ठ 88–89
द्वि.स्त्रोत– दुबे अभय कुमार, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति सं 2007, पृष्ठ 64,

5 मीनू रजतरानी, हिन्दी दलित कथा साहित्यः अवधारणाएँ एवं विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लिमि. नई दिल्ली, प्र.सं. 2014, पृष्ठ 163

6 सेन देवी दयाल, मानव की परख, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सं. 1954, पृष्ठ 126

7 महर्षि जयप्रकाश नवेन्दु दोहन, प्रखर प्रकाशन, दिल्ली, द्वि. सं. 2015, पृष्ठ 34

8 कर्दम जयप्रकाश, करुणा, कंचन प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृष्ठ 49

9 कर्दम जयप्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृष्ठ 11

10 कपाड़िया प्रेम, मिट्टी की सौगंध, इंडियन सोशल इंस्स्टीट्यूट, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 8

11 नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 42

12 वही, पृष्ठ 76

13 सत्यप्रकाश, जस तस भई सवेर, सागर प्रकाशन, दिल्ली, द्वि.सं. 2012, पृष्ठ 21

14 वही, पृष्ठ 123

15 सिंह तेज (सं.), अपेक्षा, जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 74

16 नैमिशराय मोहनदास, आज बाज़ार बंद है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004, पृष्ठ 74

17 वही, पृष्ठ 126

18 वही, पृष्ठ 7

19 कावेरी, मिस रमिया, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यटर्स गाजियाबाद (उ.प्र.) प्र.सं. 2007, पृष्ठ 36

20 वही, पृष्ठ 42

21 मौर्य अभय, मुक्तिपथ, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. 2007, पृष्ठ 19

22 वही, पृष्ठ 20

23 वही, पृष्ठ 179

24 वही, पृष्ठ 179

25 जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रं.स. 2008, पृष्ठ 102

26 वही, पृष्ठ 258,

27 वही, पृष्ठ 311

28 नावरिया अजय, उधर के लोग, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ 22

29 वही, पृष्ठ 156

30 चौहान कैलाश चन्द, सुबह के लिए, आरोही प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2012, पृष्ठ 60

31 तेलतुम्बड़े आनन्द, साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन, अनु. अनिल सिन्हा, ग्रन्थशिल्पी प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम हिन्दी सं. 2010, पृष्ठ 158

32 शास्त्री रजनीकांत, हिन्दू जाति का उत्थान एवं पतन, किताब महल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, सं. 2014, पृष्ठ 258

33 सिंह श्री उमराव (सं.), बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय–खण्ड 13, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली सातवां सं. 2013, पृष्ठ 138

[34] सेठ कैलाश चन्द्र (सं.), बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय–खण्ड–10, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सातवां सं. 2013, पृष्ठ 62

[35] वही, पृष्ठ 189,

[36] भारद्वाज डॉ. शशि (सं.), बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड–6, डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सातवां सं. 2013, पृष्ठ 43

[37] सेठ कैलाश चन्द्र (सं.), बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय–खण्ड–10, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सातवां सं. 2013, पृष्ठ 61

[38] सेठ कैलाश चन्द्र, नैमिशराय मोहनदास (सं.), बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड–9, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सातवां सं. 2013, पृष्ठ 159

[39] भारद्वाज डॉ. शशि (सं.), बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड–6, डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सातवां सं. 2013, पृष्ठ 81

[40] चौधरी उमा शंकर (सं.), हाशिये की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स, नई दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ 58

[41] सेन देवीदयाल, मानव की परख, आत्माराम एंड सन्स पब्लिकेशन, दिल्ली, सं. 1954, पृष्ठ 2

[42] वही, पृष्ठ 33,

[43] वही, पृष्ठ 182,

[44] कर्दम जयप्रकाश, करुणा, कंचन प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2012, पृष्ठ 18

[45] कर्दम जयप्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. 2012, पृष्ठ 05

[46] वही, पृष्ठ 31,

[47] वही, पृष्ठ 64

[48] सिंह डॉ. तेज, आज का दलित साहित्य, आतिश प्रकाशन, दिल्ली सं. 2000, पृष्ठ 70

[49] प्रकाश सत्य, जस तस भई सवेर, सागर प्रकाशन, दिल्ली दि.सं. 2012, पृष्ठ 51

[50] वही, पृष्ठ 27

[51] वही, पृष्ठ 55

[52] नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 65

[53] वही, पृष्ठ 56

[54] वही, पृष्ठ 104

[55] नैमिशराय मोहनदास, आज बाजार बंद है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004, पृष्ठ 92

[56] मौर्य अभय, मुक्तिपथ, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. 2007, पृष्ठ 26

[57] वही, पृष्छ 27

[58] वही, पृष्ठ 92

[59] जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृष्ठ 23

[60] नावरिया अजय, उधर के लोग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2013, पृष्ठ, 148

[61] वही, पृष्ठ 115,

[62] मीनू डॉ. रजत रानी, हिन्दी दलित कथा साहित्यः अवधारणाएं एवं विधाएं अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, प्र.सं. 2014, पृष्ठ, 87

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : स्त्रियों की बदलती भूमिका

भारतीय समाज में दलित एवं स्त्री की सामाजिक स्थिति कमोबेश एक जैसी रही है तथा इन दोनों का सामाजिक संरचना द्वारा लगातार धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक उत्पीड़न होता रहा है। धर्म द्वारा शोषण के रूपों को संहिताबद्ध करके दलितों एवं स्त्रियों के शोषण को संस्थाबद्ध किया गया। जहाँ धर्म–जाति व्यवस्था ने दलितों के शोषण को सामाजिक मान्यता दी वहीं धार्मिक एवं पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्रियों के शोषण को सामाजिक मान्यता प्रदान की। जाहिर तौर पर इस प्रकार की शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध इन दोनों उत्पीड़ित समुदायों को मुक्ति की लड़ाई मिलकर लड़नी चाहिए थी। परन्तु सवाल यह उठता है कि स्त्री समुदाय की जब हम बात करते हैं तो क्या उनकी समस्याएँ एक जैसी होती है? भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर क्षेत्र जाति, धर्म, आदि का भी प्रभाव पड़ता है। सीमोन–द–बोउवार ने कहा है कि ''स्त्री कहींझुण्ड बनाकर नहीं रहती। वह पूरी मानवता का हिस्सा होते हुए भी पूरी एक जाति नहीं। गुलाम अपनी गुलामी से परिचित है और एक काला आदमी अपने रंग से, पर स्त्री घरों, अलग–अलग वर्णों एवं भिन्न–भिन्न जातियों में बिखरी हुई है। उसमें क्रान्ति की चेतना नहीं, क्योंकि अपनी स्थिति के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है।''[1] भारतीय सन्दर्भों में यह उद्धरण मानीखेज है। भारतीय समाज में स्त्री के शोषण के मुख्य स्रोत, पितृसत्ता के स्वरूप पर न केवल जाति व्यवस्था का प्रभाव पड़ता है वरन् विभिन्न संस्कृतियों में भी पितृसत्ता का स्वरूप भिन्न–भिन्न होता है। प्रियदर्शिनी विजयश्री लिखती हैं कि ''एक पदानुक्रम संस्था के रूप में जाति–व्यवस्था दोनों ही जेंडरों को निश्चित जगहों में स्थित करती है। यहीं वजह है कि पितृसत्ता से मिलने वाला फायदा सभी पुरुषों को एक जैसा नहीं मिलता अर्थात् किसी पुरुष का पितृसत्तात्मक कद उसके जाति से निर्धारित होता है।''[2]इस वक्तव्य

की व्याख्या करे तो स्पष्ट होता हैं कि भारतीय परिस्थितियों में जाति के श्रेष्ठता क्रम से ही पितृसत्ता का स्वरूप कठोर या मुलायम निर्धारित होता है। इसके पूर्व के अध्यायों में हम देख चुके हैं कि किसी व्यक्ति या परिवार की सामाजिक–आर्थिक स्थिति पर वर्ण–जाति व्यवस्था महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। ज्यादातर मामलों में यदि व्यक्ति उच्च–वर्ण जाति व्यवस्था से सम्बन्ध रखता है तो उसके पास सुदृढ़ सामाजिक–आर्थिक संसाधन होते हैं। उत्पादन की श्रम–व्यवस्था से वह प्रत्यक्ष नहीं जुड़ा होता है। इसीलिए उसके घर की स्त्रियाँ भी घर की चारदिवारी से बाहर की श्रम–व्यवस्था से नहीं जुड़ी होती है। उत्पादन में प्रत्यक्ष हिस्सेदारी न होने के कारण उनकी निजी परिसम्पत्तियाँ लगभग शून्य के बराबर होती है तथा संसाधनों के लिए वह अपने पति, पिता या घर के मुखिया पर निर्भर होती है। दूसरी तरफ उत्पादन में इन स्त्रियों की प्रत्यक्ष भूमिका न होने के कारण घर के बाहर समाज में इनकी गतिशीलता कम या नहीं के बराबर होती है। निजी परिसंपत्तियों की अनुपस्थिति तथा गतिशीलता न होने के कारण सामाजिक अनुभवों की कमी, इन्हें कठोर पितृसत्ता के स्वरूप का सामना करवाती है। वहीं निम्न जातियों में आर्थिक संसाधनों की कमी के कारण पूरा परिवार श्रम करता है। निम्न जाति की स्त्रियों की उत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका तथा आर्थिक संसाधनों की प्राप्ति के लिए घर से बाहर के श्रमिक कार्यों में भागीदारी उन्हें समाज में गतिशील बनाती है। घर के बाहर छोटी–मोटी मजदूरी व व्यापार करके निम्न जाति की स्त्रियाँ खुद की छोटी–मोटी परिसम्पत्ति भी जमा करती है तथा घर से बाहर किये गये इन्हीं क्रियाकलापों के कारण उनके सामाजिक अनुभव भी ज्यादा होते हैं। हालाँकि निम्न जातियों की स्त्रियों के पास निजी सम्पत्ति बहुत थोड़ी ही होती है परन्तु उत्पादन व्यवस्था में प्रत्यक्ष भागीदारी के कारण निम्न जाति की स्त्रियों को पितृसत्ता का अपेक्षाकृत कम कठोर रूप का सामना करना पड़ता है। इन विचारों को स्पष्ट रूप से हम इस प्रकार समझ सकते हैं– ''पितृसत्ता घर के भीतर (व्यक्तिगत पितृसत्ता) और घर के बाहर (सार्वजनिक पितृसत्ता) दोनों ही जगहों पर विद्यमान हैं, लेकिन इनसे कौन सी स्त्री कितनी प्रभावित होगी यह उसकी जाति पर निर्भर करता है। मसलन अछूत स्त्रियों पर

व्यक्तिगत पितृसत्ता का शिकंजा उतना कठोर नहीं होता जितना की ऊँची जाति की स्त्रियों पर। दरअसल अछूत घरों में आर्थिक विपन्नता की वजह से स्त्री–श्रम–शक्ति किसी सम्पदा से कम नहीं है।''[3] हालाँकि इस उद्धरण से कुछ लोगों को यह खुशफहमी हो सकती है कि दलित स्त्रियों की स्थिति उच्च वर्ण–जाति की स्त्रियों की तुलना में बेहतर होती है परन्तु दलित स्त्रियों का ज्यादा भयानक शोषण बाह्य पितृसत्ता के द्वारा होता है। घर के बाहर कार्य स्थलों पर श्रम के दौरान न केवल उनका आर्थिक शोषण होता है बल्कि उनके शारीरिक–मानसिक शोषण की सम्भावना भी बढ़ जाती है। वहीं दूसरी तरफ उच्च जाति की स्त्रियों पर बाह्य पितृसत्ता का दबाव कम होता है। घर से बाहर के वातावरण में उनका सामाजिक–सांस्कृतिक सम्मान होता है परन्तु इस सम्मान को पाने की कीमत उन्हें घर की चारदिवारी में कैद होकर चुकानी पड़ती है।

चूँकि किसी भी तबके की सामाजिक स्थिति सत्ता द्वारा निर्धारित होती है। हिन्दू समाज में सत्ता का धर्म से नजदीकी सम्बन्ध रहा है। गुजरे ज़माने में धर्म के द्वारा ही सत्ता की कार्यवाहियों एवं कानूनों को वैधानिकता प्राप्त होती थी। कमोबेश आधुनिक युग में भी सामाजिक विधि–विधानों का एक बड़ा हिस्सा धर्म से प्रभावित होता है तो स्त्रियों की स्थिति भी इसका अपवाद नहीं हो सकती है। समाज में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध भी धर्म एवं संस्कृति द्वारा निर्धारित होते रहे हैं। स्त्री–पुरुष सम्बन्धों पर विमल थोराट लिखती हैं कि ''स्त्री–पुरुष संबंध को सत्ताधारी और सत्ताहीन के सम्बन्धों में परिवर्तित करने में पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक सन्दर्भों की महत्वपूर्ण भूमिका रही, जिसने सदियों से संस्कृति और सभ्यता को नियोजित किया है। दरअसल हिन्दू संस्कृति अनेक संस्कृतियों का ऐसा समुच्चय है जिनमें आपसी भेदभाव के अलावा विचारधारात्मक विरोध भी रहे हैं। अलग–अलग विचार रखने वाले असंख्य पंथ, संप्रदाय, जिसमें ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, द्वैत–अद्वैत, वैदिक–अवैदिक शामिल है और जिनके उपास्यों, आचार–पद्धतियों, चिंतन पद्धतियों में भिन्नता होने पर भी स्त्री–संबंधित विचारों में अद्‌भुत समानता दिखती है। स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य का समर्थन, स्त्री–स्वतंत्रता का कट्‌टरता की हद तक विरोध स्त्री को

मात्र भोग वस्तु में तब्दील करने वाली सोच के पीछे पुरुष सत्ता का अपना निजी स्वार्थ था।''[4] विमल थोराट ने हिन्दू स्त्री की समस्या की सही नब्ज पकड़ी है। हिन्दू धर्म में वर्ण–जाति व्यवस्था की स्थापना का पितृसत्ता सेगहरा संबंध है। मनु ने जिस प्रकार से समाज के निम्न जाति के तबके पर सामाजिक निर्योग्यताओं को थोपने का वैधानीकरण किया उसी प्रकार से उसने जाति व्यवस्था को स्थायी करने के लिए महिलाओं के उपर भी सामाजिक निर्योग्यताओं को स्थापित किया।

धर्म और सत्ता के गठजोड़ ने वर्ण–जाति व्यवस्था को जन्मना आधारित किया। जाति व्यवस्था ने कुछ जातियों को पवित्रता और श्रेष्ठता का तमगा थमा दिया तथा इस व्यवस्था को स्थायी एवं स्थिर करने के लिए महिलाओं को धार्मिक–सामाजिक रीति–रिवाजों से बाँध दिया। महिलाओं की खुद की पहचान छीनकर उनके स्वत्व को पितृसत्ता के अधीन कर दिया। मनुस्मृति में महिलाओं के विरुद्ध कई नियम बनाये गये जिसकी बानगी हम निम्न उद्धरणों में देख सकते है–

''9.2 स्त्रियाँ उनके परिवारों के पुरुषों द्वारा दिन–रात अधीन रखी जानी चाहिए और यदि वे अपने को विषयों में आसक्त करें तो उन्हें अपने नियंत्रण में अवश्य रखे।

5.148– स्त्री को बचपन में अपने पिता, युवावस्था में अपने पति और जब उसका पति दिवंगत हो जाए तब पुत्रों के अधीन रहना चाहिए, स्त्री को कभी स्वतंत्र नहीं रहना चाहिए।

8.416– पत्नी, पुत्र और दास इन तीनों के पास कोई संपत्ति न हो, वे जो संपत्ति अर्जित करे, वह उसकी होती है, जिसकी वह पत्नी या पुत्र या दास है।

9.18– स्त्रियों को पढ़ने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिए उनके संस्कार वेद मंत्रों के बिना किए जाते है।.... चूँकि स्त्रियाँ वेद मंत्रों का पाठ नहीं कर सकती, वे उसी प्रकार अपवित्र है, जिस प्रकार असत्य अपवित्र होता है।''[5]

मनुस्मृति के ये उद्धरण उन कायदे–कानूनों की एक बानगी हैं जो स्त्रियों को गुलाम बनाये रखने की साजिश रचते है। बाद के हिन्दू पौराणिक ग्रन्थों में विभिन्न कथा–कहानियों के माध्यम से एक ऐसी स्त्री की छवि गढ़ी गयी जो पितृसत्ता के विरुद्ध विद्रोह न करे। ऐसी स्त्री–छवि को हिन्दू धर्म व्यवस्था ने आदर्श के रूप में स्थापित किया तथा स्त्रियों को सदियों से गुलाम बनाये रखने का षड़यंत्र किया। इसी स्थापित स्त्री–छवि जैसी बनने की चाहत ने स्त्री–समुदाय में पितृसत्ता के विरुद्ध किसी भी आवाज को उठने ही नहीं दिया। मनुस्मृति ने जहाँ एक तरफ स्त्री समुदाय से उसकी स्वतंत्रता, शिक्षा तथा संपत्ति का अधिकार छीना वहीं वर्ण–जाति व्यवस्था की स्थापना करके उनके स्वतंत्र जीवन–साथी चुनने के अधिकार को भी सीमित कर दिया। विधवा प्रथा तथा सती प्रथा जैसे आदर्शों को स्थापित करके हिन्दू धर्म ने हिन्दू स्त्री के जीवन को नारकीय बना दिया। वर्ण–जाति व्यवस्था ने स्त्री समुदाय को कई दायरों में बाँट दिया।

भारत में स्त्री–मुक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ मुख्यतः अँग्रेजी साम्राज्य स्थापित होने के बाद हुआ। पुनर्जागरण काल में आर्य समाज, ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज जैसी संस्थाओं ने विधवा विवाह, बाल विवाह पर रोक तथा स्त्री शिक्षा के लिए आन्दोलन चलाया परन्तु इस आन्दोलन का प्रभाव समाज के ऊपरी तबके की स्त्रियों तक ही सीमित था। दलित–पिछड़े वर्ग से सम्बन्धित स्त्री–मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत फुले दम्पत्ति करते है। ज्योतिबा फुले ने सर्वप्रथम अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को शिक्षित किया। उसके बाद सावित्री बाई फुले की सहायता से 1848 में पहली कन्या पाठशाला की स्थापना की। स्कूल खोलने की घटना पर मुरली जगपात लिखते हैं कि ''जोतीराव द्वारा सन् 1848 में खोली गई पहली कन्याशाला की पहले दिन की पहली घण्टी एक ओर नारी मुक्ति आन्दोलन की नांदी, तो दूसरी ओर मनुस्मृति में उल्लिखित 'नारी रत्न' की परिकल्पना की मृत्यु की घण्टी सिद्ध हुई।''[6] इसके अतिरिक्त महात्मा फुले ने नाई समाज को ब्राह्मण विधवा स्त्री का बाल न उतारने के लिए संगठित किया तथा इसके लिए फुले दम्पति ने 'महिला मंडल' नामक संगठन भी बनाया।

तत्कालीन समाज व्यवस्था में विधवा स्त्रियों की स्थिति दयनीय थी। सामाजिक रूप से उपेक्षित होने के कारण विधवा स्त्री का कोई भी निकट का सगा–सम्बन्धी उस पर दबाव डालकर या बहला–फुसलाकर उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता था। बाद के दिनों में यदि विधवा स्त्री गर्भवती हो जाती थी तो कभी वह अपने गर्भ के बच्चे को मार देती थी या वह स्वयं आत्महत्या कर लेती थी। ''अपने अवैध बच्चों के कारण वह खुद आत्महत्या न करें तथा अपने अजन्में बच्चे को भी न मारे, इस उद्देश्य से सावित्री बाई फुले ने भारत का पहला 'बाल हत्या प्रतिबंधक गृह' खोला तथा निराश्रित असहाय महिलाओं के लिए अनाथाश्रम खोला। स्वयं सावित्री बाई फुले ने आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता का जीवन अपनाते हुए एक विधवा स्त्री के बच्चे को गोद लिया तथा पढ़ा लिखाकर योग्य डॉक्टर भी बनाया।''[7] इससे पता चलता है कि जिन विचारों को लेकर सावित्री बाई फुले ने ज्योतिबा फुले के साथ मिलकर आन्दोलन चलाया, उस पथ पर स्वयं चलकर उन विचारों को चरितार्थ भी किया। इतना ही नहीं समय से दो कदम आगे बढ़कर सावित्री बाई फुले ने प्रेम विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन भी किया। इसकी बानगी हमें सावित्री बाई फुले के छपे हुए पत्रों से मिलती है जिसमें उन्होंने ब्राह्मण युवक तथा दलित युवती की जान बचाने का जिक्र किया है... (देखें–दलित स्त्रीवाद, पृष्ठ संख्या 61)।

दलित स्त्री आन्दोलन का दूसरा चरण हम बाबा साहब अम्बेड़कर के जीवन से मान सकते है। बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों तथा उनके आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक अर्थों में वह भारत के दूसरे 'नारीवादी पुरुष' है। पहले नारीवादी पुरुष के रूप में हम ज्योतिबा फुले के विचारों से परिचित हो चुके है। बाबा साहब अम्बेडकर अपनी बुआ तथा बड़ी बहनों के सानिध्य में बचपन से ही स्त्री समस्याओं के प्रति संवेदनशील हो गये थे। विदेशों में शिक्षा प्राप्ति के साथ ही उन्होंने भारतीय समाज तथा विदेशी समाज में स्त्रियों की स्थिति की तुलना से यह अनुभव प्राप्त किया कि किसी भी समाज का विकास तब तक सम्भव नहीं

है जब तक उस समाज की स्त्रियों का विकास नहीं होता है। बाबा साहब अम्बेडकर ने इसीलिए दलित समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिए शिक्षित होने की आवश्यकता पर जोर दिया। इसी क्रम में मूकनायक में वे लिखते हैं कि ''इस स्थान पर इतना ही सुझाव देना चाहते हैं कि बहिष्कृत समाज को आत्मोन्नति करके दूसरे प्रगतिशील लोगों के बराबर आना चाहिए। ऐसा लगता है कि उन्हें अपनी उन्नति की गाड़ी का दूसरा पहिया जो स्त्री समाज है उसको अपनी बराबरी की व्यवस्था में रखकर उसको भी शिक्षा का लाभ देना चाहिए। तभी हमारी यह सामाजिक उन्नति की गाड़ी सुसंचालित हो अपने गंतव्य पर पहुँचेगी।''[8]

उपरोक्त कथन से यह बात सिद्ध होती है कि बाबा साहब अम्बेडकर ने किसी भी समाज की उन्नति में स्त्री को बराबर की भूमिका में देखा था। वह इस बात को समझते थे कि यदि किसी भी परिवार की स्त्री शिक्षित हैं तो पूरा परिवार उन्नति करेगा। तत्कालीन समय में भारतीय समाज में एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ विवाह कर लेता था और कभी–कभी तो वह स्त्री को बिना किसी दोष के परित्यक्त कर देता था। विवाहित स्त्रियों की ऐसी दुर्दशा को देखकर ही उन्होंने मूकनायक में लिखा कि ''लगन (शादी) कार्यों में निरर्थक पैसा बरबाद होता है। यह पैसा पढ़ाई–लिखाई पर खर्च होना चाहिए। मैरिज रजिस्टर्ड होनी चाहिए। हमारे यहाँ स्त्रियों को पति जिन्दा होते हुए भी वैधव्य की दशा में रखा जाता है। परन्तु इसका सनातनियों को दुख नहीं होता। रजिस्टर्ड मैरिज करने वाला कायदे से दूसरी शादी नहीं कर सकता।''[9] इतना ही नहीं विवाह के बाद पत्नी की परम्परागत भूमिका को भी बाबा साहब अम्बेडकर ने नकार दिया था। चूँकि अभी तक के हिन्दू समाज में पत्नी की भूमिका हिन्दू धर्म शास्त्रों के तई निर्धारित होती थी जिसमें पत्नी को पति के अनुचर, अनुगामिनी या 'चरणों की दासी' के रूप में देखा गया था। पति का चरित्र कैसा भी हो पत्नी को उसकी सेवा करने का पाठ पढ़ाया जाता था। पत्नी के रूप में उस स्त्री की स्वायत्ता या खुद की सोच का कोई महत्व नहीं था। इसके बरक्स बाबा साहब के विचार आधुनिक नारीवादियों जैसे दिखायी देते है। बाबा साहब अम्बेडकर लिखते हैं कि ''शादी एक महत्वपूर्ण जवाबदारी

है। शादी करने वाली हर औरत को उसके पक्ष में खड़े रहना चाहिए लेकिन उसको दासी नहीं बराबरी के नाते या मित्र के तौर पर। यदि ऐसा करोगी तो अपने साथ समाज का भी अभ्युदय करोगी और अपना सम्मान बढ़ाओगी। इस हेतु सभी स्त्रियों को पुरुष के बराबर हिस्सेदारी कर खुद को शासक की जमात बनाने हेतु प्रयास करना चाहिए।''[10] यह बात गौरतलब है कि तत्कालीन समय में दलित स्त्री क्या पूरा स्त्री समुदाय ही शासित था। बाबा साहब ने उनको शासक जमात बनने का मार्ग सुझाया। इतना ही नहीं तत्कालीन समय में स्त्रियों का विभिन्न व्यवसायों में कार्य करने के लिए जाना, अपारम्परिक प्रथा समझा जाता था। गर्भावस्था के समय उनको विभिन्न उद्यमों से हटाने का प्रचलन था। किसी भी समाज के लिए यह विचारणीय मुद्दा हो सकता है कि स्त्री की जनन क्षमता के कारण ही मनुष्यों की दुनिया चलायमान है परन्तु गर्भधारण की स्थिति में उसकी महत्ता न समझकर उसे आर्थिक रूप से पंगु बनाने की जो साजिश है, बाबा साहब अम्बेडकर उसका विरोध करते हैं। उन्होंने मुम्बई विधान परिषद में महिला प्रसूति अवकाश विधेयक पर कहा था कि ''महिलाओं को प्रसूति अवकाश व पूरा वेतन प्राप्त करना राष्ट्रीय हित में एक महत्वपूर्ण कदम है। मैं इस बात से सहमत हूँ कि इससे शासन पर भारी आर्थिक बोझ पड़ेगा लेकिन फिर भी मैं वेतन कटौती का पक्षधर नहीं हूँ। यह महिलाओं का उनका अपना अधिकार है जिसकी प्राप्ति उन्हें होनी चाहिए।''[11]

इतना ही नहीं बाबा साहब अम्बेडकर ने हिन्दू समुदाय की सम्पूर्ण मुक्ति के लिए हिन्दू कोड बिल जैसे विधान की रचना की। अभी तक परम्परागत हिन्दू समाज में स्त्रियों को संपत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया था। विवाह एवं तलाक जैसे कानून पुरुषों के पक्ष में थे। एक पुरुष कई पत्नियाँ रख सकता था। बाबा साहब अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल के माध्यम से स्त्रियों के शोषण को समाप्त करना चाहा था। हिन्दू कोड बिल की विशेषता में सोहनलाल शास्त्री जी कहते हैं कि ''हिन्दू कोड ने मृत पिता की सम्पत्ति में पुत्रियों को पुत्रों के समान अधिकार देकर मृत पति की विधवा को सम्पत्ति में पुत्र–पुत्रियों की तरह अंशदान का समान उत्तराधिकारी बनाने का एक ऐसा श्रेष्ठ पुण्य का काम किया है, जिससे पुत्री और विधवा को हिन्दू समाज के

पर्सनल लॉ में बहुत ही न्यायपूर्ण और सभ्य संसार की दृष्टि में ऊँचा स्थान मिला है।''[12] इस तरह के वैचारिक चिन्तन के अलावा बाबा साहब अम्बेडकर ने अपने विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों में दलित स्त्री समुदाय को महत्वपूर्ण स्थान दिया। दलित समुदाय की तमाम स्त्रियों ने इन सामाजिक आन्दोलनों में न केवल सक्रिय भूमिका निभायी बल्कि उन्होंने अपने स्वतंत्र विचार भी रखे।

अनिता भारती लिखती है कि ''दलित महिला आन्दोलन और डॉ. अम्बेडकर के साथ महिला आन्दोलन की सुसंगत शुरुआत 1920 से मान सकते है हालाँकि सुगबुगाहट सन् 1913 से ही हो गई थी। 1920 में 'भारतीय बहिष्कृत परिषद' की सभा कोल्हापुर नरेश छत्रपति शाहू जी महाराज की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस सभा में पहली बार दलित महिलाओं ने भाग लेकर अपनी सक्रिय भूमिका निभाई।''[13] शाहू जी महाराज द्वारा प्रारम्भ किये गये इस आन्दोलन से ही दलित महिलाओं की सक्रिय भागीदारी दिखाई देती है जिसमें उन्होंने अपनी भाषा में शिक्षा के महत्व को व्याख्यायित किया। हालाँकि तब तक आजादी की राजनीतिक लड़ाई लड़ने वाले लोगों ने स्त्री–सुधार आन्दोलन के उन मुद्दों से हाथ खीच लिया था जो 19वीं सदी में प्रारम्भ हुए थे। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए शर्मिला रेगे लिखती है कि ''19वीं शती में स्त्री संबंधी सवाल सार्वजनिक पटल से गायब हो गये। और ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि राजनीतिक मुद्दे उन पर हावी हो गये, बल्कि इसलिए कि राष्ट्रवादी अन्दोलनों ने स्त्रियों के सवाल को उपनिवेशी सरकार के साथ बातचीत में राजनीतिक मुद्दा मानने से इन्कार कर दिया।''[14] शर्मिला रेगे के वक्तव्य से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ एक तरफ राजनीतिक आजादी की लड़ाई में स्त्री मुद्दों को पीछे धकेल दिया गया था वहीं दूसरी तरफ बाबा साहब अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित–पिछड़े समाज की स्त्रियाँ सक्रिय होकर अपने मुद्दों पर अधिकार की लड़ाई लड़ रही थी।

दलित महिला आन्दोल के इसी क्रम में जाईबाई चौधरी ने 1929 में 'चोखामेला कन्या पाठशाला' की स्थापना की जो तत्कालीन समय में दलित महिलाओं में आयी शैक्षिक चेतना को दिखाता है। सन् 1927 में बाबा साहब

अम्बेडकर द्वारा 'चावदार तालाब' तथा 'मनुस्मृति दहन' जैसे आन्दोलनों में दलित महिलाओं का एक बड़ा समूह सम्मिलित हुआ। अनिता भारती लिखती हैं कि ''25 सितम्बर 1927 को चावदार तनाव के महाड़ सत्याग्रह के ऐतिहासिक सम्मेलन में ढाई हजार दलित औरतों ने 'मनु स्मृति' दहन में शामिल होकर हिन्दू धर्म के स्त्री–विरोधी कानून को मानने से इन्कार कर दिया।''[15] इतना ही नहीं दलित महिलाओं ने एक स्वतंत्र संगठन 'महिला मंडल' की सन् 1928 में स्थापना की तथा इसकी प्रथम अध्यक्षा रमाबाई अम्बेडकर को बनाया गया। 1936 में बाबा साहब अम्बेडकर की धर्मांतरण की घोषणा पर दलित महिलाओं ने अपने स्वतंत्र विचार रखे। भगीरथी ताई का वक्तव्य देखने योग्य है– '' जो धर्म हमें बंधु वर्ग की तरह समाज में स्वतंत्रता से आने जाने देगा वही धर्म हमें स्वीकार होगा। धर्मान्तरण में हम डॉ. अम्बेडकर के साथ जरूर है पर नए धर्म में पर्दा या गोशा रखने की प्रथा हमें मंजूर नहीं है। जो धर्म हमें हमारे भाइयों के साथ स्वतंत्रता से रहने देगा, वहीं धर्म हमें मंजूर होगा। जिस धर्म में सत्य, प्रेम, समता और स्वातंत्र्य है जिसमें शौर्य है पर क्रूरता नहीं हो, जिसमें शिष्टता व योग्यता होगी, जो धर्म रूढ़िपरम्पराओं में बंधा न हो, ऐसे धर्म में बाबा साहब हमें ले जाए।''[16] भाषण के इस तेवर को देखकर हम कह सकते है कि दलित स्त्रियों ने न केवल खुद की समझ को विकसित किया था वरन् उन्होंने दलित आन्दोलन में सम्मिलित होने की शर्त भी रखी थी। वक्तव्य के अन्त में निवेदन जरूर दिखायी देता है परन्तु वह रिरियाने वाली भाषा नहीं है। दलित स्त्री आन्दोलन का यह कारवां सन् 1956 तक दिखायी देता है। इसी बीच उन्होंने सन् 1942 में अखिल भारतीय दलित महिला सम्मेलन आयोजित किया जिसमें 25 हजार दलित महिलाओं की भागीदारी रही।

उत्तर अम्बेडकर काल के दलित आन्दोलनों में स्त्रियों की भूमिका सीमित होती गयी। दादा साहब गायकवाड़ के'नामान्तर आन्दोलन' में स्त्रियों की सक्रिय भूमिका जरूर दिखाई देती है परंतु दलित पैंथर आंदोलन मे उनकी भूमिका पर्दे के पीछे ही दिखायी देती है। स्त्रियों की इस सीमित भूमिका को देखते हुए अनिता भारती कहती हैं कि ''यह मेरी उत्सुकता और सवाल यह है

कि 1956 तक दलित महिलाओं का दलित चेतना से युक्त जन सैलाब जो अम्बेडकर व दलित आन्दोलन से जुड़ा, वह एकाएक कहा गुम हो गया? कहाँ गई वे सभी दलित महिला नेता? किस व्यवस्था ने उन्हें निगल लिया? क्या कारण था कि दलित पुरुष तो बाबा साहब के बाद भी दलित आन्दोलनों से जुड़े रहे परन्तु महिलाएँ सिरे से गायब हो गई? क्या इस ब्राह्मणवादी पितृसत्ता कुचक्र ने दलित महिलाओं को अपने जाल से फँसा उन्हें घरों में कैद कर दिया था या उनकी दलित चेतना एकाएक कुंद हो गई?''[17] दरअसल ऐसे ही सवाल दलित आन्दोलन को आत्मनिरीक्षण के लिए मजबूर करते हैं। ऐसा क्योंकर हुआ कि एक उत्पीड़ित समुदाय (दलित) की मुक्ति आन्दोलन में उसी का दोहरे शोषण से छटपटाता हिस्सा स्त्री की भूमिका दोयम दर्जे तक सीमित कर दी गयी। दलित आन्दोलन में दलित पुरुषों ने दलित स्त्री समस्याओं को अपने ही नजरिए से देखा। इसीलिए चेतनशील दलित स्त्रियों ने खुद से अपनी भूमिका की शिनाख्त की और उन्होंने घोषित किया कि 'दलिताएँ' ही लिखेंगी खुद का इतिहास।

दूसरी तरफ वर्तमान दलित स्त्री आन्दोलन ने पारम्परिक नारीवादी आन्दोलनों में वर्ण–जाति के मुद्दे पर किसी बहस को न देखकर स्त्री मुक्ति कीउसकी अवधारणा पर सवाल खड़े किये। नारीवादी आन्दोलनों में पितृसत्ता के विरुद्ध एक बड़ी मुहिम तो दिखायी देती है परन्तु इन नारीवादियों ने पितृसत्ता से वर्ण–जाति के गठजोड़ की शिनाख्त नहीं की। ऐसे नारीवादी आन्दोलनों की समीक्षा करते हुए शर्मिला रेगे लिखती हैं कि ''वामपंथी महिला संस्थायें जहाँ जाति को वर्ग की अवधारणा में मिला रही थी, स्वायत्त महिला गुट जाति को बहनापे की भावना पर बलिदान कर रहे थे, इस तरह दोनों ही ब्राह्मणवाद को नजरअंदाज किये रहे। आन्दोलन ने दलित आदिवासी और अल्पसंख्यक समुदायों की महिलाओं के मुद्दे उठाये तो, और इससे फायदा भी हुआ, लेकिन स्त्रीवादी राजनीति को सबसे अधिक वंचित समुदायों की स्त्रियों के जितने करीब जाना चाहिए था, वह उनसे नहीं हो सका।''[18] दरअसल इस समस्या को हम अनुभूति की प्रमाणिकता से देखे तो कई सारी बाते स्पष्ट हो

जाती है। जिस समस्याओं से एक दलित स्त्री का साबका होता है, इन समस्याओं के कारण उसे जिन पीड़ा का एहसास होता है, उनसे उपरी तबके की स्त्रियों का सामना नहींहोता है। इसी कारण नारीवादी आन्दोलनों में वैयक्तिक पितृसत्ता (घर की चारदिवारी, घर के पुरुषों की गुलामी) से मुक्ति की प्राथमिकता तो रहती है परन्तु सार्वजनिक पितृसत्ता (वर्ण–जाति) के विरुद्ध कोई मुकम्मल प्रतिरोध नहीं दिखायी देता है।

दलित साहित्य अन्दोलन में दलित स्त्रियों के एक समूह ने दलित पुरुषों के द्वारा गढ़ी गई छवि को नकार दिया। अभी तक के दलित साहित्य में दलित स्त्रियों को शोषित तथा शोषण के विरुद्ध खामोश पात्रों के रूप में ही दिखाने का चलन रहा है। या उसकी भूमिका को एक आन्दोलनकर्मी के सहायक के रूप तक सीमित कर दिया गया गया। दलित स्त्री लेखन अपने इस पारम्परिक चरित्र की समस्याओं की शिनाख्त करता है और उसका पुरजोर विरोध भी करता है। दलित पुरुष साहित्यकारों द्वारा दलित स्त्री की इसी पारम्परिक गढ़ी गई छवि के विरोध में सुशीला टाकभौरे लिखती है कि ''दलित साहित्यकारों के साहित्य में दलित स्त्री के व्यक्तित्व का वह पक्ष नहीं आ पाता है कि वह भी एक व्यक्तित्व है, अस्तित्व है, उसकी अपनी कुछ भावनाएँ है, वह भी प्रगति की दौड़ में आगे आना चाहती है और जीवन के हर क्षेत्र में, पुरुष की बराबरी करते हुए, अपनी पहचान बनाना चाहती है। पुरुष अपनी मानसिकता के आधार पर, अपने मानदण्डों से स्त्री व्यक्तित्व को आंकता है और उसी के आधार पर, नारी का चित्रण करता है।''[19] दलित साहित्य में अपनी इसी पारम्परिक छवि को देखकर दलित लेखिकाओं ने 'दलित स्त्रीवाद' की स्थापना पर बल दिया है इनमें अनिता भारती, सुशीला टाकभौरे, रजनी दिसोदिया, रजनी तिलक आदि महत्वपूर्ण नाम शामिल है।

दलित स्त्रीवाद अपने ऊपर थोपे गये मध्यवर्गीय मूल्यों को नकारता है। दलित समाज में भी आर्थिक संपन्नता के साथ ही स्त्री को घरों की चारदिवारी तक सीमित करने का चलन बढ़ रहा है। दलित पुरुष भी दलित स्त्री की यौनिकता को नियंत्रित करने की कोशिश कर रहे है। दलित परिवारों में भी

आर्थिक संपन्नता के साथ ही स्त्री को श्रमकार्यों से हटाकर उनकी गतिशीलता को रोकने का चलन बढ़ा है। इन्हीं समस्याओं को देखते हुए अनिता भारती लिखती है कि ''यहाँ तक कि अंबेडकरवादी चेतना से लैस कार्यकर्ता, नेता व साहित्यकार भी स्त्रियों को अपने घर में ही रखना पसंद करते हैं। वे सवर्ण परिवारों की तर्ज पर अपने परिवार की स्त्रियों को सभ्य, सुशील, कुलीन स्त्रियों में तब्दील करना चाहते हैं। इस तरह वे सामाजिक सुरक्षा के नाम पर दलित स्त्रियों पर अपना वर्चस्व जमाने के लिए उन पर ब्राह्मवादी मूल्य थोप रहे हैं।''[20] हालाँकि दलित समाज में घुस आयी स्त्री–विरोधी मानसिकता की पड़ताल की जाये तो हम कह सकते हैं कि यह समाज के उच्च तबके की नकल के कारण हुआ है। इसी समस्या की बाबत डॉ. रामचंद्र लिखते हैं कि ''दलित जीवन की पितृसत्तात्मकता दलित संस्कृति से नहीं आयी है, यह पूर्णतः हिन्दू संस्कृति की देन है। इसका आशय यह कदापि नहीं है कि इसके खिलाफ संघर्ष नहीं करना है बल्कि दलित समाज में पितृसत्तामक मूल्यों के खिलाफ लड़ते हुए भी दलित स्त्री को हिन्दू व्यवस्था के वर्चस्व के तमाम षड़यंत्रों से भी लड़ना पड़ता है।''[21] इस प्रकार दलित स्त्री आन्दोलन की चर्चा–परिचर्चा के बाद हम दलित उपन्यासों में आये उनके विभिन्न चरित्रों का विश्लेषण करेंगे तथा साथ ही सवर्ण समाज की स्त्रियों के चरित्रों का भी विश्लेषण करेंगे।

(क) दलित स्त्री

'मानव की परख' उपन्यास में मुख्य दलित स्त्री का किरदार 'रानी' का है। इसके अलावा उपन्यास के ग्रामीण हिस्से में चिरंजी की पत्नी शरबती तथा उसकी माँ भूरिया का भी संक्षिप्त विवरण मिलता है। रानी की खूबसूरती की चर्चा पूरे मुहल्ले के लोगों में फैली हुई है। उसी मुहल्ले का चरित्रहीन गिरधारी भी उसकी खूबसूरती का कायल है तथा रानी को अपने जाल में फंसाने के लिए निरन्तर षड़यंत्र करता है। रानीसे बलात्कार करने की असफल कोशिश करता है और जिसके एवज में गाँव वाले उसकी पिटाई करते है। उपन्यास के इसी प्रसंग में रानी का प्रतिरोध दिखायी देता है। सरपंच के चुनाव में जमीन्दार

का विरोध करने के कारण, जमींदार तथा गिरधारी मिलकर रानीके पति की हत्याकर देते हैं। यहीं से रानी की त्रासदी का प्रारम्भ होता है।

उपन्यासकार ने रानी के किरदार में उसकी मेहनती तथा मानवीय गुणों की प्रवृत्ति को जरूर उभारा है परन्तु उसके व्यक्तित्व में प्रतिरोधी चेतना की नितान्त कमी दिखायी देती है। उपन्यासकार का गाँधी दर्शन में विश्वास दलितों की प्रतिरोधी चेतना को परे ठेल देता है। मथुरा में सेठ के द्वारा बलात्कार करने के बावजूद पुनः अपने बेटे से मिलने के लिए उसी सेठ पर विश्वास करना रानीके किरदार को जिंदगी की न्यूनतम चालाकियों से रहित कर देता है। मन्दिर के तलघर में कैद होने के बाद, उसका शराब का आदी दिखाना तथा शराब के लिए सेठ के नौकर पर डोरे डालने जैसी घटनायें रानी के किरदार को निम्नतम् स्थिति में पहुँचा देती हैं तथा किसी हद तक उसका व्यक्तित्व नकारात्मक हो जाता है। इन सारी घटनाओं में जिसमें पति की हत्या, बलात्कार भी शामिल है, रानी के चरित्र में प्रतिरोध कही नहीं दिखायी देता है। यह गाँधीवादी दर्शन का प्रभाव है जिसमें उपन्यासकार हरिजनों की दयनीय दशा तो दिखाता है पर न्याय के लिए कोई सक्रिय प्रतिरोधी चेतना को विकसित न कराके वरन् विभिन्न हालातों में अपराधी व्यक्ति का या तो हृदय परिवर्तन हो जाता है या उसको ईश्वरीय दण्ड मिल जाता है। यहाँ यह वाजिब सवाल उठता है कि दलितों को क्या ईश्वरीर न्याय का इन्तजार करना चाहिए या उपरी तबके के हृदय–परिवर्तन पर भरोसा करके बैठे रहना चाहिए। उपन्यासकार द्वारा चिरंजी की पत्नी के तपेदिक होने के बाद मायके भेजने का पूरा विवरण दलित समाज की नकारात्मक छवि को ही पेश करता है। हालाँकि उपन्यास की विशेषता में तेज सिंह लिखते हैं कि ''लेखक ने उपन्यास में चरित्रों का विभिन्न परिस्थितियों में रखकर विकास किया है। हरेक चरित्र अपनी दुर्लबलताओं और अच्छाइयों के साथ अभिव्यक्ति पाता है, इसलिए लेखक सामाजिक अंतर्विरोधों पर गहरी पकड़ बनाने में सफल रहा है।''[22] अब सवाल यह उठता है कि रानी के किरदार को क्या हालातों से लगातार पिटते ही रहना चाहिए। रानी को शराब की लत लगना क्या उसकी

हालातों से उत्पन्न दुर्बलता है या उसके पीछे दलित स्त्री को फँसाने के लिए सवर्ण तबके का षड़यंत्र है। अपने विरुद्ध किये गये अपराधों के लिए किसी प्रतिकार की भावना का न होना ही क्या चरित्र की अच्छाई है ? रानी की दयनीय दशा के बाद भी प्रतिकार की भावना का न होना ही उपन्यास का अभीष्ट है जिसके केन्द्र में गाँधीवादी चेतना दिखायी देती है।

उपन्यास 'करुणा' में दलित नारी के रूप में रमेश की बहन रीता का चित्रण हुआ है। रीता को घर की गरीबी के कारण पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। उपन्यासकार लिखता है कि ''आठवीं क्लास पास करने के बाद उसकी पढ़ाई रूक गयी थी। उसके मन में आगे पढ़ने की तीव्र इच्छा थी किन्तु पारिवारिक परिस्थितियों की विषमता के कारण उसे अपना मन मारकर ही पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ती थी।''[23] उपन्यास के इस प्रकरण से यह साफ जाहिर होता है कि दलित समाज में भी आर्थिक परिस्थितियों के खराब होने पर सबसे पहले लड़कियों की ही शिक्षा पर असर पड़ता है। यह दलित परिवारों में पितृसत्ता के प्रभाव को दिखाता है। घर पर आयी हुई किसी भी विपत्ति के समय लड़कियों को ही क्यों उत्सर्ग करने के लिए विवश किया जाता है ? उपन्यास में आगे चलकर रीता के विवाह का प्रसंग आता है।उपन्यासकार बौद्ध धर्म के प्रभाव में दहेज प्रथा–प्रचलित न होने की बात करता है। शादी के बाद बच्चा न पैदा होने के कारण रीता की पिटाई भी होती है। उसका पति ताने देते हुए कहता है कि ''तू असैनी है, कुलच्छनी है। तेरी कोख से आदमी तो क्या कभी चिड़िया का बच्चा भी पैदा नही होगा। मेरे वंश को डुबो रही है तू। कोई नाम लेने वाला भी न होगा। ऐसी औरतका क्या लाभ? तू कामधेनु नहीं है। तू कुलटा है, इस कुल का नाश करके रहेगी तू।''[24] इस प्रकरण से दो सवाल उठते हैं, एक, क्या स्त्री सिर्फ बच्चा पैदा करने की मशीन है उसका अपना व्यक्तित्व या अस्तित्व नहीं है ? दूसरा, उपन्यासकार ने बौद्ध धम्म का दलितों में जो प्रभाव दिखाया है वह अभी व्यापक नहीं है। दलित समाज अभी संक्रमण की स्थिति से गुजर रहा है जहाँ उसके पास बौद्ध धर्म की चेतना आ रही है, वहीं अभी भी हिन्दू धर्म व्यवस्था के अवशेष बचे हुए हैं। रीता का अपने भाई के घर

आत्महत्या करना कई सवाल खड़े करता है। क्या दलित उपन्यासकार किसी संभ्रान्त समाज दृष्टि के शिकार हो गये है। दलित समाज में आज भी स्त्री के पुनर्विवाह को लेकर कोई नैतिक कुंठा नहीं है। यदि दलित स्त्री बच्चे न होने के कारण परित्यक्त हो जाती है तो अपने मायके में जीवन गुजार सकती है। दलित चिंतक जिस श्रम समाज की बात करते हैं क्या रीता उसका हिस्सा नहीं है ? क्या वह श्रम करके अपना जीवन नहीं गुजार सकती थी ? रीता की आत्महत्या ने औपन्यासिक कथा में दुख–पीड़ा की छाया भले ही घनीभूत की हो परन्तु यह प्रसंग दलित स्त्री को देखने का एक उपेक्षित नजरिया ही प्रस्तुत करता है।

उपन्यास 'छप्पर' में स्त्री दलित पात्र के रूप में चन्दन की माँ 'रमिया' तथा 'कमला' है। रमिया तथा सुक्खा दोनों मिलकर अपने बेटे चन्दन को शिक्षित करना चाहते हैं। उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत रमिया के चरित्र में भी कोई स्वतंत्र समझ नहीं दिखायी देती है। उपन्यासकार ने मुश्किल परिस्थितियों में उसके चरित्र को उभरने का अवसर नहीं दिया है। लगान की 'मुनादी' के बाद कर्ज लेने के प्रसंग में रमिया कहती है कि ''चन्दन के बापू, तुमसे अलग नहीं चली मैं कभी। जैसा तुमने चाहा वैसा ही किया मैंने जिंदगी भर। पर यह सोचो आगे क्या होगा? कैसे गुजारा चलेगा और कैसे चन्दन की पढ़ाई। ठाकुर–जमींदारों से लड़ाई लड़ने में कहाँ का हित है। तुम क्यों नहीं चले जाते ठाकुर साहब के पास।''[25] इसके बाद के विवरण में सुक्खा जमींदार को उसकी चालाकी तथा षड़यंत्र के लिए कोसता है। इस पूरी परिघटना से कई महत्वपूर्ण सवाल उठते हैं। एक तरफ तो दलित चिन्तन में यह स्वीकार किया जाता है कि दलित परिवारों में सारे फैसले लोकतांत्रिक होते हैं। चन्दन को पढ़ने के लिए शहर भेजने में रमिया की भी सहमति रही होगी तो क्या रमिया को आसन्न संकट की जानकारी नहीं है ? क्या रमिया को इसका पूर्वाभास नहीं था कि उनके फैसले का विरोध हो सकता है ? दूसरी बात रमिया और सुक्खा दोनों ही अनपढ़ है तो उपन्यासकार एक तरफ सुक्खा के चरित्र में यह दिखाता है कि वह ब्राह्मण और जमींदार के षड़यंत्र को समझ रहा है वहीं

दूसरी तरफ रमिया इतनी भोली और मासूम है कि वह उस षड़यंत्र को नहीं समझ पा रही है। यदि गाँव के यथार्थ की समझ पर बात की जाय तो स्त्रियों की समझ पुरुषों से ज्यादा तेज होती है। इस पूरे प्रकरण से यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि उपन्यासकार कीरचना दृष्टि में दलित स्त्री सशक्तिकरण का मुद्दा दोयम है।

उपन्यास में कमला का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है। उसके साथ ईंट–भट्ठे पर सामूहिक बलात्कार हुआ था जिसके कारण अविवाहित होते हुए भी एक बच्चे की माँ है। इतनी बड़ी त्रासदी घटित होने के बाद भी उसके पास जीवन से जूझने की जिजीविषा है। वह मजदूरी करके अपने बच्चे को पढ़ाना चाहती है। वह जातीय भेदे–भाव के विरुद्ध संघर्ष में चन्दन के साथ सहयोगी भूमिका में है। चन्दन को बचाते हुए अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। कमला के चरित्र पर तेज सिंह लिखते हैं कि ''कमला इस उपन्यास की ऐसी जीवन्त और जीवट चरित्र है जो आर्थिक स्वालम्बन के साथ आत्मसम्मान से जीना चाहती है और दलित समाज के उत्थान के लिए संघर्ष करती नजर आती है। वह अपने वर्गीय अन्तर्विरोधों के साथ उपन्यास में उपस्थित है। लेकिन लेखक ने उसे अस्वाभाविक मौत मारकर उसकी जीवन्तता और जीवटता को नष्ट कर दिया। वह ऐसी नारी चरित्र थी जिसमें विकास की सम्भावनाएँ सबसे अधिक थी, उसी का अन्त कर दिया गया।''[26] तेज सिंह जी ने उपन्यास में कमला की शहादत पर सही सवाल उठाया है। दरअसल उपन्यासकार ने कमला के चरित्र को इतना चेतनशील तथा विकसित कर दिया था कि उपन्यास के अन्त में वह समझ ही नही पाया कि उस चरित्र को अन्त में किस अंजाम पर समाप्त करे। नायक के बरक्स रजनी नायिका के रूप में पहले से मौजूद थी तो उसे नायिका के रूप में भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। दूसरा सवाल यह भी खड़ा हो सकता है कि कमला के साथ बलात्कार हुआ है इसलिए उसे सामान्य जिंदगी नही दी जा सकती है अर्थात् यौन–शुचिता का प्रश्न। हालाँकि यह भी हो सकता है कि उपन्यासकार की सर्जनात्मक कल्पना में यौन शुचिता जैसे विचार न भी रहे हों पर कमला के पूरे चरित्र चित्रण से सवालों की यह ध्वनि निकलती प्रतीत होती है।

'मिट्टी की सौगंध' उपन्यास में दलित स्त्री 'शीला' उपन्यास की नायिका है। उपन्यास के प्रारम्भ में गाँव का जमींदार मोहन सिंह उसके साथ बलात्कार करता है। इस घटना के बाद भी शीला का उसी जमींदार के फार्म हाउस में काम करना तथा फिर अन्य दलित पात्रों के साथ मिलकर ठाकुर के अपराधों के खिलाफ संघर्ष करने की कसमें खाना शीला के चरित्र–चित्रण को हास्यास्पद बना देता है। औपन्यासिक कथा का जैसे–जैसे विकास होता है शीला का चरित्र कमजोर होता जाता है। औपन्यासिक कथा के विकास के साथ ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार कथावस्तु को आगे बढ़ाने के लिए एक अदद स्त्री नायिका की आवश्यकता थी, इसीलिए शीला जैसे चरित्र को प्रस्तुत किया गया है। शीला में कहीं भी दलित चेतना के साथ विकसित होता चरित्र दिखायी नहीं देता है। उपन्यास में विजेन्द्र और शीला की शादी करवाना अर्थात् अन्तर्जातीय विवाह जरूर जाति तोड़ने के फलसफे पर आधारित है।

उपन्यास 'जस तस भई सवेर' में दलित समाज की कई स्त्रियाँ महत्वपूर्ण चरित्रों के रूप में मौजूद हैं। उपन्यास के प्रारम्भिक हिस्से में ही गाँव का जमींदार दलित स्त्री 'धुसिया' के साथ बलात्कार करता है। धुसिया के साथ दो दलित स्त्रियाँ सन्नों व रामरती भी थी। इस पूरे प्रकरण में उपन्यासकार का अभीष्ट है दलित स्त्रियों का शोषण तथा जमींदार चौधरी देवीपाल के चरित्र की नकारात्मकता दिखाना। परन्तु दलित स्त्री के दृष्टिकोण से इस पूरे प्रकरण पर कई सवाल उठते है। यदि यह मान भी लिया जाये कि सन्नों व रामरती चौधरी देवीपाल के आतंक और डर से बलात्कार के समय चुप्पी साथ लेती है परन्तु चौधरी देवीपाल धुसिया का जब गला घोटता है तब भी वे सामने ही खड़ी रहती हैं। क्या उनमें सामान्य मानवीय मूल्य भी नहीं हैं कि वे दोनों उसकी हत्या का विरोध करतीं या धुसिया की जान बचाने का प्रयास करतीं। इसी प्रकार रामरती और सन्नो का भी बलात्कार होता है। रामरती चौधरी वीरपाल के डर से कोई प्रतिरोध नहीं करती, परन्तु चौधरी और रामरती को आपत्तिजनक स्थिति में रामरती का बेटा देख लेता है। रामरती इसी सदमें में थी और उधर चौधरी उसके बेटे की हत्या कर देता है। इस

घटना पर भी प्रतिरोध का स्वर रामरती का नहीं बल्कि उसके पति रामजस का होता है। इस घटना के बाद उपन्यास में सन्नो के साथ चौधरी और हरसन्ना भगत मिलकर बलात्कार करते हैं। बलात्कार की घटना को रामरती देख लेती है जिसके कारण चौधरी और हरसन्ना भगत दोनों स्त्रियों को डायन घोषित कर देते है इसके बाद दोनों के कपड़े फाड़कर गाँव में नंगा घुमाया जाता है। अब सवाल यह उठता है कि उपन्यासकार का इतनी सारी बलात्कार की घटनाओं को दिखाने के पीछे अभीष्ट क्या है? दलित स्त्रियों के साथ आज भी इस देश में सबसे ज्यादा बलात्कार की घटनाएँ होती हैं, परन्तु इसके साथ यह भी सच है कि गाँव के स्तर पर ढेरों दलित महिलाएँ बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों से लैस होकर दलित चेतना भी फैला रही हैं। उपन्यासों और कहानियों में आयी हुई इन्हीं घटनाओं पर अनिता भारती कहती है कि '' दलित साहित्यकार दलित स्त्रियों की उन्नति में बाधित तत्व एकमात्र यौन शोषण को ही मानते है, इसलिए जब भी हिन्दी दलित साहित्यकार कहानी, उपन्यासों में स्त्री पात्र रखते हैं तो केवल सवर्ण समाज की हवस का शिकार दिखाने के लिए। दलित साहित्यकारों को कहानियों की महिला पात्रों में विद्रोही प्रवृत्ति पुरुष पात्रों के लिए उठाकर रखी है। एक–दो कहानियों में जरूर दलित स्त्री दबंग या परिस्थितियों का डटकर मुकाबला करने वाली है परन्तु अधिकतर तो परिस्थितियों का गुलाम, निरीह, अनपढ़ अबला है।''[27] बलात्कारों का घटनाक्रम यहींनहीं रूकता बल्कि हंसा की पत्नी सुनहरी के साथ भी चौधरी और हरसन्ना भगत बलात्कार करते हैं। अपनी पत्नी के साथ बलात्कार की घटना होने पर हंसा जमींदार के विरुद्ध प्रतिरोध करता है जिसमें वह घायल हो जाता है। इसके बाद पूरा दलित समाज संगठित होकर चौधरी और भगत के विरुद्ध संघर्ष करता है। इसी प्रसंग पर अजमेर सिंह काजल लिखते हैं कि ''मंगल और हंसा अभी तक अबलाओं से हुए दुष्कर्मों और अत्याचारों के खिलाफ गरीब लोगों के प्रतिरोधों में शामिल नहीं हुए थे। यदि मंगल प्रारम्भ में ही स्त्री अस्मिता के हक में सामने आता तो उपन्यास में स्त्रियों द्वारा झेली गई पीड़ा और दैहिक शोषण समाज में जागरुकता पैदा करता। फलतः समाज सशक्त बनता।''[28] काजल जी के कथन से एक नया तथ्य बाहर निकलकर आता है।

दरअसल उपन्यासकार इतनी सारी दलित स्त्रियों का बलात्कार दिखाकर दलित समाज में स्त्रियों के सम्मान के लिए एक प्रतिरोध की चेतना विकसित करना चाहता है। हालाँकि स्त्री सम्मान को ध्यान में रखकर किसी भी चेतना का विकास दिक्कततलब हो सकता है। इसके उप–उत्पाद (बाई प्रोडक्ट) के रूप में स्त्रियों की यौनिकता को नियंत्रित करने का भी भाव आ सकता है।

मुक्तिपर्व उपन्यास मूलतः शिक्षा के द्वारा विकसित होती दलित चेतना पर आधारित है। दलित स्त्रियों के चारित्रिक विकास पर उपन्यासकार ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। दलित स्त्रियों की समस्याएँ उपन्यास की अवान्तर कथाओं में ही दिखती हैं। उपन्यास के प्रारम्भ में ही जंगल के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूरा दलित समाज जिसमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं, खुले में शौच के लिए बाध्य हैं। इसी प्रकरण में यह भी स्पष्ट होता है कि दलित समाज की स्त्रियों में बहनापे की तीव्र भावना होती है। विवाहित स्त्रियाँ तो आपस में शारीरिक सम्बन्धों को लेकर भी हास–परिहास करती हैं। उपन्यास में 'चकरभिन्नि' नामक दलित स्त्री के प्रसंग में यह बात सामने आती है– ''माँग में सिन्दूर भर जाने से लड़कियों में बहुत बदलाव आ जाता है। उन बदलाव में एक परिवर्तन यह भी था कि अब वह मर्द औरत के बीच शारीरिक सम्बन्धों के अनुभवों को रस ले–ले कर कहती सुनती थी। पहले जितना वह सकुचाती थी, अब उतना ही खुल गई थी। भाभियों, चाचियों के अलावा हमउम्र सहेलियों से अंतरंग बातों में वह अब अधिक शामिल होने लगी थी।..... औरत भी पहले स्वयं सीखती है फिर दूसरों को सिखाती है।''[29] ज्ञान की यह परम्परा दलित समाज की स्त्रियों में सेक्स को ही लेकर सीमित नहीं है वरन् अन्य क्षेत्रों में भी लड़कियाँ अपनी माँ और दादी से सीखती हैं और उस सीखे हुए ज्ञान को अपने बच्चों तक पहुँचाती है। इस तरह के श्रम आधारित समाज में ज्ञान का हस्तान्तरण होता है।

इस उपन्यास में दलित लड़कियों के प्रति दलित परिवारों में भी भेदभाव के दृश्य दिखायी देते हैं। 'करतारा' अपने बेटे उछाल की शिक्षा के लिए चेतनशील तो दिखायी देता है परन्तु अपनी बेटी भूरी के प्रति लापरवाही ही

दिखाता है। हालाँकि लड़कियों की शिक्षा में सबसे बड़ी बाधा तो जाति भेद ही दिखी है। सवर्ण समाज जब सुनीत के साथ भेदभाव करता है तो इस उत्पीड़न की जद में भूरी भी निश्चित हीआयेगी। नटवा के प्रसंग में ग्रामीण क्षेत्रों में दलित स्त्रियों की अमानवीय शोषण की परिस्थितियों को उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है। उपन्यास में घटना का विवरण इस प्रकार आता है– ''वह चार–पाँच सालों में रिक्शा चलाता था। गाँव में उसकी घरवाली के साथ ठाकुरों ने बलात्कार किया था और फिर मारकर उसकी लाश को जला दिया था। उसकी राख भी न मिल पाई थी उसे। ठाकुर उसे भी जान से मार देते अगर वह चार साल के बच्चे को लेकर शहर भाग न आता।''[30] यह पूरी घटना ग्रामीण जातिवादी सामन्ती समाज की हकीकत बयां करती है। इसी प्रकार नटवा की दूसरी पत्नी सुरजा की कहानी भी सामन्ती समाज की शोषणपरक मानसिकता को दर्शाती है। सुरजा के पहले पति को ठाकुर ने मरवा दिया था और बेटा दवाइयों के अभाव में मर गया। इस प्रकार उपन्यास में दलित स्त्रियों की दुर्दशा के लिए वर्ण–जाति पर आधारित सामन्ती समाज जिम्मेदार दिखायी देता है।

उपन्यास 'आज बाजार बन्द है' में दलित स्त्री के रूप में पार्वती का चरित्र है। पार्वती वेश्यावृत्ति करती है तथा उसे वेश्यावृत्ति में धकेलने का कार्य देवदासी जैसी प्रथा द्वारा किया गया है। आज भी भारत के विभिन्न हिस्सों में दलित स्त्रियों को देवदासी जैसी धार्मिक प्रथाओं के कारण शारीरिक शोषण का शिकार होना पड़ता है। पार्वती के परिचय का विवरण उपन्यास में इस प्रकार आता है– ''बिना शिव की पार्वती, शिव ने पहले इसे मंदिर में बैठाकर देवदासी बनाया। फिर मंदिर से चकले में भेज दिया। पहले मंदिर के पुजारी ने इसके शरीर को भोगा। फिर गाँव के पटेल ने बाजी मारी। दोनों का मन भर गया तो गाँव के सामंत–साहूकार की बारी आई यानी हमारे समाज में जिसका जितना मान–सम्मान, उतना ही देवदासी को भोगने के लिए उनके अधिकार सुरक्षित होते हैं। अब रात में काले चोर के रूप में देवता आते हैं और इस देवी को भोगते है।''[31] उपन्यास में आया यह पूरा विवरण धर्म और सत्ता के उस

गठजोड़ को दिखाता है जिसने दलित स्त्रियों के शोषण के लिए एक पूरा तंत्र विकसित किया है। आज भी भारत में ऐसी कई जगहें है जहाँ दलित चेतना न पहुँचने के कारण ऐसी अमानवीय प्रथाएँ बदस्तूर जारी हैं।

पार्वती के माध्यम से उपन्यासकार ने उन तमाम दलित महिलाओं की पीड़ाओं से रूबरू करवाया है जिन्हें देवदासी प्रथा से वेश्यावृत्ति के धंधे में ठेल दिया जाता है। उसी पीड़ा को व्यक्त करते हुए पार्वती कहती है कि ''देखो तो मेरे जीवन की विडम्बना। घर से मन्दिर, मन्दिर से वेश्यालय और वेश्यालय से मरघट नहीं अभी नहीं? शायद एक दलित महिला को और भी पीड़ा भोगनी होती है।''[32] यह उन तमाम वेश्यावृत्ति के जाल में फँसा दी गयी महिलाओं की त्रासदी है,जिसमें उन्हें कही से भी उजाला नहीं दिखायी देता है। उनका जीवन अंधियारे से इस प्रकार भर गया है कि इससे मुक्ति का रास्ता सिर्फ जीवन समाप्ति में ही दिखायी देता है। उनकी यह मानसिक वेदना उन चकलाघरों के वातावरण से उपजती है जहाँ वह स्त्रीक्या प्राणीमात्र के दायरे से भी नीचे धकेल दी जाती है। चकलाघरों का वातावरण उन्हें नितान्त मांस के लोथड़ों में तब्दील कर देता है जहाँ वह सिर्फ पुरुषों की यौन संतुष्टि का औजार बन कर रह जाती हैं। पार्वती पुरुष समाज की इसी मानसिकता पर कहती है कि ''जबकि कुछ सूंघते–सूंघते मुझ तक पहुँचते थे। और वे मेरी देह पर चढ़ते थे। मैं हाफने लगती और थक जाती, पर वे नहीं थकते थे। थक कर भी मुझे संभोग में उनके साथ रत रहना पड़ता था। औरत चाहे कितनी भी थक जाए उसे अंतिम सांस तक पुरुष को संतुष्ट करते रहना चाहिए। यही पुरुष की संभोग संस्कृति थी और यही कोठे का दस्तूर भी था।''[33] हालाँकि उपन्यास में आये कुछ प्रसंगों से विरोधाभास उत्पन्न होता है। वेश्या महिलाओं के स्वत्व या शरीर को पुरुष समाज ने इतना रौंदा है कि उनका अन्तर्मन तक छलनी हो जाता है। दूसरी तरफ उपन्यासकार पुरुषों के लिए उनमें सम्मोहन भी दिखाता है– ''महिलाओं के बीच किसी पुरुष की गन्ध होना न सिर्फ उन्हें रोमांचित करता है बल्कि नर के अस्तित्व का तीव्रता से एहसास भी जताता है। औरत लाख चाहे पुरुष से नफरत करे, पर पुरुष की मौजूदगी उनके बीच

सम्मोहन की स्थिति भी पैदा करती है। वैसा ही इन महिलाओं के बीच हुआ।''[34] क्या उपन्यासकार भूल जाता है कि वह साधारण जीवन जीने वाली महिलाओं की बात नहीं कर रहा है। चकलाघरों में रहने वाली महिलाओं का शरीर जिस तरह से पुरुष समाज ने रौंदा है, क्या उसकी चोटों से उनमें पुरूषों के लिए सम्मोहन, आकर्षण जैसी संवेदना बची रहती है! निश्चित ही नहीं, पुरुषों के समाज में जिस तरह से उन्हें बिकाऊ जिन्स की तरह प्रयोग किया जाता है, उससे तो लगता है कि उनमें इस समाज के लिए घृणा, नफरत जैसे ही भाव बचते हैं।

हालाँकि पार्वती सुमित की प्रेरणा से उस दलदल से बाहर निकलने की कोशिश करती है। उसके साथ ही पूरा वेश्या समाज भी चेतनशील होकर शरीर बेचने से इन्कार करता है परन्तु उपन्यास का अन्त सरलीकरण का शिकार हो जाता है। उपन्यासकार पार्वती की मुक्ति की जो तरकीब सुझाता है वह सुधारवादी दृष्टिकोण ही साबित होता है। क्या पार्वती की इस मुक्ति से दलित समाज की जो स्त्रियाँ देवदासी जैसी कुप्रथा में धकेली जा रही हैं उनकी स्थितियों पर कोई प्रभाव पड़ेगा। इससे यह भी सवाल उठता है कि जिस अनैतिक बाजार में स्त्रियों को बिकने के लिए मजबूर किया गया था क्या उस पूरी प्रक्रिया में पुरुष समाज की कोई जिम्मेदारी नहीं थी ? क्या सुधार की आवश्यकता सिर्फ वेश्या समाज में है ? निश्चित ही नहीं, वेश्या समाज से अधिक उस पितृसत्ता और वर्ण–जाति व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता है जिसने उन्हें इस दलदल में धकेला है।

मुक्तिपथ उपन्यास मूलतः शिक्षा संस्थानों में फैले जाति भेद पर आधारित है। दलित स्त्रियों से सम्बन्धित एक–दो प्रसंग ही उपन्यास में आते हैं। महेश नामक दलित पात्र के प्रसंग में उसकी माँ धन्नों का विवरण आता है। महेश का पिता बारू कर्ज को चुकाने के लिए रणजीत सिंह का सीरी बनता है। रणजीत सिंह बारु की पत्नी धन्नों के कन्धों पर हाथ रखता, उसकी पीठ छूता है। धन्नो कोई प्रतिरोध नहीं करती है इसके विपरीत जमींदार के प्रति कृतज्ञ भाव से भर जाती है। उपन्यास में आगे का विवरण इस प्रकार आता है– धन्नो

को बहुत आश्चर्य हुआ कि इतने बड़े जमींदार ने उससे बात की। उसने उसके कंधों पर हाथ भी रखा, पर आगे कुछ भी न किया। धन्नो का मन जमींदार के लिए आदर भाव से भर गया।''[35] इस पूरे प्रकरण से उपन्यासकार के मन्तव्य पर कई सवाल उठते हैं। उपन्यासकार ने क्या सोचकर उपन्यास में ऐसा प्रसंग दिया है। क्या दलित स्त्री इतनी मासूम और भोली होती है कि जमींदार उसके कंधों और पीठ को छू रहा है और उसे पता ही नहीं चलता कि जमींदार का इरादा क्या है। क्या उपन्यासकार को स्त्री–मनोविश्लेषण की इतनी न्यूनतम जानकारी भी नहीं है? दलित स्त्री क्या अपने सम्मान की चेतना से रहित होती है जो इतनी आसानी से अपने आपको जमींदार के हवाले कर दे।

उपन्यास में दलित स्त्री के सम्बन्ध में दूसरा प्रसंग विश्वविद्यालय की दलित छात्रा का है जिसे एक अध्यापक प्रताड़ित करता है। अध्यापक पहले दलित छात्रा को अपने जाल में फँसाकर उसका शोषण करना चाहता है परन्तु लड़की के विरोध करने पर उसे सभी छात्रों के सामने जाति सूचक शब्दों से जलील करता है। उपन्यास का यह प्रसंग पितृसत्ता एवं जाति–व्यवस्था के उस दुष्प्रभाव को दिखाता है जिसमें दलित स्त्री को निर्जीव वस्तु के रूप में देखे जाने का चलन है। पितृसत्ता से प्रभावित पुरुषों में यह बात इतनी हद तक बैठ गयी है कि वह मानने के लिए ही तैयार नहीं होते कि स्त्री की अपनी स्वायत्तता होती है, उसमें भी इतनी बुद्धि, विचार और चेतना होती है कि वह भी अपने लिए कोई स्वतंत्र निर्णय ले सकती है। दलित स्त्रियों के सन्दर्भ में पितृसत्ता का यह स्वरूप वर्ण–जाति व्यवस्था के साथ मिलकर सवर्ण पुरुष समाज को इस प्रकार दुष्प्रेरित करती है कि वह उस पर अपना स्वभाविक कब्जा समझने लगता है।

दलित उपन्यास 'मिस रमिया' की सबसे खास विशेषता है कि यह विवेच्य उपन्यासों में दलित स्त्री द्वारा लिखित पहला उपन्यास है तथा जो दलित नायिका पर आधारित है। रमिया का शिक्षा के लिए किया गया संघर्ष दलित स्त्रियों के लिए प्रेरणा का कार्य करेगा। लेखिका ने रमिया के चरित्र को गढ़ने में गाँव के जमीनी अनुभव का उपयोग किया है। अनुभवों की

यथार्थपरकता ने ही रमिया के चरित्र चित्रण को विश्वसनीय बनाया है। उपन्यास के प्रारम्भ में रमिया और श्यामली का जिक्र आता है। श्यामली के कहने पर रमिया स्कूल की बाल्टी छू देती है जिसके कारण ब्राह्मण अध्यापक उसकी पिटाई कर देता है। यह 'दलित बचपन' का कटु यथार्थ है जिसमें दलित छात्रों को प्राथमिक विद्यालय से लेकर उच्च शिक्षा तक जातीय भेदभाव तथा उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। उन सवर्ण अध्यापकों को इस बात का बिल्कुल एहसास नहीं होता है कि वे अध्यापकीय गरिमा का उल्लंघन कर रहे हैं। रमिया का यहीं से शैक्षिक जीवन में जातिभेद के कारण उत्पीड़न शुरू होता है।

रमिया के माँ–पिता जी बेहद गरीब है। सूखा पड़ने के कारण रमिया स्कूल की फीस नहीं दे पाती है। उसी का सहपाठी फीस देने में उसकी मदद करता है परन्तु इसके बाद वह रमिया का शारीरिक शोषण करने की कोशिश करता है। रमिया प्रतिरोध करते हुए कहती है– ''क्या यही तुम्हारा उपकार है? लाचारी के उपर व्यभिचारी करते तुम्हें शर्म नहीं आई। अब से मेरी ओर नजर उठाई तो आँख फोड़ डालूंगी।''[36]

दलितों में गरीबी के कारण सबसे ज्यादा शोषण की शिकार दलित महिलाएँ होती हैं। रमिया की यह प्रतिरोधी चेतना उसके चरित्र को नई ऊँचाई देती है। रमिया शिक्षित होने के बाद बाबा साहब अम्बेडकर के मिशन को आगे बढ़ाते हुए गाँव के गरीब दलित बच्चों को पढ़ाना प्रारम्भ करती है। स्कूल की अच्छी स्थिति में पहुँचने के बाद गाँव के ही माधो चाचा उसे हड़पने की कोशिश करते हैं। इसी कोशिश में वे रमिया की हत्या का भी षड्यंत्र करते हैं। रमिया अपने दोस्त बैजू तथा श्यामली के कारण बच जाती है। यह घटना उन दलित स्त्रियों की हालात बयां करती है जो समाज सेवा करके अपने समाज को आगे लाना चाहती है। रमिया का जातीय शोषण आगे भी नहीं रूकता जब वह अध्यापकीय प्रशिक्षण के लिए राँची जाती है तो वहाँ की सवर्ण छात्राएँ उसकी निम्न जाति को जानकर उसका सामाजिक बहिष्कार कर देती है। यहीं सवर्ण छात्राएँ भविष्य में अध्यापन का कार्य करेंगी तो जहाँ भी जाएँगी इसी

मानसिकता से छात्रों के साथ भी पेश आएँगी। यह पूरी घटना पूरे देश की शिक्षा के भविष्य की कलई खोलती है। रमिया इस जातीय भेदभाव को सहते हुए अपना प्रशिक्षण पूरा करती है और स्कूल में अध्यापक बन जाती है। अध्यापन में एक सवर्ण अध्यापक उसके साथ जातीय भेदभाव करता है, जिसका रमिया कड़ा प्रतिरोध करती है। पूरे उपन्यास में रमिया के चरित्र के माध्यम से कावेरी जी यह बताने में सफल रही हैं कि दलित स्त्री किसी भी मुकाम पर पहुँच जाये बगैर कड़े प्रतिरोध के उसका जातीय उत्पीड़न नहीं रूकेगा।

उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' में दलित स्त्रियों के विविध रूप सामने आते हैं जो दलित स्त्रियों की सामाजिक दशा ही नहीं दिखाते वरन् उन परिस्थितियों में उपजी विद्रोही चेतना भी दिखाते हैं। यह अलग बात है कि कभी यह विद्रोही चेतना गरीबी और सामाजिक बन्धन के आगे घुटने टेक देती है तो कभी विरोधी दिशा में विकसित प्रतीत होती है; ऐसे ही विद्रोही चरित्र से सम्पन्न दलित स्त्री 'भागो' है। उपन्यासकार उसके परिचय में ही उसके व्यक्तित्व की झलक दे देता है– ''सावन के झूले पड़े नहीं कि 'झोटा' देने की मेरी बेगारी वह तय कर रखती थी। सगे छोटे भाई से भी अधिक स्नेह पाता उससे लेकिन रौब–दाब में वह कोई ढील न आने देती थी। यदा–कदा जताती भी रहती थी कि बॉस कौन है जिससे गफलत में हुकुम अदूली की बात सोचने से भी परहेज रखूँ।''[37] इस पूरे प्रसंग से एक बात उभरकर कर आती है उसके व्यक्तित्व में स्नेह के भाव के साथ रौब–दाब सहज भाव से मिला हुआ है। कथावस्तु में आगे वह अपने जन्म का विवरण लेखक को सुनाती है तो पूरे प्रकरण में उसकी सूक्ष्म बौद्धिकता तथा विद्रोही चेतना दिखायी देती है– '' कि मेरी माँ, और मेरी माँ ही क्या जटवाड़े की औरते बच्चे जनती रहे, कि हर जन्मे बच्चे को माँ उन्हें अपने कलेजे का दूध पिलाकर, अपने पेट की रोटी देकर जवान करे कि वह गूजरों के खेत–घर में एक अच्छा कमाऊ बेगारी करने वाला मजदूर बने, कि बेगारी करते–करते वह तपेदिक का रोगी होकर मर जाए और मरने से पूर्व चार–छह और मजदूर पैदा कर जाए।''[38] ऐसी चेतना

सम्पन्न दलित युवती का हश्र क्या होता है? उसके बेगारी मजदूर पिता दहेज न दे पाने की स्थिति में भागो का विवाह एक तपेदिक रोगी से कर देते हैं। विवाह के आठ मास बाद ही उसकी तपेदिक से मृत्यु हो जाती है। उपन्यास के इस पूरे प्रकरण पर रामजी यादव सवालिया निशान लगाते हुए कहते हैं कि– ''एक सवाल तो यही उठ सकता है कि भागवंती में यह विद्रोह चेतना आई कहाँ से? क्या गूजरों के खिलाफ आर–पार का संघर्ष करने वाले जाटवों के कंधे से कंधा मिलाकर स्त्रियाँ भी चल रहीं थीं? यदि यह सच है तो स्त्रियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होनी चाहिए जबकि उपन्यासकार ने उन्हें उभरने का कोई मौका देना तो दूर, छिपा कर रिश्तेदारियों में भेजा और इससे भी आगे बढ़कर रामबती की कहानी बनाई। यह भी सवाल उठाया जा सकता है कि क्या एक प्रखर चेतना सम्पन्न युवती तपेदिक मरणासन्न रोगी से केवल इसलिए विवाह कर लेगी कि यह उसके भाग्य में बदा है?''[39] दरअसल रामजी यादव जब सवाल उठाते हैं तो उन परिस्थितियों को भूल जाते हैं जिसमें दलित स्त्रियों का जीवन बीतता है। भागो से वह किस प्रकार का विद्रोह चाहते हैं। वह विवाह से मना कर दे तो उसके पास और रास्ता कौन सा बचता है। भागो अपने परिवार की मजबूरी समझ रही थी इसी कारण जान बूझकर मौत का रास्ता चुनती है। उपन्यास में भागो के विद्रोह न करने का विवरण इस प्रकार आता है– ''विद्रोह करके भी, भागो क्या कर लेती? एक–एक बाल कर्ज में विंधे पिता से वह क्या कहकर विद्रोह करती। एक मजदूर ही तो भाग्य में था सो मिल रहा था, अंतर केवल इतना था कि स्वस्थ न था, तपेदिक का रोगी था, सावन के झूलों पर देखा कल्पना का राजकुमार न था।''[40] इस प्रकार उपन्यास में भागो का चरित्र बहुत संवेदनशील रूप में सामने आता है।

उपन्यास में दूसरी दलित स्त्री के रूप में 'चावली' का महत्वपूर्ण चरित्र है। चावली के साथ बचपन में आर्य समाज के मन्दिर में बलात्कार हो जाता है। भारतीय समाज में जिस स्त्री या लड़की के साथ बलात्कार होता है उल्टा उसी को इस अपराध का दोषी समझा जाता है। यह भारतीय समाज का कटु यथार्थ है कि बलात्कृत स्त्री को समाज दुहरा दण्ड देता है। एक तरफ तो वह

स्त्री बलात्कार की अपमानजनक एवं घृणित पीड़ा सहती है दूसरी तरफ समाज उसी के चरित्र पर सवालिया निशान खड़े करता है। चावली के साथ बलात्कार होने के बाद उसकी फूफी कहती है कि– ''अरी छिनाल तू मर क्यों न गयी थी... नाक कटा दी कुनबा की.... बेसरम बनी हियाँ आने से पहले किसी कुँआ नहर, नदी में डूब क्यों न मरी। कुलच्छनी तेरे लच्छनों की नैंक सी भनक मेरे को होती तो.... नाम डुबो दिया रे कुनबा का.... मेरे भाई को जीने लायक न छोड़ारे।''[41] यहीं से चावली के विद्रोह की परिस्थितियाँ तैयार होती हैं। विवाह के बाद वह दाई के कार्य में निपुण हो जाती है। सन्तानोत्पत्ति न होने के कारण चावली का पति दूसरा विवाह कर लेता हे। अपने जीवन के कटु अनुभव चावली को पूरे पुरुष समाज से विद्रोह की प्रवृत्ति से लबरेज करता है। वह कहती है कि ''गूजर जाटव, चमार, नाई, चूहड़े सब साले एक जैसे ही हैं। पाप स्वयं करते है, बेटियों को जिम्मेदार ठहराते हैं। चोरी छुपे बेटियों–बहनों को लेकर आते है यहाँ, उनकी मुश्क बाँधकर नहीं लाते जो उस सुकर्म के साझेदार है।.... मर्दों द्वारा तय शर्तों और किलेबंदी से औरत तनिक भी इधर–उधर हुई कि इनकी मूँछों पर खतरा टूट पड़ता है फिर चाहे वह औरत इनकी माँ ही क्यों न हो, उसकी गर्दन उड़ाने में मर्द एक क्षण के लिए हिचकता नहीं है, स्वयं चाहे जहाँ चाहे मुँह मारता फिरे, चाहे जिस घाट का पानी पीता फिरे, इनकी इज्जत पर कोई आँच नहीं आती है।''[42]

पितृसत्ता विरोधी इन सारे विचारों के बाद भी चावली गर्भपात करने में कुशल दाई का ही कार्य करती है जिससे एक प्रकार से पितृसत्ता को मजबूत ही करती है। चावली के चरित्र की व्याख्या करते हुए रामजी यादव लिखते हैं कि– ''चावली स्वयं एक त्रासद चरित्र है और उसके अंतर्विरोध बड़े गंभीर औरसवालनाक है लेकिन उपन्यासकार की दृष्टिहीनता ने उसे कहीं का न छोड़ा। उसे नहीं पता है कि जिस समाज के खिलाफ उसके मन में वर्षों का आक्रोश छिपा दबा है वह जीवनभर उसी सड़े–गले समाज को बचाती आ रही है और उसी में स्वाहा हो रही है।[43]

इन दोनों दलित स्त्री पात्रों के अलावा उपन्यास में दलित स्त्रियों की परिस्थितियों के कुछ और प्रसंगभी आते है। गुर्जर जाटव संघर्ष की कीमत प्रौढ़ दलित स्त्री रामबती को चुकाना पड़ता है। चार वर्ष के पोते की दादी रामबती का गुर्जर के लड़के मिलकर बलात्कार करते हैं। रामबती इस अपमान और पीड़ा को सहन नहीं कर पाती और आत्महत्या कर लेती है। हालाँकि उपन्यास में आये रामबती के प्रसंग पर रामजी यादव सवाल खड़ा करते हुए कहते हैं कि – ''सवाल यह उठाया जा सकता है कि जिस रामबती का पूरा जाटव मुहल्ला सम्मान करता था, उसकी आकस्मिक लेकिन संदिग्ध आत्महत्या पर जाटवों का खून क्यों नहीं खौला? क्या उनके लिए पानी और जंगलपानी से ज्यादा महत्व रामबती का नहीं था''[44]

हालाँकि यह भी हो सकता है कि रामबती की उम्र को देखते हुए पूरा जाटव मुहल्ला बलात्कार होने जैसी घटना के बारे में नहीं सोचा हो। इस प्रकार उपन्यास में आये विभिन्न दलित स्त्री पात्रों को देखते हुए हम कह सकते है कि इन स्त्रियों में विद्रोह की चेतना मौजूद है, ये अलग बात है कि उनके इस विद्रोह को सही दशा नहीं मिल पाती है परन्तु उपन्यास के समयकाल को देखते हुए हम कह सकते है कि इनकी यहीं विद्रोही चेतना आगे चलकर पूरे दलित समाज को नई राह दिखाती है।

उपन्यास 'उधर के लोग' में नायक की दादी एवं दूसरी पत्नी संगीता ही महत्वपूर्ण दलित स्त्री पात्रों के रूप में आती हैं। पूरा उपन्यास नायक की हीविचार दृष्टि पर आधारित है इसलिए विभिन्न घटनाओं पर दलित स्त्री पात्रों की स्वभाविक प्रतिक्रिया नहीं दिखायी देती है। नायक अपनी दादी को अम्मा कहता है और उनके बारे में बताता है कि– ''दादाजी कीहत्या के समय, अम्मा की उम्र सिर्फ तीसेक साल थी। पिताजी उस समय बारह–तेरह साल के थे। पिता जी के बाद, दो चाचा और दो बुआ भी, परिवार में थीं। अम्मा, दादाजी कीजगह नौकरी पर लग गई थी। उन्हें 'वाटर वुमैन' के पद पर नियुक्ति दी थी, विभाग ने। कैसी–कैसी दुश्वारियाँ झेली होंगी अम्मा ने, मेरी प्यारी अम्मा ने पर वह कभी बताती नहीं थी।''[45] हालाँकि उपन्यास में आगे अम्मा के संघर्षों

का कोई विवरण नहीं आता है परन्तु हम अनुमान लगा सकते हैं कि अम्मा ने स्वयं परिश्रम करके पूरे परिवार को पाला था। यह दलित स्त्री के सशक्तिकरण का उदाहरण है जिसमें दलित महिला ने स्वयं के परिश्रम से अपने पूरे परिवार की देखभाल की। अब यह सवाल उठ सकता है कि अम्मा ने दूसरी शादी क्यों नहीं की? दलित समाज में दूसरी शादी को लेकर कोई नैतिक–सामाजिक रोक नहीं है। दलित विधवा स्त्री के घरवाले, रिश्तेदार या वह स्वयं चाहे तो अपने पसंद से दूसरा पति ढूँढ लेती है। अम्मा संगीता से बातचीत के क्रम में बताती हैं कि– ''उनके बाद किसी और के होने के लिए मन ही नही माना। उन्होंने मुझे ऐसा प्यार और दुलार दिया था बस एक जिंदगी के लिए तो वह जरूरत से ज्यादा ही था। वो बहुत गुस्सेवाले थे, पर उतने ही प्यार वाले भी थे। फिर मैं कमाने लगी थी। किसी पर आसरित तो थी नहीं''[46] दलित स्त्री दृष्टिकोण से एक वजनी बात समाने आती है, वह है आर्थिक दृष्टि से स्वालम्बी होना। अपने परिवार को पालने का अम्मा का हौसला उनके स्वालम्बन के कारण मजबूत होता है। स्वालम्बन के कारण ही वह स्वतंत्र फैसले ले पाती हैं। दलित स्त्री भी जब तक आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं होगी तब तक आन्तरिक पितृसत्ता से उसकी लड़ाई कारगर नहीं हो सकती है।

दूसरी महत्वपूर्ण दलित स्त्री पात्र के रूप में नायक की दूसरी पत्नी संगीता का चरित्र है। नायक की पहली ब्राह्मण पत्नी वन्दना आत्महत्या कर लेती है। यह तथ्य शादी से पहले नायक के घर वाले संगीता से छुपा लेते हैं तथा नायक भी बड़ी मासूमियत से इस जिम्मेवारी से पल्ला झाड़ लेता है। उपन्यास के इस प्रकरण पर रानी दिसोदिया कहती हैं कि– ''बल्कि दूसरी पत्नी को भी पहली पत्नी और उसकी आत्महत्या के बारे में शादी से पहले सबकुछ बता देने के भार से भी नायक को मुक्त कर दिया गया है जैसे संगीता को वन्दना के बारे में पहले बताना भी परिवार का कर्तव्य था ना कि उसका। और तो और नायक को इसी मुद्दे पर संगीता द्वारा घर छोड़कर चले जाने पर और उससे ही आयशा नामक कालगर्ल से पहले केवल भावनात्मक और फिर शारीरिक संबंध बना लेने की छूट है।''[47] इसके आगे वह कहती हैं

कि नायक का फिर भी पत्नी से प्रेम का दावा; इन सबका दलित स्त्री लेखन की दृष्टि से पुनर्पाठ होना चाहिए। रानी दिसोदिया द्वारा उठाया गया यह सवाल वाजिब है। संगीता का पूरे घटनाक्रम पर कोई स्वतंत्र विचार उभर कर नहीं आता है। नायक का घर छोड़ने के बाद जैसे उसका चरित्र पर्दे के पीछे चला जाता है तथा नायक अपनी आवश्यकतानुसार उसे मंच पर वापस लाता है जिससे उसका चरित्र कमजोर हो गया है। इसके बाद नायक अपने द्वारा आयशा नामक कॉलगर्ल से बनाये गये सम्बन्धों को न्यायसिद्ध करने की कोशिश करता है। संगीता की बच्ची के जन्म के बाद पुनः घरवापसी होती है जिससे यह सिद्ध होता है कि दलित लेखक दलित स्त्री का अन्तिम दायरा परिवार में ही सिद्ध करता है। हालाँकि लेखक ने विभिन्न घटनाक्रमों के माध्यम से अपने नायक को पहले ही मासूम और दोष मुक्त साबित कर दिया था।

उपन्यास 'गदर जारी रहेगा' मुख्यतः दलित–आदिवासी समस्या पर केन्द्रित है इसलिए इसमें दलित स्त्रियों का चरित्र–चित्रण नहीं आता है। इसकी केन्द्रीय स्त्री पात्र अलिवेल्लमा और उसकी बेटी शीतल के जीवन संघर्षों का चित्रण है। पूरे उपन्यास में समाज के हाशिये के लोगों का टकराव मूलतः धर्म, स्वार्थी राजनीति तथा पूँजीवाद के गठजोड़ से है। मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास 'ज़ख़्म हमारे' साम्प्रदायिकता पर केन्द्रित है। पूरा उपन्यास दलित नायक राजू परमार तथा मुस्लिम समुदाय के अंतर्संबंधों पर आधारित है। चूँकि पूरा वर्णन शहरी शिक्षा अध्ययन के इर्द–गिर्द धूमता है इसीलिए दलित समुदाय का वर्णन संक्षिप्त ही हुआ है। इसमें भी कोई दलित स्त्री केन्द्रीय पात्र के रूप में उभर कर नहीं आती है। कैलाश चन्द्र चौहान का प्रथम उपन्यास 'सुबह के लिए' में केन्द्रीय दलित पात्र के रूप में हम नायक विक्रम की माँ फूलो को मान सकते हैं। फूलों का भी उपन्यास में विवरणात्मक उल्लेख ही हुआ है। पति की मृत्यु के बाद बच्चों के पालन–पोषण करने में, उनको शिक्षित करने में उसके द्वारा किये गये संघर्षों का उपन्यास में कोई उल्लेख नहीं होता है। फूलो की विदाई के प्रसंग में उपन्यासकार लिखता है कि– ''फूलो समाज के तानों से बचने के लिए खूब रोई। कोई यह न कह दे कि 'देख चुपचाप चली गई।

उसे तो अपने माँ–बापू, भाई से जुदा होने का तनिक भी दुख नहीं हुआ।' फूलो अपनी माँ, चाची, ताई के गले लगी। माँ की आँखे भी गीली हुई।''[48]

उपन्यासकार यहाँ बताना चाह रहा है कि ससुराल जाते वक्त लड़की सिर्फ समाज के तानों से बचने के लिए रोती है। एक अनजाने परिवार में जाने का भय, एक ऐसे व्यक्ति से जीवन भर के लिए जुड़ने का भय जिसके बारे में वह भली–भाँति नही जानती तथा इसके अलावा अपने परिवार, गाँव, खेत–खलिहान छूटने का दर्द एक स्त्री के रोने के लिए काफी नहीं है। उपन्यासकार को ऐसी बातें लिखते वक्त सावधानी दिखानी चाहिए थी, यह मुद्दा स्त्री दृष्टिकोण से बड़ा ही मार्मिक एवंसंवेदनशील है।

'भंवर' उपन्यास में मुख्य दलित स्त्री पात्र के रूप में पुष्पा का वर्णन है। इसके अलावा पुष्पा की माँ विमला तथा देवरानी शान्ती का भी विवरण आता है। केन्द्रीय पात्र पुष्पा के बारे में जय प्रकाश कर्दम लिखते हैं कि– ''एक दलित परिवार की कई पीढ़ियों में गुंथे इस उपन्यास की कथा की धुरी पुष्पा है। केवल माँ के द्वारा पाली–पोशी गयी, प्रेमी के साथ विवाह करने में असफल, कुँआरी माँ बनकर पुत्र का त्याग, पति में कमी के कारण संतान सुख से वंचित–इन तमाम दुखों और वंचनाओं से त्रस्त पुष्पा के जीवन में सुख का आधार है तो केवलएक अनाथालय से गोद ली गई बेटी अनामिका।''[49]इस पूरे वक्तव्य से पुष्पा के जीवन की पूरी त्रासदी का विवरण मिल जाता है। पूरे उपन्यास में जो सबसे सशक्त दलित स्त्री चरित्र है वह है पुष्पा की माँ विमला। विमला अपनी माँ के बीमार होने पर अपने पति के विरोध के बावजूद बेटे के साथ मायके चली जाती है। वहीं पर उसका बेटा बीमार हो जाता है तथा उसकी मृत्यु हो जाती है जिसके कारण विमला का पति दूसरी शादी कर लेता है। ससुर का विमला को दूसरे घर में रहने के आश्वासन पर विमला कहती है ''केवल पेट भरने से जीवन नहीं चलता बापू। पेट तो मैं अपने पीहर में भर लूँगी। हाथ–पैर हैं मेरे कमा के खा लूँगी। लेकिन सौत के रहते यहाँ नहीं रहूँगी।''[50] यह पूरा वक्तव्य दलित स्त्री के स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास का परिचायक है। विमला श्रम संस्कृति की स्त्री है उसे अपने परिश्रम पर

भरोसा है कि वह जहाँ भी रहेगी स्वयं जीवन–यापन करने में सक्षम होगी। विमला के आत्मविश्वास का नतीजा है कि वह बकरीएवं सुअर पालन करके न केवल स्वतंत्र जीवन का चुनाव करती है वरन् अपनी बेटी पुष्पा को शिक्षित भी करती है; परन्तु उपन्यास में विमला के जीवन से पुष्पा के जीवन की तुलना करने पर उपन्यास में वर्णित दलित जीवन संस्कृति के कुछ आपत्तिजनक पहलू सामने आते हैं। वही पुष्पा जो अपनी शादी के वक्त पिता को ठुकरा देती है, अपने ससुराल में आने पर नौकरी करने की बात करती है, पति की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने पर केवल गृहणी बन कर रह जाती है। क्या मध्यवर्गीय दलित परिवारों में भी स्त्री को घर के कार्यों तक सीमित करने का यह उदाहरण नहीं बन जाता है? पुष्पा यद्यपि सन्तान न होने पर 'बेटी' गोद लेकर अपनी प्रगतिशील चेतना का परिचय देती है परन्तु उच्च शिक्षित होने के बाद भी उसका नौकरी न करना, खटकता है। इसी प्रकार दलित स्त्री शान्ती को लड़का न पैदा करने पर प्रताड़ित करना तथा एक अदद लड़के की तलाश में पाँच बेटियों की माँ बनना, दलित समाज पर ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के दुष्प्रभाव को दिखाता है।

इस प्रकार विवेच्य उपन्यासों में दलित स्त्री की बहुविध परिस्थितियों का विवरण आता है परन्तु दलित उपन्यासों में दलित स्त्री के चेतनशील स्वरूप की अवहेलना दिखाई देती है। हिंदी पट्टी के दलित समाज में सुश्री मायावती, फूलनदेवी, भंवरीबाई जैसे दलित स्त्रियों के जीवंत चरित्रों के बावजूद दलित उपन्यासकारों ने उपन्यासों में ऐसे किसी दलित स्त्री किरदार को प्रस्तुत नहीं किया है। हालाँकि दलित स्त्री लेखिका कावेरी ने 'मिस रमिया' जैसा किरदार अपने उपन्यास में प्रस्तुत करके जरूर उम्मीद बंधाई है। उपन्यासों में दलित स्त्री किरदारों का यह हश्र देखकर दलित लेखकों की नियत पर शक होता है। क्या दलित उपन्यासकार किसी मध्यवर्गीय दृष्टि के शिकार तो नहीं हो गए हैं? ग्रामीण समाज में दलित स्त्रियों के शारीरिक शोषण का मसला दलित आंदोलन के मुद्दों में अवश्य होना चाहिए; परंतु इसके अतिरिक्त उनका चेतनशील चरित्र भी उपन्यासों में आना चाहिए। हालाँकि! अनुभूति की प्रामानिकता को

यदि आधार बनाया जाए तो दलित महिला उपन्यासकारों की कमी साफ झलकती है। हालाँकि दलित उपन्यासों का अभी घुटनों के बल चलने वाला दौर है। इनमें समय के साथ परिपक्वता आयेगी और इसके साथ ही दलित स्त्री का चेतनशील स्वरूप भी जीवंत होकर सामने आयेगा।

(ख) गैर दलित स्त्री

हिन्दी दलित उपन्यासों में गैर दलित स्त्रियों का चरित्र संक्षेप में आया है। हालाँकि जब हम गैर दलित स्त्रियों की बात करेंगे तो यह ध्यान रखना होगा कि ऐसा सचमुच का कोई स्त्री वर्ग नहीं है। इसमें उन स्त्रियों का जिक्र है जो दलित समाज से नहीं हैं। दरअसल इसके पूर्व में हम चर्चा कर चुके हैं कि समाज में पितृसत्ता का स्वरूप भिन्न–भिन्न पाया जाता है। जिस समुदाय का सम्बन्ध ब्राह्मण समुदाय के साथ जितना करीब का होता है आन्तरिक पितृसत्ता का स्वरूप उसमें उतना ही कठोर होता है। आन्तरिक पितृसत्ता के कठोर होने के कारण उस वर्ग की स्त्रियों की सीमा चारदिवारी तक ही सीमित रही है। दलित समाज के लेखकों का भी उनकी परिस्थितियों के बारे में अनुभव सीमित ही रहा है, इसीलिए दलित उपन्यासों में उनके जीवन्त चित्रण में कुछ कमी रह गयी है। जिन गैर दलित समुदायों की स्त्रियों का राब्ता दलित समुदाय से करीबी का रहा है अर्थात् उनकी गतिशीलता दलित समुदाय तक रही है उनका चरित्र दलित उपन्यासों में जीवन्त रूप में आता है। दरअसल जहाँ दलित उपन्यासकारों ने अन्तर्जातीय विवाह (जाति तोड़ने के सूत्र) पर जोर दिया है वहाँ गैर दलित समाज की युवती का चरित्र आदर्शवादी हो जाता है तथा अन्य गैर दलित समाज की स्त्रियों का चरित्र सतही रूप में ही उभरकर आता है।

उपन्यास 'मानव की परख' में गैर दलित समाज की स्त्री के रूप में सेठानी का जिक्र आता है। सेठ रानी के साथ घर में ही अवैध सम्बन्ध बनाता है जिसका सेठानी को भी पता चल जाता है। सेठानी के विरोध करने पर सेठ उल्टा उसे ही समाज में अपनी बेइज्जती करवाने के लिए डांट देता है। सेठ

के सम्मान पर सेठानी कहती है कि– ''भला आप मुझे क्यों ऐसा सोचते है। मैंने तो आज तक किसी से कुछ नहीं कहा। तुम्हारी इज्जत जायेगी तो क्या मेरीबची रह सकती है?''[51] यह पूरा प्रकरण पितृसत्ता के उस स्वरूप से परिचय करवाता है जहाँ सारे कुकर्म, घृणित कार्य पुरुष करता है परन्तु परिवार के सम्मान की रक्षा का भार स्त्री के कंधों पर डाल दिया जाता है। सेठानी कासेठ के ऊपर आर्थिक निर्भरता तथा परिवार के सम्मान की रक्षा की विवशता ही सेठानी को किसी भी खुले तकरार से रोक देती है। इस पूरे प्रकरण में हम देखते हैं कि सेठ जहाँ एक तरफ दलित स्त्री रानी का शारीरिक शोषण करता है वहीं दूसरी तरफ अपनी पत्नी को भी मानसिक यंत्रणा देता है।

इस प्रकार पितृसत्ता तथा ब्राह्मणवाद का गठजोड़ और आर्थिक रूप से स्त्रियों की पराधीनता सेठ को उस सुरक्षित मुकाम तक पहुँचाते हैं जहाँ से वह दलित तथा गैर दलित दोनों ही स्त्रियों का शोषण करने में कामयाब होता है। इतना ही नहींसेठ द्वारा पत्नी को मनाने का प्रसंग भी स्त्री की विवशता ही दिखाता है। इतना अन्याय होने के बाद भी सेठानी सेठ के साथ वापस जाने के लिए तैयार हो जाती है। इतने बड़े प्रसंग को बगैर किसी मानसिक अंतर्द्वन्द्व के संक्षेप में विवरण दे देने से सेठानी का चरित्र कमजोर हो जाता है। उपन्यास में इन्दु का चरित्र भी संक्षिप्त रूप में ही आया है। इन्दु का प्रेम में दृढ़ विश्वास उसके 'फाख्ता और कबूतर' वाले उदाहरण में दिखायी देता है परन्तु उपन्यास की कथावस्तु को समेटने के चक्कर में घटनाओं के घटने की जल्दबाजी ने उसके चरित्र के विकास को प्रभावित किया है।

'करुणा' उपन्यास में गैर दलित स्त्री पात्र के रूप में करुणा का चरित्र दिखायी देता है। उपन्यास की संक्षिप्तता ने उपन्यास के चरित्रों को विकास का पूरा मौका नहीं दिया है। करुणा के संक्षिप्त चरित्र में ही हम देखते हैं कि उसके पास पर्याप्त बौद्धिक चिन्तन–मनन का गुण है तथा वह बौद्ध धर्म तथा हिन्दू धर्म की तुलनात्मक व्याख्या भी करती है। सौन्दर्य का उसका विश्लेषण अद्‌भुत है– ''सौन्दर्य के प्रति मानव का आकर्षण तो नैसर्गिक है। अपनी–अपनी मनोवृत्ति के अनुसार किसीको प्राकृतिक सौन्दर्य आकर्षित करता

है और किसी को शारीरिक सौन्दर्य आकर्षित करता है। पर शारीरिक सौन्दर्य भी तो प्रकृति द्वारा प्रदत्त है। उसे नष्ट कर दूँ पर यह तो पलायन है।''[52] हालाँकि अपने विचारों में वह भले ही पलायनवादी न हो परन्तु जीवन के यथार्थ से भागकर चीवर धारण करने का उसका निर्णय पलायनवादी ही दिखायी देता है। करुणा जीवन के कठोर दुखों, संघर्षों में, न तो रमेश का साथ देकर प्रेम की मर्यादा रख पाती है और न ही किसी दूसरे विकल्प की तलाश करती है जिससे उसका चरित्र यथार्थ की दुनिया से कटा हुआ प्रतीत होता है।

'दोहन' उपन्यास की कथावस्तु में वर्ण–जाति व्यवस्था का कोई जिक्र ही नहीं है; अतः इस उपन्यास में स्त्रियों के चरित्रों का जाति निर्धारण करना मुश्किल कार्य है। उपन्यासकार ने उपन्यास में बाह्य वातावरण को चित्रित करने पर इतना जोर दिया है कि चरित्रों के विकास पर उसका ध्यान ही नही गया है। उपन्यासकार ने दहेज जैसी समस्या को केन्द्रित करके उपन्यास लिखा है परन्तु उपन्यास में जिस तरह का सामाजिक–वातावरण दिखाया गया है उसमें एक बेटे के रहते हुए बेटी के दहेज के लिए पूरी सम्पत्ति को गिरवी रखना पूरी कथावस्तु को संदेहप्रद बना देता है। जमना जो कि उपन्यास की नायिका है कही भी दहेज के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं करती है जिससे उसका चरित्र कमजोर हो जाता है। जमना एक आदर्श बेटी तथा दयावान स्त्री के रूप में तो दिखायी देती है परन्तु प्रतिरोधी चेतना न होने के कारण उपन्यास में उसका चरित्र–चित्रण सतही हो जाता है।

उपन्यास 'छप्पर' में गैर दलित स्त्री के रूप में उपन्यास की नायिका रजनी है। रजनी गाँव के जमींदार ठाकुर साहब की इकलौती संतान है। उपन्यासकार ने रजनी की सुन्दरता का वर्णन इस प्रकार किया है– ''भरा–पूरा यौवन, सुन्दर–सुशील तथा नारी सुलभ गुणों से सम्पन्न थी रजनी। नाक–नक्श और शरीर का गठन ऐसा मिला था उसे कि कामदेव भी लज्जित हो जाएँ अपने आप पर। लम्बी–लम्बी पलकों से ढकी उसकी काली–काली आँखों में हिरनी जैसी चपलता हो न हो लेकिन गहराई बहुत थी उनमें, और वह भी

इतनी कि कोई एक बार उतर जाए उसकी इन आँखों में तो डूबे बिना हीं रह सकता था।''[53] रजनी के सौन्दर्य वर्णन में उपन्यासकार की पूरी भाषा छायावादी हो जाती है जिन प्रतीकों तथा मिथकों का उपयोग उपन्यासकार ने किया है वह भी पारम्परिक ही है। भाषा के स्तर पर, मिथकों के प्रयोग पर दलित उपन्यासकारों को ध्यान देना होगा। वैसे स्त्री सौन्दर्य की तुलना कामदेव से नहीं वरन् उसकी पत्नी रति से की जाती है जो कि हिन्दू धर्म का मिथक है।

हालाँकि कॉलेज से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के कारण रजनी जातीय भेदभाव का विरोध करती है। रजनी चन्दन तथा चन्दन के पिता सुक्खा के साथ की गयी ज्यादतियों का विरोध करती है। वह अपने पिता को समझाते हुए कहती है कि– ''संविधान के अनुसार देश के प्रत्येक नागरिक को सम्मान और स्वाभिमानपूर्वक जीने का हक़ है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वेच्छानुसार व्यवसाय चुनने और जीवन की दिशा निर्धारित करने की स्वतंत्रता है। यदि चन्दन पढ़–लिखकर कुछ काबिल बनना चाहता है तो यह उसका संवैधानिक हक है, इस पर किसी को एतराज क्यों होना चाहिए''[54] इस पूरे वक्तव्य की दो व्याख्या हो सकती है। आदर्श परिस्थितियों में किसी भी शिक्षित, आधुनिक व्यक्ति (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) को वर्ण–जाति असमानता का विरोध करना चाहिए। रजनी का पूरा व्यक्तित्व इस मामले में आधुनिक चेतना सम्पन्न दिखायी देता है। हालाँकि चन्दन के साथ बचपन में पढ़ते हुए उसके साथ उसका लगाव भी एक कारण हो सकता है। अब यदि यथार्थ परिस्थितियों पर निगाह डाले तो भारतीय शिक्षा ने पढ़ने वाले विद्यार्थियों के अन्दर से जातीय भेदभाव को उस तरीके से प्रभावित नहीं किया है। आज भी उच्च शिक्षा केन्द्रों में दलित छात्रों के साथ सवर्ण सहपाठियों का व्यवहार भेदभाव से युक्त ही होता है जिसकी गवाही दलित आत्मकथायें देती है। इस प्रकार रजनी का चरित्र–चित्रण आदर्शवादी ही ठहरता है। रजनी द्वारा अपने पिता के विचारों एवं कार्यों का बगैर किसी अन्तर्द्वन्द्व के विरोध करना तथा चन्दन के समानवादी आन्दोलन में हिस्सा लेना रजनी के चरित्र को आदर्श रूप में वैचारिक चेतना सम्पन्न तो दिखाता है परन्तु वह अयथार्थवादी हो जाता है।

उपन्यास 'मिट्टी की सौगंध' में गैर दलित स्त्री के रूप में दादी माँ का चरित्र सामने आता है। दादी माँ उपन्यास के नायक विजेन्द्र की दादी तथा गाँव के जमींदार मोहन सिंह की माँ है। हालांकि उपन्यास के कुछ ही प्रसंगों में दादी माँ का चित्रण हुआ है। दादी माँ का चरित्र ब्राह्मणवादी–सामन्तवादी सोच से भरी हुई स्त्री के प्रतीक के रूप में आता है। ब्राह्मणवादी–सामंतवादी विचारों ने उसकी चेतना को इस रूप में अधिग्रहीत कर लिया है कि वह अपने घर के पुरुषों द्वारा स्त्रियों के शोषण को परिवार की प्रतिष्ठा के रूप में देखती है। दादी माँ कहती है कि ''तू अपने बाप को भाई के खिलाफ भड़का रहा है.... अरे जमींदार का बेटा ऐय्याषी नहीं करेगा, तो क्या चाकरी करेगा।''[55] इस वक्तव्य की यदि व्याख्या की जाय तो हम कह सकते हैं कि दादी माँ ब्राह्मणवादी–सामन्ती सोच से इस कदर ग्रसित है कि श्रम करना उनके लिए हीनता का परिचायक बन गया है। पितृसत्ता ने सवर्ण नारी को इस कदर प्रभावित किया है कि वह स्त्री होकर भी दूसरी स्त्रियों की गरिमा की कद्र नहीं करती है। दादी माँ के चरित्र पर रजतरानी मीनू लिखती हैं कि ''उनका (दादी माँ) चरित्र एक स्त्री के रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ है, बल्कि सामन्ती विचारों से लैस नारी के रूप में वही दलित स्त्री के विरुद्ध ठाकुर पुरुष बनकर उपस्थित हुई हैं जो उनके पति–पुत्र या पिता है।''[56]

उपन्यास के कथा क्रम में आगे उनकी जातीय भेदभाव की सोच भी दिखायी देती है। विजेन्द्र का शीला के साथ विवाह करने के फैसले का विरोध मोहन सिंह तथा दादी माँ दोनों करते हैं। दादी माँ विजेन्द्र से कहती है कि– ''हमारा खानदान जमींदारों का है... हमारे खानदान के लड़के ऐय्याषी तो बड़े शौक से कर सकते है, लेकिन ऐय्याशी के लिए चुनी गयी लड़की या और जमींदार घराने की बहू नहीं बनायी जा सकती है। क्योंकि जो लोग हमारे जूते बनाते हों.... हमारे घरों की गंदगी साफ करते हों.... वे हमारे लिए अछूत है और एक अछूत हमारा रिश्तेदार कैसे बन सकता है।''[57] इस पूरे वक्तव्य से दादी माँ का वह जातिवादी चेहरा सामने आता है जिससे सवर्ण सामन्ती समाज दलितों के लिए तमाम छुआछूत का भेदभाव करते हैं परन्तु दलित स्त्रियों के

साथ अनाचार करने से उनकी पवित्रता नहीं जाती है। हालाँकि उपन्यासकार ने दादी माँ के चरित्र को गढ़ने में उन परिस्थितियों का जिक्र नहीं किया है जिसमें एक स्त्री (सवर्ण–सामन्ती) स्वयं ही दूसरे स्त्री समुदाय के लिए शोषक बन जाती है।

उपन्यास 'जस तस भई सवेर' में गैर दलित बस्ती के चरित्र में नायिका सुमेधा है। उपन्यास के नायक शिवदास के साथ कॉलेज में सुमेधा भी पढ़ती थी। उपन्यासकार ने सुमेधा की छवि को इस प्रकार वर्णित किया है–''उसकी सघन अलकयुक्त काली कुंचित दीर्घ चोटी उसके पृष्ठ भाग पर भुजंगनी की भाँति ऐसे लहराती थी मानो गीली वैंत के समान लचकदार कोमल कटि को अवलम्ब देते हुए उन्नतोदर शोभा विधायकों की चौकस सुरक्षा कर रही हो। कदली वृक्ष के नवीन पत्तों के समान उसका आभामय मुखमण्डल, अधखिले गुलाब की भाँति कमनीय अधर, हीरकावली सी उज्जवल दंत–पंक्ति, कुसुम की कोमलता का उपहास करते तनिक लालिमा युक्त कपोल, शुकप्रिय मैनावन्ती जैसी उन्नत नासिका, झील की गहराई एवं मनोहारी हलचल को पराजित करने वाली चंचल, मदासिक्त एवं आग्रही आँखों पर.... भापकर ही उन्हें कसकर बाँधा था।''[58] इस पूरे वक्तव्य को देखकर ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने सुमेधा के सौन्दर्यवर्णन में रीतिकालीन कवियों से होड़ लगा रखी हो। क्या यही श्रमण समाज का सौन्दर्य बोध है? इस पूरे वर्णन में कहीं से भी किसी चेतना सम्पन्न दलित लेखक का सौंदर्यबोध नहीं दिखाई देता है।

आगे की कथावस्तु में शिवदास और सुमेधा एक–दूसरे से प्रेम करने लगते है। एक सवर्ण स्त्री का किसी दलित पुरुष से प्रेम निश्चय ही उसकी प्रगतिशील चेतना को दर्शाता है परन्तु प्रेम के दौरान उसकी पारम्परिक विचारों की स्त्री के रूप में ही छवि उभरती है। इसका उदाहरण हम उपन्यास में वर्णित इस प्रसंग में देख सकते हैं– ''इस बीच सुमेधा बाहर से आने पर बाहुपाश में लेने के बजाय उसके चरण–स्पर्श न जाने क्यों करने लगी। वह अज्ञानी इसका कोई अर्थ न समझा सका। शिवदास सोचता था कि वह शोधकार्य में मदद करने के कारण उसका सम्मान करने लगी थी।''[59] इस पूरे

वक्तव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि सुमेधा शिवदास को पति मानकर उसके पैर छू रही है। पति के पैर छूने जैसी प्रथा का विरोध दलित चिन्तन भी करता है और स्त्री चिन्तन भी। ऐसी प्रथाओं और परम्पराओं से पति को पत्नी से ऊँचा दर्जा देने जैसे विचारों की पुष्टि होती है। इसके आगे की पंक्तियों में यदि सुमेधा शिवदास का ज्ञान देने के कारण भी पैर छू रही हो तो भी यह बात गलत ही होगी। अध्यापक की श्रेष्ठता बगैर विद्यार्थी के पैर छूने से भी स्थापित होती है तथा इससे गुरु को ब्रह्म का दर्जा देने जैसे विचारों की पुष्टि होती है। इसी प्रकार विवाह से पूर्व सुमेधा का अपने रिश्तेदारों से बगावत करके शिवदास से शारीरिक सम्बन्ध बनाने की प्रक्रिया भी सेक्स को एक पवित्र कार्य की ही तरह स्थापित करता है।बाह्मणवादी पितृसत्ता ने 'सेक्स' को पवित्र घोषित करके ही स्त्रियों पर यौनिक नियंत्रण रखा हैतथा इसी के माध्यम से स्त्री को अबतक पति के स्वतंत्र चुनाव से वंचित रखा है; जिसके परिणामस्वरूप न केवल स्त्रियों पर पितृसत्ता का शिकंजा कसता है बल्कि जाति प्रथा भी मजबूत होती है। इन्हीं विचारों के कारण सुमेधा की छवि उपन्यास में पारम्परिक बन कर ही रह जाती है।

उपन्यास 'मुक्तिपर्व' की नायिका सुमित्रा गैर दलित समाज से है। उसका परिवार आर्य समाजी है इसलिए वे जातीय भेदभाव में विश्वास नहीं करते। सुमित्रा ऐसे परिवार में पली–बढ़ी, इसलिए उसमें सुधारवादी सोच विकसित हुई है। इसके अतिरिक्त सुमित्रा में सुधारवादी भावना विकसित होने का कारण उपन्यासकार ने इस प्रकार दिया है– ''चंदा मामा से लेकर चंपक तक में प्रकाशित कहानियाँ। ढेर सारी कहानियाँ पढ़ी थी उसने। कहानियाँ पढ़–पढ़कर वह बड़ी हुई थी या कहा जाए कि कहानियों ने उसे बालिग बना दिया था। खूब सारे कहानियों के चरित्र उसके भीतर आकर बैठ गए थे। और वह उन चरित्रों में ढलती गयी थी। उसके भीतर सुधारवादी सोच यहीं से पैदा हुई थी। जातीय आधार पर विषमताओं के घने जंगल को काटने की इच्छा शक्ति भी आई थी।''[60] उपन्यासकार ने जिस प्रगतिशील चेतना को सुमेधा में दिखाया है उसके निमित्त दलित साहित्य के पैमाने पर दोनों ही अवधारणाएँ

ऐसी चेतना को विकसित कराने में नाकाफी प्रतीत होती है। ऐसा एक भी उदाहरण देने में आर्य समाज नाकाम रहा है जिसमें किसी व्यक्ति का वर्ण बदला है। स्वामी अछूतानंद हरिहर के लेखन एवं अनुभव ने इस बात को साबित किया है। दूसरी तरफ इन्हीं कहानियों–कथाओं को पढ़कर पूरा हिन्दी समाज जवां हुआ है परन्तु आज तक सवर्ण समाज के लड़के–लड़कियों में ऐसा कोई परिवर्तन दिखायी नहीं देता है। तो क्या हम मान ले कि ऐसा विशेष प्रभाव सिर्फ सुमित्रा जैसी लड़कियों पर ही होता है। सुमित्रा की प्रगतिशील चेतना के पीछे दिये गये दोनों ही तर्क भोथरे साबित होते हैं इसलिए उपन्यास में आया उसका पूरा चरित्र ही यथार्थ की दुनिया से कटा हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार समुेधा के विवाह पर माँ–बाप की बगैर किसी हिज्जे–हवाले की सहमति भी दुनियावी प्रतीत नहीं होती है।

उपन्यास 'आज बाजार बंद है' में गैरदलित समाज की कई स्त्रियों का वर्णन आता है। चूँकि सभी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करती है, पूरे भारतीय समाज ने उनका उत्पीड़न किया है इसलिए उनमें आपस में बहनापा और प्रेमभाव भी है। उपन्यास में शबमन बाई का चरित्र सबसे ज्यादा विस्तार पाया है। वह पूरे उपन्यास में एक संवेदनशील स्त्री के रूप में उभर कर आती है। उसके कोठे पर लाई गयी नई लड़की को देखकर उसे अपना बीता हुआ कल याद आता है और उससे सीख लेकर वह लड़की को भाग जाने की सलाह देती है। लड़की को भगा देने में शबनम बाई का मुक्तिकामी चेतना से युक्त चरित्र दिखायी देता है। उपन्यास में यह प्रसंग इस प्रकार आता है– ''मुक्त वह भी हुई थी अपने–आप से। दो दिनों से उसके द्वन्द्व उसे भीतर से खाये जा रहे थे। स्वयं मुक्त भले न हुई, पर दूसरे को पिंजरे में कैद रखने का क्या अधिकार है उसे? माँ न सही, पर कुटनी भी नहीं बनना चाहती थी वह। मुक्ति के गीत उसके भीतर भी उभरने लगे थे।''[61] इस पूरे प्रकरण से शबनम बाई के चरित्र का वो पहलू सामने आता है जिसमें उत्पीड़ित समुदायों को सीख लेने की आवश्यकता है। जिस नारकीय जीवन को शबनम बाई ने भोगा है, उस नर्क में किसी और स्त्री को फंसते हुए देखकर वह व्यथित होती है तथा उसे

मुक्त होने में सहयोग करती है। उपन्यास के नायक सुमित के जेल में बन्द होने पर शबनम बाई प्रतिरोधी चेतना से लैस होकर पूरे वेश्या समूह के साथ इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करती है। इसी प्रकार उपन्यास में फूलो, हसीना, मुमताज, सुनहरी का भी चरित्र सामने आता है जिससे यह यथार्थ सामने आता है कि उनका जीवन कितना नारकीय एवं समस्याप्रद है। फूलो जहाँ अपने बेटे के स्कूल में दाखिले को लेकर परेशान है वहीं सुनहरी अपने अन्तिम दिनों में अथाह गरीबी से जूझ रही है। उपन्यासकार ने चरित्रों का यदि स्वभाविक विकास किया होता तो ये सारे चरित्र अविस्मरणीय पात्र के रूप में उभरकर सामने आते; परन्तु वर्णनात्मकता का अधिक्य होने के कारण इन चरित्रों का स्वभाविक द्वन्द्व सामने नहीं आ पाता है इसी कारण उपन्यास में ये पात्र कमजोर हो गये हैं।

उपन्यास मुक्तिपथ में गैर दलित समाज की ही स्त्रियों का मुख्य रूप से चित्रण हुआ है। उपन्यास की नायिका मधु आधुनिक तथा आजाद ख्याल की युवती है। उपन्यास के नायक विजय की नजरों से देखें तो 'छोटे–छोटे बाल, अधनंगा तन, बात करने के ढंग से चंचलता–चपलता वाली मधु की छवि उभरती है। विजय के एकाकी रहने की आदत के कारण मधु उत्सुकतावश उससे परिचित होती है। इसी परिचय के क्रम में मधु का सामना 'भारत' के ग्रामीण इलाकों के यथार्थ से होता है जहाँ गरीबी, जहालत अशिक्षा, जातीय भेदभाव जैसी समस्याएँ मौजूद हैं। दरअसल, मधु उस 'इंडिया' की स्त्री है जहाँ भारत की इन समस्याओं पर बातचीत भी मुनासिब नहीं समझी जाती है। उस समाज में 'इण्डिया शाइनिंग' जैसे नारों के पीछे भारत के कठोर यथार्थ को छुपा दिया जाता है। मधु जैसे–जैसे इन समस्याओं से रूबरू होती है वैसे–वैसे उसकी समझ भी विकसित होती है। विजय और फन्ने सिंह की पिटाई के बाद उसके मन में भारतीय समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना दिखायी देती है। वह सोचती है कि– ''भारत की स्वतंत्रता के बीस–बाइस साल बाद भी गाँव के समाज में सामंतवाद, जातिवाद और दकियानूसी प्रथाओं का बोलबाला क्यों हैं? गरीब किसानों एवं दलितों की हालत इतनी दयनीय क्यों है?

सामाजिक पहलुओं को लेकर यानी बाल–विवाह और दहेज–प्रथा आदि को लेकर देश के कानून इतने नपुंसक क्यों है?''[62] इन्हीं सवालों ने उसको सामाजिक न्याय की लड़ाई में हिस्सा लेने के लिए प्रतिबद्ध कर दिया। उसकी विद्रोही चेतना ने पिता तथा अन्यायी समाज के विरुद्ध विद्रोह कर दिया परंतु मधु की सहेली मोना में प्रतिरोधी चेतना विकसित न होने के कारण उसका सफर उसे कॉलगर्ल बना देता है। मोना स्त्री समाज की उन स्त्रियों की प्रतीक बनकर उभरती है जो पुरुषों द्वारा बनाये गये बाज़ार के जाल में फँस जाती है। बाजार के इशारों पर ही उसके जीवन के फासले तय होने लगते हैं। अपनी ऐय्याशियों एवं अनन्त इच्छाओं के कारण बढ़ती हुई धन लिप्सा उसे बाजार में सेक्स की कठपुतली बना देती है।

उपन्यास में आयी 'किरण' का चरित्र चित्रण उन लाखों घरेलू महिलाओं का प्रतिनिधित्व करता है जो आर्थिक रूप से पति पर निर्भर होती है। किरण आर्थिक रूप से स्वतंत्र न होने के कारण अपने पति की मनमानियों एवं अत्याचारों का प्रतिरोध नहीं कर पाती है। किरण की पति पर निर्भरता ही, उसे पति की गलतियों के लिए अपना मान–सम्मान छोड़कर विजय से माफी माँगने के लिए बाध्य करती है। वह माफी माँगने के क्रम में ही वह विजय से कहती है– ''भैया! मैं तो अपने परिवार को बचाना चाहती हूँ। सुरजीत के उपर ही निर्भर है ना सारा परिवार! उसी की कमाई से चलता है। हमारा घर।''[63] किरण के इस वक्तव्य से कई निहितार्थ निकलते है। भारतीय समाज में लड़के–लड़कियों में भेदभाव करने की परम्परा सदियों चली आ रही है जिसके पीछे सामजिक–धार्मिक पाबंदियाँ भी रही हैं, जो स्त्रियों पर धार्मिक कानूनों के माध्यम से थोपी गयी थी। परिवारों में स्त्रियों का कहीं पर नौकरी करना सामाजिक रूतबे के हिसाब से तय होता रहा है; यही सामाजिक रूतबे की अवधारणा किरण जैसी अनगिनत स्त्रियों को श्रम क्षेत्र से बाहर कर देती है तथा गुजर–बसर के लिए पति पर निर्भर कर देती हैं। इस प्रकार समाज में पति पर खतरे का अर्थ परिवार के खतरे के रूप में बदल जाता है। उपन्यास में रेखा का चरित्र संक्षेप में आया है। नफे सिंह रेखा को ट्यूशन पढ़ाता है और

रेखा उससे प्रेम करने लगती है। रेखा प्रेम में जाति–पांति नहीं मानती है। वह कहती है कि ''मैं नहीं मानती इस छुआछूत को, जाति–पांति को। आखिर हम नए भारत की नई पीढ़ी हैं। कब तक इन दकियानूसी बातों को मानते रहेंगे?''[64] रेखा के यही विद्रोही विचार भविष्य की रूपरेखा तय करेंगे। हालाँकि उपन्यास में उसकी वैचारिकी से सम्बन्धित प्रसंग नहीं आये है; विभिन्न घटनाओं के विवरण से पता चलता है कि रेखा के अन्तर्जातीय प्रेम के कारण उसके माँ–पिताजी उसे घर में बन्द कर देते हैं। रेखा के इस प्रसंग के माध्यम से हम समझ सकते हैं कि आधुनिक भारत में नई पीढ़ी जब जातीय पहचान से ऊपर उठना चाहती है तो उनके राह की सबसे बड़ी बाधा माता–पिता एवं परिवार बन जाता हैं।

उपन्यास 'मिस रमिया' में गैरदलित समाज की स्त्री के रूप में श्यामली तथा मधु का चरित्र चित्रण मुख्य है। श्यामली उपन्यास की नायिका रमिया की बचपन की सहेली है। उनकी दोस्ती के सम्बन्ध में अनिता भारती कहती हैं कि ''यह दोस्ती सतही दोस्ती नहीं है। यह दोस्ती दो जातियों एवं दो वर्गों की है। दलित और पिछड़े वर्ग की है।''[65] श्यामली का चरित्र वैचारिक चेतना से सम्पन्न है तथा वह जातीय भेदभाव को नहीं मानती है। बैजू की सवर्ण लड़कों द्वारा पिटाई पर ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहती है कि– ''वैदिक युग का वर्णन देखो इन लोगों ने क्या नहीं खाया? अपने को सब दिन चतुर समझा।.....अरे पाखंडियों, एक दिन मानव में मानवता का जागरण होगा और गले में घंटिया बाँधना कान में रागा पिघलाकर भर देना, जीभ काट देना, का बदला एक–एक कर चुकाया जाएगा।''[66] उपन्यास में चरित्रों के स्वभाविक विकास का पैमाना अपनाकर देखे तो श्यामली जो कि हाईस्कूल की छात्रा है, के मुँह से इस तरह का विचार अस्वाभाविक लगता है। इसी प्रकार बैजू से प्रेम करने के बावजूद घरवालों द्वारा तय किये गये लड़के से शादी करना उसके पूरे चरित्र–चित्रण को विरोधाभासी बना देता है। बचपन से जिन विद्रोही विचारों के साथ उपन्यास में उसका पर्दापण होता है, विवाह में उसकी सहमति, उसकी विद्रोही चेतना के प्रतिकूल दिखायी देती है।

उपन्यास में आया मधु का चरित्र पूरी तरह सवर्ण मानसिकता से युक्त है। अपनी जातीय श्रेष्ठता के घमंड में मधु रमिया से कहती है कि– ''चाहे जितना पढ़ लो, जान लो आखिर हम तुमसे ऊँची जाति के है।''[67] भारतीय समाज की यही तल्ख हक़ीकत है। दलित समाज के लोग चाहे जितने योग्य हो परन्तु सवर्ण समाज के जातीय पैमाने पर उनकी योग्यता की कोई कीमत नही रह जाती है। मधु रमिया से कम पढ़ी–लिखी है, उसे बच्चों को ढंग पढ़ाना भी नहीं आता परन्तु जातीय श्रेष्ठता के कारण वह स्कूल की प्रिंसिपल बन जाती है। मधु अपने ससुर के साथ मिलकर अन्य शिक्षिकाओं का भी शोषण करती है। इस प्रकार यदि हम मधु के चरित्र का विश्लेषण करें तोहम कह सकते हैं कि वह उन स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जिन्हें ब्राह्मणवादी–सामन्ती व्यवस्था ने न केवल दलित समुदाय के विरुद्ध बल्कि स्त्री समुदाय के भी विरुद्ध कर दिया है।

'थमेगा नहीं विद्रोह' में गैर दलित स्त्री के रूप में मुख्यतः खाला का चरित्र नजर आता है। खाला अपने मजहब से इतर हिन्दु व्यक्ति से प्रेम करती है। परिवार–खानदान के मान–सम्मान एवं धर्म के नाम पर खाला को उससे विवाह नहीं करने दिया जाता है। अपने जीवन के 25 साल खाला प्रेमी के वियोग में बिता देती है परन्तु न उसने दूसरा विवाह किया और न ही अपने प्रेमी से मिलने की कोशिश की। खाला का प्रेमी बाद में फकीर बनकर खाला के गाँव में आकर मर जाता है। उपन्यास के इस प्रसंग में खाला ईश्वर से भी सवाल करती नजर आती है। उपन्यास में आये खाला के चरित्र से हम समझ सकते हैं कि दुनिया के लगभग सारे धर्मों ने ही स्त्रियों के साथ अन्याय किया है। वही खाला जिसे धर्म ने जन्नत तथा जहन्नुम जैसी अवधारणाओं से जिंदगी भर डराया, खाला दिन भर जन्नत–जन्नत रटती है परन्तु उसके बारे में उसे कुछ स्पष्ट पता नहीं है। खाला स्त्रियों की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं जो घर, परिवार के सामने अपने फैसलों के लिए विद्राहे नहीं करती हैं। फकीर की मृत्यु पर खाला विक्षिप्त अवस्था में बड़ा ही मार्मिक सवाल करती है– ''भाभी जब जिंदा था तब तक परिवार, कुनबा, मजहब के सम्मान की रक्षा में

होठ सी लिये थे, अब जब वह खाक़ में जा मिला है तो क्या अब भी कुनबा के सम्मान को खतरा है?''[68] खाला की पीढ़ी के ही यही सवाल भविष्य की उस स्त्री चेतना को जन्म देते है जिसने स्त्रियों को सम्मान, प्रतिष्ठा जैसे भावों के विरुद्ध विद्रोह करना सिखाया।

'उधर के लोग' में गैर दलित स्त्री के रूप में नायिका की पहली पत्नी वन्दना तथा आयशा का चरित्र आया है। उपन्यास में वन्दना का चरित्र चित्रण नायक की प्रेमिका तथा पहली पत्नी के रूप में हुआ है। नायक और वन्दना दोनों कॉलेज में एक दूसरे से प्रेम करते है। वन्दना के चरित्र–चित्रण पर सवाल उठाती हुई रजनी दिसोदिया लिखती है कि– ''जैसे उपन्यास कहता है कि प्रेम के लिए नायक को वन्दना ने स्वयं चुना था। नायक बेचारा तो इस चक्कर में पड़ना ही नहीं चाहता था। दूसरा नायक के घर में वन्दना के एडजस्ट ना कर पाने में भी वन्दना का प्रेमजन्य अहंकार ही कारण के रूप में मौजूद दिखाया गया है। लेखक ने वन्दना के चरित्र को जानबूझकर ऐसा चित्रित किया है? कि जिससे नायक बेकसूर सिद्ध किया जा सके।''[69] रजनी दिसोदिया का सवाल उपन्यास में आये उन प्रसंगों को लेकर है जहाँ नायक वन्दना का चारित्रिक विश्लेषण करने की कोशिश करता है। वन्दना ने दंगे में तो चाकू वाले लड़के को पैर से मारकर गजब की जीवटता का परिचय दिया था। शादी के बाद नायक वन्दना के जिस सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नता को दिखाने की कोशिश करता है या उसका प्रेम में आग्रही का जो स्वरूप उभरता है क्या उसने विवाह से पूर्व इन बिन्दुओं को ध्यान में नहीं रखा था। प्रेम में आग्रह की कीमत भीवन्दना ही आत्महत्या करके चुकाती है।

उपन्यास में आयशा एक कॉलगर्ल की भूमिका से प्रवेश करती है। आयशा अपनी माँ की अवैध सन्तान है जिसका दर्द उसके इस कथन से झलकता है– ''जो मेरे पिता है, उन्हें मैं पिता नहीं कह सकती और जिन्हें कहती थी, उन्हें किस मुँह से कहूँ? क्या मुझे कोई कानून असली पिता का नाम दिला सकता है, वकील साहब। वह हँसी थी, व्यंग्य से यह एक कराहती हँसी थी।''[70] आयशा पढ़ी–लिखी है तथा नौकरी के दौरान ही दबाव डालकर

उसका शारीरिक शोषण किया गया था। आयशा का चरित्र उन आधुनिक स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने साथ किए गये शोषण का प्रतिरोध न करके शोषण को ही नियति मान लेती है। आयशा ने प्रतिरोध न करके व्यवस्था को ऐसे शोषणकारी कार्य करने में बढ़ावा ही दिया है। हालाँकि आयशा का नायक के घर शादी में सम्मिलित होने पर उसके चरित्र के कुछ संवेदनशील पहलू भी दिखायी देते हैं। इस प्रकार उपन्यास में आयी गैर दलित स्त्रियों का चरित्र का विभिन्न प्रसंगों में स्वाभाविक विकास हुआ है।

'ग़दर जारी रहेगा' उपन्यास में गैरदलित स्त्रियों के रूप में आदिवासी स्त्री अलिवेल्लमा तथा उसकी बेटी शीतल का चरित्र चित्रण हुआ है। उपन्यासकार आदिवासी जीवन में शोषण एवं विस्थापन की समस्या को दिखाने में इतना मसरूफ रहा है कि उपन्यास में चरित्रों का विकास अस्वाभाविक हो जाता है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही अलिवेल्लमा का बलात्कार हो जाता है। बलात्कार की भयावहता दिखाने के चक्कर में उपन्यासकार बन्दर के द्वारा भी बलात्कार का प्रसंग ले आता है। इस तरह की घटनाएँ न केवल उपन्यास की कथावस्तु को अस्वाभाविक करती है वरन् उपन्यासकार की कुत्सित मानसिकता का भी आभास करवाती है। इसी प्रकार अलिवेल्लमा का नक्सलवादी संगठन में सम्मिलित होना तथा पति की हत्या करना, व्यवस्था के खिलाफ हथियाबन्द आन्दोलन करना, उसके चरित्र को अस्वभाविक कर देता है। शीतल का थाने में सामूहिक बलात्कार हो जाता है तथा इस घटना के बाद वह भी नक्सल संगठन में सम्मिलित हो जाती है। शीतल का पति नारायणराव पुलिस द्वारा मुठभेड़ में मारा जाता है। उपन्यासकार ने बाद के प्रसंग में शीतल का जिस तरह घोड़े पर सवार होकर थाने पर हमला करना दिखाया गया है वह शीतल के चरित्र को यथार्थ के धरातल से परे कर देता है। इन दोनों ही चरित्रों से आदिवासी स्त्रियों की कोई यथार्थवादी तस्वीर नहीं उभरती है।

'ज़ख़्म हमारे' उपन्यास में गैर दलित स्त्री के रूप में मुख्य चरित्र सादिया हैदर का है। भारतीय मुख्यधारा समाज से दलित और अल्पसंख्यक दोनों ही समुदाय उत्पीड़ित रहे हैं। सादिया अपने पिता के साथ रहती है।

सादिया की माँ तथा भाई की बाबरी विध्वंस दंगे में हत्या कर दी गयी थी। सादिया का भी साम्प्रदायिकता के कारण कुछ लोग बलात्कार करने की कोशिश करते हैं परन्तु उपन्यास का नायक राजू परमार उसे बचा लेता है। बाद के प्रसंगों में पता चलता है कि वे दोनों सहपाठी है। उपन्यासकार ने सादिया के चरित्र के माध्यम से उन मुस्लिम स्त्रियों के दर्द और समस्याओं को दिखाने की कोशिश की है जिन्हें गुजरात की साम्प्रदायिकता का सामना करना पड़ा। साम्प्रदायिक माहौल ने उनके मन–मस्तिष्क को इस कदर डरा दिया है कि वह नींद में भी खून–खराबों का स्वप्न देखती है। सादिया के अब्बा की भी दंगों में हत्या हो जाती है तथा वह पड़ोसी घर में छुपकर अपनी जान बचाती है। इस प्रकार सादिया उन लाखों मजलूम मुस्लिम महिलाओं की प्रतीक बन जाती है जिन्होंने साम्प्रदायिक दंगों में अपना घर–परिवार ही नहीं वरन् सर्वस्व खो दिया। उपन्यास में वर्णनात्मक तथा पत्रकारीय शैली के प्रभाव के कारण सादिया का चरित्र पर्याप्त विकसित नहीं हो पाया है।

'सुबह के लिए' उपन्यास में मुख्यतः सोनी एवं प्रियंका गैर दलित स्त्री पात्र के रूप में आयी हैं। सोनी, गाँव के जमींदार बलदेव सिंह की पत्नी है। शादी के बाद बच्चा न पैदा होने के कारण ससुराल में सोनी का उत्पीड़न होता है। सोनी का दर्द इस वक्तव्य में उभरकर आता है– ''जैसे स्त्री मनुष्य नहीं–गाय–भैंस हो गई। जिस तरह खूंटे पर बंधी बांझ, बिना दूध की गाय, भैंस सबके लिए नफरत की पात्र होती है। सभी यह चाहते हैं कि इससे किसी भी तरह जितनी जल्द हो सके पिंड छूटे, चाहे कोई कसाई ले जाए–वैसा हाल मेरा हो गया है।''[71] सोनी कीवेदना, उसका डर उन लाखों स्त्रियों का बन जाता है जो बांझ समस्या से जूझ रही है। हालाँकि बाद में पता चलता है कि समस्या सोनी में नहीं बल्कि उसके पति में है। पितृसत्ता का ही यह प्रभाव है कि पूरा भारतीय समाज पहले ही मान लेता है कि कमी तो बहू या पत्नी में ही है। सोनी परिस्थितियों से समझौता करके अपने घर के दलित नौकर से सम्बन्ध स्थापित करती है। पूरे उपन्यास में सोनी का चरित्र एक संवेदनशील महिला के रूप में हुआ है। प्रियंका का जिक्र उपन्यास में विक्रम की सहपाठी

के रूप में होता है जो विक्रम से प्रेम करती है। प्रियंका का चरित्र–चित्रण संक्षिप्त रूपमें ही उपन्यास में आया है जिससे उसका चारित्रिक विकास सतही एवं सूचनात्मक होकर रह गया है। उपन्यास में प्रियंका के चरित्र में कुछ अन्तर्विरोध भी दिखायी देते हैं। प्रियंका विक्रम से कहती है कि– ''इतना पढ़ने के बाद भी तुम नीची जाति के रह गये। मैं नीच–ऊँच मानती ही नहीं। जब तुम अपनी बिरादरी वाला काम ही नहीं करते तो कैसे तुम उस जाति के रह गये।''[72]प्रियंका के इस वक्तव्य की यदि व्याख्या की जाय तो क्या विक्रम के घर–परिवार में जो बिरादरी का अर्थात् सफाई का कार्य करते हैं, उनसे उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा। क्या ऐसी स्त्रियाँ उत्पीड़न मुक्त समाज के निर्माण में कोई योगदान देंगी।

इस प्रकार पूरे उपन्यासों में गैर दलित स्त्रियों की संक्षिप्त भूमिका दिखायी देती है जो गैर दलित स्त्रियाँ उपन्यासों में नायिका के रूप में स्थापित की गयी हैं, उनके भी चेतना सम्पन्न होने के पीछे लेखकों ने ठोस घटनायें या प्रसंग उपन्यास में नहीं दिये है। जिसके कारण उनका चरित्र यथार्थवादी नहीं रह जाता है। ऐसे स्त्री किरदारों को हम 'सारा लोहा उनका अपनी केवल धार' जैसी पंक्ति से समझ सकते हैं। दलित उपन्यासकारों ने जिन रूपों में उच्च वर्ण जाति के स्त्री किरदारों को गढ़ा है उससे यह मुद्दा बनता है कि वर्ण–जाति व्यवस्था की मार दलित स्त्रियाँ सहती हैं। उनका अंत तक शोषण होता रहता है परंतु उनमें चेतना नहीं आती। वहीं उपन्यासों में निहित सवर्ण समाज की नायिकाएँ बगैर किसी हिज्जे–हवाले के चेतनशील हो जाती हैं। हालाँकि उपन्यास में आए ऐसे चरित्र अंतर्जातीय विवाह को केन्द्र में रखकर लिखे गए हैं; परंतु इनके पीछे ठोस घटनाओं को प्रस्तुत करने की कमी रचनात्मकता को महज नारेबाजी में तब्दील कर देती हैं। अब समय आ गया है कि दलित उपन्यासों में चेतनशील स्त्री के चरित्रों को प्रस्तुत किया जाए।

संदर्भ

[1] वोउवार द सीमोन, स्त्रीः उपेक्षिता, सीमोन द वोउवार, अनु. डॉ. प्रभा खेतान, हिन्द पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, नवीन सं. 2002, पृष्ठ 19

[2] विजयश्री प्रियदर्शिनी, देवदासी या धार्मिक वेश्या? एक पुनर्विचार, अनु. विजय कुमार झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2010, पृष्ठ 15

[3] वही, पृष्ठ 16

[4] थोराट विमल, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्र. लि.) नई दिल्ली, सं. 2010, पृष्ठ 63

[5] सेठ कैलाशचन्द्र, नैमिशराय मोहनदास (सं.), बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड–7, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सातवां सं. 2013, पृष्ठ 331,323, 333

[6] नरके हरि (सं.), महात्मा फुलेः साहित्य और विचार, महात्मा फुले चरित्र साधने प्रकाशन समिती, मुम्बई, प्र.सं, 1993, पृष्ठ 26

[7] भारती अनिता, समकालीन नारीवादी और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रं.सं. 2013, पृष्ठ 173

[8] अम्बेडकर डॉ. भीमराव, मूक नायक, अनु. तथा सं. श्यौराज सिंह बेचैन, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, सं. 2016, पृष्ठ 110

[9] वही, पृष्ठ 69

[10] प्र. स्त्रोत., कीर धनंजय, डॉ. अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन
द्वितीय स्त्रोत, भारती अनिता, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 257

[11] वही, पृष्ठ 261

[12] चन्दन संजीव (सं.), दलित स्त्रीवाद, द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, दिल्ली प्र.सं. 2017, पृष्ठ 50

[13] भारती अनिता, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 2013, पृष्ठ 258

[14] चन्दन संजीव (सं.), दलित स्त्रीवाद, द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र.सं. 2017, पृष्ठ 133

[15] भारती अनिता, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्राी का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 259

[16] प्रा. स्त्रोतः पवार उर्मिला, आम्ही इतिहास घड़वला
द्वितीय स्त्रोतः भारती अनिता, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 263

[17] वही, पृष्ठ 285

[18] चन्दन संजीव (सं.), दलित स्त्रीवाद, द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र.सं. 2017, पृष्ठ 139

[19] टाकभौरे सुशीला, हाशिए का विमर्श, शिल्यापन, दिल्ली, सं. 2015, पृष्ठ 99

[20] भारती अनिता, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 2001, पृष्ठ 150

[21] कर्दम डॉ. जयप्रकाशन (सं.), दलित साहित्य (वार्षिकी) 2013, पृष्ठ 65

[22] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010 पृष्ठ 134

[23] कर्दम जयप्रकाश, करुणा, कंचन प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पुष्ठ 8

[24] वही, पृष्ठ 23

[25] कर्दम जय प्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृष्ठ 35

[26] सिंह डॉ. तेज, आज का दलित साहित्य, आतिश प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 74

[27] भारती अनिता, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिराध, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 275

[28] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010 पृष्ठ 79

[29] नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 16

[30] वही, पृष्ठ 105
[31] नैमिशराय मोहनदास, आज बाज़ार बंद है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004, पृष्ठ 33
[32] वही, पृष्ठ 92
[33] वही, पृष्ठ 96
[34] वही, पृष्ठ 80
[35] मौर्य अभय, मुक्ति–पथ, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. 2007, पृष्ठ 21
[36] कावेरी, मिस रमिया, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) प्र.सं. 2007, पृष्ठ 21
[37] जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृष्ठ 99
[38] वही, पृष्ठ 102
[39] सिहं तेज (सं.), अपेक्षा, जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 24
[40] जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृष्ठ 115
[41] वही, पृष्ठ 215
[42] वही, पृष्ठ 171
[43] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010, सं. तेज सिंह, पृष्ठ 23
[44] वही
[45] नावरिया अजय, उधर के लोग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ 24
[46] वही, पृष्ठ 30
[47] सिंह तेज (सं.) अपेक्षा जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 69
[48] चौहान कैलाश चन्द, सुबह के लिए, आरोही प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2011, पृष्ठ 51
[49] चौहान कैलाश चन्द भंवर, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 9
[50] वही, पृष्ठ 117
[51] सेन देवीदयाल, मानव की परख, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1954, पृष्ठ 150
[52] कर्दम जयप्रकाश, करुणा, कंचन प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 38
[53] कर्दम जयप्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. 2012, पृष्ठ 63
[54] वही, पृष्ठ 64
[55] कपाड़िया प्रेम, मिट्टी की सौंगध, इंडियन सोशन इंस्टीट्यूट, दिल्ली, 1995, पृष्ठ 11
[56] मीनू डॉ. रजतरानी, हिन्दी दलित कथा साहित्यः अवधारणाएँ एवं विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, प्र.सं. 2014, पृष्ठ 188
[57] कपाड़िया प्रेम, मिट्टी की सौगंध, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, दिल्ली, 1995, पृष्ठ 43
[58] वही, पृष्ठ 40
[59] वही, पृष्ठ 58
[60] नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 2002, पृष्ठ 115
[61] नैमिशराय मोहनदास, आज बाज़ार बंद है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रं.सं. 2004, पृष्ठ 68
[62] मौर्य अभय, मुक्तिपथ, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. 2007, पृष्ठ 141
[63] वही, पृष्ठ 168
[64] वही, पृष्ठ 178
[65] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 40
[66] कावेरी, मिस रमिया, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.), पृष्ठ 15
[67] वही, पृष्ठ 78
[68] जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिली, प्र.सं. 2008, पृष्ठ 47
[69] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा, जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 69
[70] नावरिया अजय, उधर के लोग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृष्ठ 21
[71] चौहान कैलाश चन्द, सुबह के लिए, आरोही, नई दिल्ली, प्र.सं. 2011, पृष्ठ 14
[72] वही, पृष्ठ 111

पंचम अध्याय

हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : दलित संस्कृति का बदलता स्वरूप

हिन्दी साहित्य लेखन में भारतीय संस्कृति पर काफी बहस हुई है। विभिन्न साहित्यकारों ने संस्कृति के मुद्दे पर रचनात्मक, आलोचनात्मक लेखन किया है परन्तु जब सामान्य पाठक या व्यक्ति संस्कृति पर बात करता है तो ऐसा लगता है कि जैसे संस्कृति कोई दुनियावी चीजों से उपर की अमूर्त वस्तु है। संस्कृति समाज से ही उपजी हुई संरचना है। किसी भी समाज का रहन–सहन, रीति–रिवाज, खान–पान, उसका विश्वास–अविश्वास यह सभी ही संस्कृति के अंग है। ई. बी. टायलर ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''संस्कृति एक ऐसा जटिल समग्र है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, प्रथा तथा समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा अर्जित अन्य दूसरी समर्थताएँ सम्मिलित हैं।''[1] हालांकि व्यक्ति को समाज से सिर्फ समर्थताएँ ही नहीं मिलती वरन् कभी–कभी व्यक्ति को किसी समुदाय में जन्म लेने के कारण 'असमर्थताओं का भी सामना करना पड़ता है। इस पूरी परिभाषा में समाज को एकसार मानने की कमी दिखायी देती है। संस्कृति को एक अन्य विद्वान मैकाइवर ने परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''संस्कृति हमारे जीवन–क्रमों, चिंतन–पद्धतियों, दैनिक संपर्कों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, विनोद आदि में हमारी प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है।''[2] इन दोनों ही परिभाषाओं से कुछ मूलभूत बातें प्रकट होती हैं। संस्कृति का सामुदायिक प्रवृत्तियों को निर्धारित करने के क्रम में निमार्ण होता है तथा इसका समुदाय या समाज से गहरा सम्बन्ध होता है। किसी भी समुदाय की संस्कृति का निर्माण सहजीवन के एक लंबे दौर के बाद होता है।

चूँकि हम पहले ही कह चुके हैं कि संस्कृति का निर्माण समाज से होता है। अतः जाहिर सी बात है कि समाज कभी एकसार नहीं रहा है। सभ्यताओं के निर्माण क्रम में विभिन्न समाजों में घात–प्रतिघात का दौर रहा हैं जिसमें

विभिन्न समुदाय एक–दूसरे को प्रभावित भी करते रहे है तथा एक–दूसरे से प्रभावित भी होते रहे हैं। इसके साथ ही समाज स्वयं ही कई हिस्सों में विभिन्न आधारों पर बंटा रहा है। अतः इन विभिन्नताओं को देखते हुए हम कह सकते हैं कि संस्कृति का स्वरूप भी एकरूप या समरूप नहीं हो सकता है। विभिन्न सभ्यताओं के विकास क्रम में विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के कारण समाज का एक तबका प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में स्थापित हो गया तथा बाकी बचे हुए तबके हाशिये पर ही छोड़ दिये गये। समाज का यही प्रभुत्वशाली तबका ही अपने को शासक जमात के रूप में स्थापित किया। शासक जमात ने ही सत्ता के माध्यम से अपनी संस्कृति को समाज की संस्कृति के रूप में स्थापित करने में सफलता हासिल की। प्रसिद्ध चिन्तक एडवर्ड सईद ने सत्ता की इसी संस्कृति को आधिकारिक संस्कृति कहा है तथा उसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि, ''अधिकारिक संस्कृति होती है पुरोहितों, अध्यापकों और राज्य की। देशभक्ति, स्वामिभक्ति, सीमाओं और निवास की परिभाषाकार यही आधिकारिक संस्कृति होती है, यही आधिकारिक संस्कृति पूरी संस्कृति की प्रवाचक होती है, यही जनइच्छा तथा उस मूल्य व्यवस्था तथा विचारों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है जो सम्मिश्र रीति से अतीत से जुड़े होते हैं, यही संस्थापक–पिताओं और पाठों, नायकों और खलनायकों की सूची तैयार करती है औरअतीत में जो विजातीय भिन्न और अवांछनीय है उसे विसर्जित कर देती है।''[3]

उपरोक्त आधिकारिक संस्कृति की परिभाषागत विशेषता को ध्यान में रखकर यदि हम भारतीय संस्कृति को देखते हैं तो हिन्दू समाज में उच्च वर्ण जाति तबके ने अपनी संस्कृति को ही भारत की आधिकारिक संस्कृति के रूप में स्थापित किया है। हिन्दू समाज व्यवस्था शुरुआती दिनों से ही वर्ण–जाति व्यवस्था के क्रम में असमानता पर आधारित रही है। इसी पारम्परिक व्यवस्था ने समाज के उच्च वर्ण–जाति के लोगों को पूरे समाज का नेतृत्वकर्ता तथा उनकी जमात को शासक जमातों के रूप में स्थापित किया। इन शासक जमातों ने समाज की निम्न वर्ण–जाति तथा मेहनतकश जनता का शोषण तथा

उत्पीड़न किया। समाज के इसी उच्च वर्ण–जाति तबके की विवेचना करते हुए बाबा साहब अम्बेडकर लिखते हैं कि ''भारत में शासक वर्ग की एक परिधि है। उसकी परम्पराएं, समाज–दर्शन और दृष्टिकोण मेहनतकश जातियों के प्रति कठोर है। वह परिधि अटूट है। उसमें प्रभुता और दासता का भेद गहराई से बैठा हुआ है, जिनके बीच संपन्नता और विपन्नता का स्थाई और स्पष्ट अन्तर है।''[4] बाबा साहब अम्बेडकर के इस कथन से स्पष्ट होता है कि हिन्दू समाज दो भागों में विभाजित रहा है तथा जिनका परस्पर संबंध शासक तथा शासितों के रूप में स्थापित किया गया। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि– भारतीय समाज की भी कोई एकल संस्कृति नहीं हो सकती है। शरण कुमार लिम्बाले इसी सांस्कृतिक विभिन्नता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''हमारा सम्पूर्ण समाज एक सांस्कृतिक स्तर पर नहीं है। समाज में भिन्न सांस्कृतिक खाने, जाति–व्यवस्था और संस्कारों के फलस्वरूप बनी मानसिकता के कारण सामाजिक जीवन और सारासार विवेक विभाजित हुआ है।''[5] शरण कुमार लिम्बाले सांस्कृतिक विभिन्नता के पीछे सामाजिक स्तर के विभेद को ठीक ही देख रहे हैं। दरअसल हिन्दू समाज वर्ण–जाति भेद पर आधारित है। इसी वर्ण–जाति व्यवस्था के विभेद के कारण समाज मूलतः कई भागों में बंटा हुआ है। इन दोनों ही वर्गों में सम्मिलित जातियों के आपसी सम्बन्धों में साफ–साफ अन्तर दिखायी देता है। इसी अन्तर को स्पष्ट करते हुए बाबा–साहब अम्बेडकर लिखते हैं कि ''लेकिन स्पृश्य या अस्पृश्य व्यक्ति किसी अर्थ में व्यक्ति नहीं होता क्योंकि उसके सभी या लगभग सभी संबंध तभी निश्चित हो जाते हैं, जब उसका जन्म किसी वर्ग–विशेष में हो जाता है। उसका व्यवसाय, उसका निवास, उसके देवी–देवता, उसकी, राजनीति आदि सभी कुछ उस वर्ग द्वारा उसके लिए निश्चित हो जाते हैं जिसमें उसका जन्म हो गया होता है। ये स्पृश्य और अस्पृश्य व्यक्ति एक दूसरे से जब मिलते हैं तो इस तरह नहीं मिलते हैं जैसे एक इंसान दूसरे इंसान से मिल रहा होता है बल्कि वे ऐसे मिलते हैं जैसे एक समुदाय का व्यक्ति दूसरे समुदाय से या दो विभिन्न राष्ट्रों के व्यक्ति आपस में मिल रहे हों।''[6] बाबा साहब के इस कथन से स्पष्ट होता है कि हिन्दू समाज स्पृश्य और अस्पृश्य नामक दो खांचों में बंटा हुआ है।

स्पृश्य वर्ग में उसके शिखर पर ब्राह्मण समुदाय है तथा यही समुदाय इस वर्ग का नेतृत्वकर्ता है। इसने अपने नेतृत्व में जिस संस्कृति को स्थापित किया, वही हिन्दू समाज के लिए आधिकारिक संस्कृति बन गयी। इसी ब्राह्मणवादी संस्कृति ने अपने हिसाब से धर्म, रीति–रिवाज, खान–पान को भारतीय संस्कृति कहकर स्थापित किया। सूरज बड़त्या ने सत्ता और संस्कृति के अंतर्सम्बन्धों को विवेचित करते हुए कहा है कि ''भारत में इसी ब्राह्मणवादी वैचारिकी की सत्ता रही है। इसने एक ऐसी संस्कृति का निर्माण किया जो रीति–रिवाज, आचार–व्यवहार, खान–पान, वेशभूषा, रहन–सहन, तीज–त्यौहार, भाषा सभी के माध्यम से ब्राह्मणवादी वैचारिकी और संस्कृति को प्रतिष्ठित करती रही है।''[7] इसी ब्राह्मणवादी संस्कृति ने अपनी जमात की सत्ता को महिमा मंडित करने के लिए नायकों तथा प्रतिनायकों की छवि को भी स्थापित किया। द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य का अंगूठा काटने की घटना को इसने गुरु भक्ति के अनूठे प्रमाण के रूप में घोषित किया। महिषासुर तथा राजा बालि आदि को इसी संस्कृति ने इतिहास में प्रतिनायकों के रूप में स्थापित किया। इसी ब्राह्मणवादी संस्कृति ने ऐसे रीति–रिवाज तथा प्रथाओं को जन्म दिया जिसने समाज के उच्च वर्ण–जाति तबके का वर्चस्व सदैव ही निम्न तबके के उपर स्थापित करने का कार्य किया। इसी वर्चस्ववादी संस्कृति ने भारतीय समाज को कभी सुसंगठित नहीं होने दिया। इसने इस व्यवस्था को इस कदर संचालित किया कि समाज के उच्च तबके के पास सामाजिक, आर्थिक और सभी संसाधन सुलभ होते रहे वहीं दूसरी तरफ समाज में निम्न जाति का तबका सदैव ही संसाधन विहीन रहा। ब्राह्मणवादी संस्कृति की आलोचना करते हुए सूरज बड़त्या कहते हैं कि ''असलियत में जाति–क्षेष्ठता का दंभ भरने वाली संस्कृति के मूल्य ऐसे हैं जिनका अनुकरण करके कोई भी मानवीय व्यवस्था एवं एक बेहतर व्यवस्था के रूप में अपने को स्थापित नहीं कर सकती।''[8] दरअसल इसी ब्राह्मणवादी संस्कृति के मूल्यों से ही पितृसत्ता एवं वर्ण–जाति व्यवस्था जैसी अवधारणाएं स्थापित हुई जिन्होंने समाज में स्त्रियों तथा दलितों को असमानता की गहरी खाई में ढकेल लिया। दलित–शोषित जनता को अध्ययन एवं ज्ञान की शक्ति मिली तो उसने अपने पूर्वजों की संस्कृति की तथा इतिहास की खोज करनी

प्रारम्भ कर दी। हालांकि वैदिक युग से ही ब्राह्मणवादी संस्कृति ने बड़ी सफाई से अपनी प्रतिरोधी शक्तियों के इतिहास एवं संस्कृति को या तो समूल रूप से नष्ट कर दिया या चालाकी बरतते हुए अपने इतिहास एवं संस्कृति में मिला लिया। इसी बात की तस्दीक करते हुए सूरज बड़त्या लिखते हैं कि ''इतिहास में हाशिये पर रही यह बेजुबां व्याकुल अस्मिता (शूद्र) अपने भविष्य निर्धारण के लिए, इतिहास के गर्भ में जाकर अपने इतिहास, संस्कृति व परम्परा का निर्धारण करने की कोशिश कर रही है।''[9] सत्ता का चरित्र जैसा भी हो, अपने प्रतिरोधी समाज की धर्म,परंपरा रीति–रिवाज को समाप्त करने के वह चाहे कितनी भी कोशिश करे परन्तु प्रतिरोधी समाज अपने पूर्वजों की स्मृतियों, परंपराओं एवं रीति–रिवाजों को सायास या अनायास ही संजोकर एक प्रतिरोधी संस्कृति का निर्माण करता रहा है। इसी बात की तस्दीक करते हुए एडवर्ड सईद लिखते हैं कि ''यह भी सच है कि प्रातिनिधिक, आधिकारिक और मुख्यधारा की संस्कृति के साथ ही प्रतिरोधी अथवा वैकल्पिक, उदार, पंचमेलीय संस्कृतियाँ होती हैं जिनमें कई ऐसे प्राधिकार–विरोधी स्वर होते हैं जो आधिकारिक संस्कृतियों से विवाद करते हैं। इन्हें प्रति संस्कृति कहा जा सकता है अर्थात् गरीबों, आप्रवासियों, बोहेमियनों, श्रमिकों, विद्रोहियों, कलाकारों जैसे अनेक तरह के बाह्य लोगों से जुड़े हुए अभ्यासों का समूह।''[10] दलित–शोषित जनता ने भी महात्मा फुले और बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों से चेतनशील होकर लोक संस्कृति में अपने पूर्वजों की संस्कृति के बिखरे हुए टुकड़ों को एकत्रित कर दलित संस्कृति के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया है। अपनी संस्कृति की तलाश के साथ ही उन्होंने ब्राह्मणवादी–सामन्ती संस्कृति के स्थापित किये गये मूल्यों की पुनर्विवेचना का कार्य भी किया।

दलित बुद्धिजीवियों ने अपनी संस्कृति की तलाश में हिन्दू धर्मग्रन्थों का पुनर्पाठ करना प्रारम्भ किया। चूँकि धर्म संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है और दुनिया में बहुत सारे धर्मों ने वर्चस्वशाली तबके की सत्ता एवं संस्कृति को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अतः भारत में भी ऐसा ही कार्य हिन्दू धर्म ने किया है। बाबा साहब अम्बेडकर हिन्दू धर्म की समीक्षा करते

हुए अपनी पुस्तक 'क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति' में ने बड़ी ही मौजू बात कही है– ''सबसे पहली बात तो यह स्वीकार कर लेनी चाहिए कि एक समान भारतीय संस्कृति जैसी कोई चीज कभी नहीं रही है और यह भारत तीन प्रकार का रहा है– ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिन्दू भारत। इनकी अपनी–अपनी संस्कृतियाँ रहीं। दूसरी बात यह स्वीकार की जानी चाहिए कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले भारत का इतिहास ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म के अनुयायियों के बीच परस्पर संघर्ष का इतिहास रहा है। जो कोई इन दो तथ्यों को स्वीकार नहीं करता, वह भारत का सच्चा इतिहास कभी नहीं लिख सकता।''[11] बाबा साहब अम्बेडकर के कथन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल से ही ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म में संघर्ष होता रहा है। दलित साहित्यकारों ने इसी ब्राह्मण संस्कृति की मुखालफत में खड़ी रही बौद्ध संस्कृति या श्रमण संस्कृति को अपनी संस्कृति घोषित किया। हालांकि श्रमण संस्कृति भारत में वैदिक सभ्यता से पहले भी मौजूद रही है। भारत की आदिकालीन भौतिकवादी परम्परा की संवाहक ही श्रमण संस्कृति के रूप में प्रचलित है। रामधारी सिंह दिनकर श्रमण संस्कृति की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि ''धर्म का नेतृत्व करने वाले ब्राह्मण गृहस्थ थे, किन्तु उनके साथ–साथ वैदिक युग में भी श्रमणों की संख्या काफी थी और अनुमान यह है कि श्रमण संस्कृति आर्यों के आगमन के पूर्व से ही इस देश में विद्यमान थी। ये श्रमण अवैदिक होते थे। ब्राह्मण यज्ञ को मानते थे, श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझते थे।''[12] इसी आदिकालीन भौतिकवादी श्रमण सांस्कृतिक परम्परा ने ब्राह्मणवादी संस्कृति की वर्ण–जाति व्यवस्था से लेकर यज्ञों, संस्कारों आदि का विरोध किया। कुछ विद्वानों का मत है कि इसी श्रमण संस्कृति तथा लोक संस्कृति के तत्त्वों से मिलकर बौद्ध संस्कृति का विकास हुआ है। बौद्ध तथा ब्राह्मण संस्कृति की तुलना करते हुए जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं कि ''बौद्ध संस्कृति जहाँ श्रम, समानता, ईमानदारी, नैतिकता, न्याय और उत्पादकता को बढ़ावा देती है, वहीं ब्राह्मणवादी संस्कृति मुफ्तखोरी, लूट–खसोट, झूठ, धोखा, शोषण, अनैतिकता, अन्याय, असमानता और अनुत्पादकता की नींव पर खड़ी है। यह संस्कृति श्रम के मूल्य को नकारती है, इसलिए ब्राह्मणवादी संस्कृति में श्रमिक समाज सर्वाधिक उत्पीड़ित और

अभाव–ग्रस्त है।''[13] बौद्ध संस्कृति के इन्हीं मूल्यों के कारण दलित समाज के बड़े हिस्से ने बाबा साहब अम्बेडकर के नेतृत्व में बौद्ध धर्म को अपनाया। हालांकि दलित चिन्तकों के एक हिस्से ने दलितों के लिए एक मुफीद धर्म की तलाश अभी भी जारी रखी है।

ब्राह्मण संस्कृति एवं बौद्ध संस्कृति के टकराव के साथ भारत में कई नई जातियाँ भी आती रही हैं जिसमें मुख्यतः इस्लाम धर्म को मानने वाले तथा यूरोपीय जातियाँ प्रमुख हैं। इन नई जातियों के आवागमन के साथ उनकी संस्कृति–सभ्यता का प्रभाव भी भारतीय समाज पर पड़ा। चूँकि संस्कृति कोई स्थिर संरचना नहीं है तथा यह हमेशा गतिशील रहती है। अतः नई संस्कृतियों से सामना होने पर भारतीय संस्कृति में कुछ बदलाव हुए होंगे। भारतीय संस्कृति में आये परिवर्तनों को रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में व्याख्यायित किया है। बौद्ध संस्कृति के प्रभाव को उन्होंने सिद्धों–नाथों की परम्परा से लेकर कबीर, रैदास आदि सन्तों की वैचारिकी में देखा। वे लिखते हैं कि ''अगर बुद्ध नहीं होते तो इस देश में दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरंजनी में से कोई नहीं हुआ होता। जाति–प्रथा को शिथिल करके एवं वर्णाश्रम धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और उनकी परंपरा के अन्य साधुओं ने ही भारत में वह अवस्था उत्पन्न की, जिसमें निगुर्णियाँ सन्तों का मत फल–फूल सका।''[14] इस कथन से पुष्ट होता है दलितों की उस श्रमण संस्कृति की यात्रा सन्त साहित्य तक आती है।

दलित संस्कृति की शिनाख्त में जो सबसे बड़ी समस्या सामने आती है वह भारत में श्रमण संस्कृति के बाद लगातार कई संस्कृतियों का आवागमन है। इसी कारण श्रमण संस्कृति की अपनी कई निजी पहचानें धूमिल हो गयीं। भारत में आधुनिकता के साथ बाजार एवं पूंजीवाद का भी यहाँ की देशज संस्कृतियों पर प्रभाव पड़ा है। बाजार और पूँजी के प्रभाव ने दुनिया में जब 'ग्लोबल संस्कृति' के निर्माण का ठेका लिया तो देशज संस्कृतियों को उसके मूल्यों से सामंजस्य बनाने की कोशिश करनी पड़ी। आधुनिकता द्वारा स्थापित ज्ञान परम्परा ने कितनी ही देशज ज्ञान–परम्परा को विज्ञान बनाम अंधविश्वास

या तर्क बनाम आस्था जैसे तुलनात्मक मूल्यों के आधार पर खारिज़ करने का कार्य किया। अगर दलित संस्कृति के मूल्यों की बाबत बात करे तो हम कह सकते हैं कि यह समानता, बंधुता, स्वतंत्रता पर आधारित होगी जिसमें लिंग या वर्ण–जाति भेद के लिए कोई स्थान नहीं होगा। दलित संस्कृति में श्रम की महत्ता होगी तथा श्रमिक समुदायों को समाज में गरिमामय स्थान प्रदान किया जायेगा। इन्हीं मूल्यों के आधार पर हम दलित उपन्यासों में आये दलित–जीवन संस्कृति के मूल्यों की विवेचना करेंगे तथा समय के साथ उसके बदलते स्वरूप की भी शिनाख्त करेंगे।

'मानव की परख' उपन्यास में मथुरा एवं उसके नजदीक के किसी गाँव की दलित–जीवन संस्कृति की रूपेरखा आयी है। उपन्यास की नायिका रानी भंगिन तथा उसका बेटा रोहतास मथुरा के दलित बस्ती में रहते हैं। दलित मुहल्ले के विवरण से स्पष्ट होता है कि उनके रहन–सहन की स्थिति दयनीय है। उपन्यासकार ने दलितों के आवास पर 'कच्चे कोठों के बीच एक दो पक्के मकान क़ब्रिस्तान के बीच कच्ची क़ब्रों के पास पक्की कब्रों की याद करा देते है' जैसे उदाहरणों से यथार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। दलितों के रहन–सहन एवं भोजन की समस्या पर 'भूताजोन के तन पर भी कपड़ा कम रहता है और रोटी की तलाश में वे भी इधर–उधर भूखे घूमते रहते हैं' जैसे वाक्यों से दलितों के जीवन पर ब्राह्मणवादी संस्कृति द्वारा लादे गये गरीबी एवं अभावों के बोझ का प्रभाव दिखाई देता। तत्कालीन समय में भंगी समुदाय का जीविकोपार्जन भी मल–मूत्र की सफाई जैसे कार्यों से चलता था। रानी भंगिन और रोहतास के प्रसंग में उपन्यासकार लिखता है कि ''वे दोनों अपना ही पुराना धंधा नियमानुसार करते हैं जिसे भारतीय समाज के मुख्यकर इन्हीं के वंश के मत्थे मढ़कर कह डाला कि यह धंधा इनके भाग्य में है। यही धन्धा इनका पैतृक है और यही धंधा इनके योग्य भी है।''[15] उपन्यास के इस प्रकरण से स्पष्ट होता है कि मल–मूत्र की सफाई जैसे घृणित कार्यों को छोड़ने के बाबा साहब के विचार तब इस समुदाय तक नहीं पहुँचे थे।

उपन्यास में दलितों की ग्रामीण संस्कृति से सम्बन्धित प्रकरण कम आये हैं। उपन्यासकार ने दलितों के रीति–रिवाज या धार्मिक क्रियाकलापों का सतही

रूप से वर्णन किया है। हम 'रानी का रूप' प्रकरण में दलित पुरुषों की आपसी बातचीत तथा गिरधारी का रानी के साथ बलात्कार करने की कोशिश को दलित समाज में घुस आये ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के प्रभाव के रूप में देख सकते हैं। दलितों की जाति पंचायत के मसले पर आलोचक तेज सिंह लिखते हैं कि ''बिरादरी का सबसे बड़ा हथियार सामाजिक बहिष्कार है। हरेक बिरादरी की अपनी–अपनी पंचायतें हैं जो लड़ाई–झगड़े का फैसला करती हैं जिन्हें सामंती अवशेष कहना ज्यादा ठीक है।''[16] हालांकि हम मानते हैं कि जाति पंचायते सचमुच ही सामंती अवशेष की निशानी हैं परन्तु दलित आत्मकथाओं में आये तमाम प्रकरणों में जाति पंचायते प्रगतिशील भी रही हैं तथा कई मुद्दों पर इन्होंने सवर्ण समुदाय का संगठित प्रतिरोध भी किया है।

हालांकि पंचायत चुनाव के मसले को लोग राजनीतिक प्रश्न के रूप में देखते हैं परन्तु जो प्रश्न राजनीतिक होगा, उसका सम्बन्ध सांस्कृतिक वर्चस्व से स्वतः जुड़ जायेगा। ग्रामीण चुनाव के प्रसंग में दलितों में आ रही नई सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना दिखायी देती है। चिरंजी के पिता धर्मू चौधरी दलितों की पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हुए गाँव के जमींदार की सत्ता को स्वीकृत भाव से लेते हुए कहते हैं कि ''वह जमींदार और हम उनकी रियाया है।''[17] इस पर चिरंजी अपने पिता को उत्तर देता है– मैं तो कलयुग के साथ जाऊँगा। कलयुग सबकुछ जानता है कि कौन रियाया है और कौन मालिक। वह कहता था कि पंचायत में सबका बराबर स्थान होगा।''[18] उपन्यास का यह पूरा प्रकरण दलितों में विकसित उस नई सांस्कृतिक चेतना को दिखाता है जहाँ वह पूर्व की असमानता एवं भेदभाव भरी व्यवस्था को नकारकर अपने लिए समता के अधिकार की बात करता है। हालांकि उपन्यास में गाँधीवादी चेतना के कारण दलितों की प्रतिरोधी संस्कृति का प्रभाव कम दिखायी देता है।

उपन्यास में आया दलित समाज जो कि भंगी जाति है, का धर्म हिन्दू है। उपन्यास के कथानक में किसी विवाह का जिक्र नहीं आया है जिससे हमें तत्कालीन समय की विवाह पद्धति के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती है।

दलितों के इस समाज में अन्धविश्वास तथा शकुन–अपशकुन का भी प्रचलन है। छींक आना, कुत्ते का कान फटफटाना, उल्लू का बोलना, कुत्ते का रोना एवं बिल्ली का रास्ता काटना इन सभी को दलित समाज में अपशकुन माना जाता है। हालांकि उपन्यासकार ने कलयुग की हत्या का विवरण तो दिया है परन्तु उसने मृत्यु के बाद के संस्कारों की कोई चर्चा नहीं की है। यदि उसने मृत्यु–संस्कारों पर चर्चा की होती तो सांस्कृतिक स्तर पर यह तुलना का विषय होता कि क्या दलितों का मृत्यु संस्कार अन्य हिन्दू समाज से भिन्न था? यदि भिन्न था, तो किन मायनों में यह भिन्नता थी। रानी के विधवा प्रसंग में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दलितों में विधवा प्रथा का प्रचलन नहीं था। इसी प्रसंग में हरिया चौधरी कहता है कि ''हमारे यहाँ राँड को अपना ठौर–ठिकाना करना ही पड़ता है तभी हमारे यहाँ की औरते रंडी नहीं बनती। जिनके यहाँ राँड का ब्याह नहीं किया जाता वही बिरादरी रंडियों की बिरादरी को बढ़ाती है अथवा चोरी–चोरी अपनी जवानी पर मेहरबानी करती है।''[19] इस पूरे वक्तव्य में न केवल विधवा प्रथा का विरोध दिखायी देता है वरन् जिन समुदायों में यह प्रथा प्रचलित थी उनकी आलोचना भी दिखायी देती है। परन्तु रानी का 'अपने सत' पर बने रहना, दलित संस्कृति में आ रहे बदलाव को दिखाता है। या यह भी हो सकता है कि हिन्दू धर्म के प्रभाव में आकर दलित समाज भी उनकी प्रथाओं को मान्यता दे रहा था। हालांकि उपन्यासकार ने कथावस्तु में इसका कारण रानी का कलयुग के प्रति प्रेम बताया है परन्तु यह सवाल उठता है कि जिन विधवा स्त्रियों की दूसरी शादी होती है वह भी तो अपने पूर्व पति से प्रेम करती हैं। यह भी हो सकता है कि उपन्यासकार ने कथा की पूर्व योजना के आधार पर रानी की मथुरा शहर में दुर्दशा दिखाने के लिए ऐसा विवरण दिया हो। पूरे उपन्यास के मूल्यांकन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार ने ग्रामीण समाज में लोगों के सम्बन्धों, विचारों को दिखाने में जो कुशलता दिखायी है वह ग्रामीण दलित संस्कृति के प्रस्तुतीकरण में नहीं दिखायी देती है।

उपन्यास 'दोहन' की कथावस्तु का आधार ग्रामीण समाज ही है परन्तु उसमें न तो दलित समाज ही दिखायी देता है और नहीं ही उनकी संस्कृति।

उपन्यास 'करूणा' का नायक रमेश है तथा वह जाति से चमार है। घर तथा परिवार के विवरण से पता चलता है कि दलित समाज में धर्म को लेकर चेतना आ चुकी है। दलितों के एक हिस्से ने बौद्ध धर्म अपना लिया है तथा उन्होंने हिन्दू धर्म से इतर बौद्ध धर्म के त्यौहारों को मनाना प्रारम्भ कर दिया है। उपन्यासकार लिखता है कि ''रमेश को ध्यान आया कि आज तो बुद्ध–पूर्णिमा है और अभी तो बुद्ध–बिहार भी जाना है।''[20] बुद्ध–पूर्णिमा के विवरण से पता चलता है कि बौद्ध–धर्म के ऐसे पर्वों का अब सामाजिक–सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ गया है। हिन्दू धर्म के मेलों से इतर इन पर्वों से सामाजिकता और वैचारिकता का विकास हो रहा है। बुद्ध पूर्णिमा के अवसर पर उपन्यासकार लिखता है कि ''विहार में आज लोगों की अच्छी–खासी भीड़ थी। सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोग वहाँ आ–जा रहे थे। भिक्षु पूजा–उपासना के कार्य में व्यस्त थे। बुद्ध की अमृतवाणी लोगों के हृदय में मैत्री और बुंधता का संचार कर रही थी तथा दया और करूणा के समुद्र उस भगवान के समक्ष नत–मस्तक हो, क्लान्त लोग शान्ति का अनुभव कर रहे थे।''[21] उपन्यास में रमेश की बहन रीता की शादी से पता चलता है कि बौद्ध समाज में दहेज–जैसी अमानवीय प्रथा का प्रचलन नहीं है। बौद्ध समाज के इतर लोग तथा सरकार जहाँ इस अमानवीय प्रथा से जूझ रहे हैं वही बौद्ध संस्कृति इस प्रथा के दुष्प्रभावों से अछूती है। उपन्यासकार लिखता है कि ''किन्तु बौद्ध समाज दहेज–प्रथा जैसी बीमारी से बचा हुआ था। बस वर–वधु की देखभाल और कुटुम्ब परिवार की परख ही सब कुछ था।''[22] रीता के सन्तान न पैदा करने की स्थिति से साफ जाहिर होता है कि उपन्यास में आये दलित समाज में संतानोत्पत्ति का विशेष मोह है तथा वहाँ निःसंतान को स्त्रियों अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता है। रीता के पति के वक्तव्य से यह बात स्पष्ट होती है– ''तू असैनी है, कुलच्छनी है। तेरी कोख से आदमी तो क्या कभी चिड़िया का बच्चा भी पैदा नहीं होगा।... तू कामधेनु नहीं है। तु कुल्टा है, इस कुल का नाश करके रहेगी तू।''[23] उपन्यास के इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन दलित समाज ने सांस्कृतिक स्तर पर चेतनशील होकर बौद्ध धर्म तथा उसके रीति–रिवाजों को तो अपना लिया है मगर हिन्दू धर्म का सांस्कृकि प्रभाव अब भी उसमें शेष है।

उपन्यास 'छप्पर' का प्रारम्भ मातापुर नामक गाँव के विवरण से प्रारम्भ होता है। उपन्यास में आया दलित मुहल्ले का विवरण उनकी दयनीय दशा को दिखाता है। उपन्यासकार दलितों के आवास के मसले पर लिखता है कि ''किन्तु जो लोग दलित और दरिद्र हैं उनके पास रहने–सहने तथा एकाध पशु जो वह पालते हैं, उन सबके लिए कुल जमा गारा–मिट्टी की दीवारों पर घास–फूंस के छप्पर या झोपड़ियाँ हैं इकछत्ती–दुछत्ती। अधिक हुआ तो किसी के कच्चे कोठे पर बांस की खपच्ची या खपरैल की छत होती है या पशुओं के लिए छान–झोपड़ी अलग।''[24] उपन्यास के इस विवरण से स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज की मुख्यधारा ने दलितों का किस कदर सामाजिक–सांस्कृतिक उत्पीड़न किया है। उनके आवास तथा रहन–सहन दोनों का ही स्तर ग्रामीण समाज में मानव स्तर से भी निम्न हो गया है। ग्रामीण भारत में आज भी एक कोठरी में दलितों का पूरा परिवार गुजर–बसर करता है। हालांकि उपन्यास में आये शहरी दलित समाज का भी आवासीय स्तर इनसे भिन्न नहीं है। उनका भी रहन–सहन तथा जीवन–यापन बहुत कठिन है। शहरी दलित बस्ती के मसले पर उपन्यास में प्रसंग आता है– ''केवल कालोनी शब्द ही विभाजक रेखा है गाँव व शहरों के बीच, अन्यथा शहरों की इन झुग्गी–झोपड़ियों या खोलियों में रहने वाले लोगों तथा गाँव में गारा–मिट्टी या घास–फूस के झोपड़े–छप्परों में रहने वाले लोगों के जीवन–स्तर में कोई खास अन्तर नहीं है।''[25] शहर तथा गाँव दोनों ही जगह का दलित समाज वस्त्र एवं खानपान की समस्या से जूझ रहा है।

उपन्यास में आया पूरा दलित समाज श्रम–संस्कृति पर आधारित है। सुक्खा और रमिया दोनों ही श्रम करके जीवन यापन कर रहे हैं। शहर में भी दलित मेहनत–मजदूरी करके अपना तथा अपने परिवार का पालन–पोषण करते हैं। उपन्यास में इसका विवरण इस प्रकार आता है– ''इस झोपड़–पट्टी के सभी लोग गरीब और मजदूर हैं। इनमें से कुछ मिल–मजदूरी अथवा बेलदारी का काम करते हैं, कुछ लोग फल, सब्जी या छोटी–मोटी घरेलू चीजों या खेल–खिलौनों को चार पहियों की ठेली पर रखकर या सिर पर टोकरी रखे

गली–गली फेरी लगाने का काम करते हैं।... घर की औरतें और बच्चे भी हाथ बंटाते हैं उनके इस काम में।''[26] इस पूरे प्रसंग से यह साफ जाहिर होता है कि दलित समाज का अपने पूर्वजों की श्रम–संस्कृति में गहरा विश्वास है। दलित घरों की महिलाओं एवं बच्चों का भी इस श्रम–संस्कृति में सक्रिय योगदान है। यह अलग बात है कि सामंती संस्कृति से पूंजीवादी संस्कृति में तब्दील होता भारतीय समाज दलितों के श्रम की उचित कीमत नहीं अदा करता है। पूंजीवादी संस्कृति भी दलितों एवं मेहनकशों के शोषण पर आधारित है। इसी दलित समाज ने लोकगीत एवं लोक संस्कृति को भी परिरक्षित करके रखा है। दलित समाज में दिनभर के शारीरिक श्रम के बाद इन्हीं लोक गीतों एवं संगीत से मनोरंजन किया जाता है।

उपन्यास में आया दलित समाज धर्म के मसले पर बहुत स्पष्ट नहीं है। चन्दन शिक्षित होकर सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना से युक्त है। चन्दन सामाजिक–सांस्कृतिक गैरबराबरी को देखते हुए हिन्दू धर्म एवं हिन्दू देवी–देवताओं की कड़ी आलोचना करता है। चन्दन धर्म की सत्ता को नकारने के साथ ही ईश्वर की सत्ता को भी नकार देता है। वह कहता है कि ''उल्टी–पुल्टी नहीं साफ–सीधी बात कह रहा हूँ मैं। दुनियाँ में ऐसा कोई भगवान, ईश्वर या परमात्मा नहीं है जो सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। जो सबको पैदा करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला है। जो शाश्वत और चैतन्य है। जो जगत का नियामक तथा अनादि और अनन्त है। यह मान्यता असत्य, भ्रामक तथा वैज्ञानिकता से परे है।''[27] हालांकि उपन्यास में चन्दन हिन्दू धर्म तथा देवी–देवताओं की अलोचना जरूर करता है परन्तु वह किसी वैकल्पिक धर्म के चुनाव के बाबत बहुत स्पष्ट नहीं है। शादी–विवाह के मसले पर दलित समाज में दहेज–प्रथा के प्रचलित होने का भी संकेत मिलता है। उपन्यास के एक प्रसंग में सुक्खा अपनी पत्नी रमिया से कहता है– ''बड़े–बड़े चौधरी और नामी–गिरामी लोग अपनी बेटी ब्याहना चाहते हैं चन्दन के साथ। कई लोग तो यहाँ तक कह चुके है कि माँग लो जो कुछ तुम मांगों, मुँहमांगी विदाई देंगे लेकिन एक बार हां कह दो। लोग सारा खर्चा तक उठाने

को तैयार हैं।''[28] हालांकि उपन्यास में दहेज के नाम पर 'विदाई' का संकेत किया गया है परन्तु वह भी एक तरह से दहेज ही है।

उपन्यासकार ने उपन्यास के अन्त में चन्दन के नेतृत्व में जिस सामाजिक–सांस्कृतिक आन्दोलन से समाज को परिवर्तित कराने की कोशिश की है वह यथार्थवादी दृष्टि का परिचायक नहीं है। उपन्यास में आया दलित आन्दोलन जिस सांस्कृतिक चेतना के तहत समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुता जैसे मूल्यों से लैस होकर लड़ाई लड़ता है, उसके कारण ब्राह्मणवादी–सामंती संस्कृति में जो भी परिवर्तन दिखाया गया है वह आदर्शीकृत परिणाम है। तेज सिंह उपन्यास के अन्त की तारीफ करते हुए लिखते हैं कि ''लेखक शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए सांस्कृतिक क्रान्ति पर जोर देता है। सांस्कृतिक क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति की ही पूरक है। इनके बिना दलित समाज का उत्थान और विकास सम्भव नहीं है। सांस्कृतिक क्रांति एक सतत प्रक्रिया है जो सामाजिक–क्रान्ति को एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाती है।''[29] इस प्रकार हम देखते है कि उपन्यास 'छप्पर' में चन्दन के नेतृत्व में दलित समाज सांस्कृतिक चेतना से युक्त होकर न केवल दलित समाज वरन् पूरे भारतीय समाज में बदलाव की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

उपन्यास 'जस तस भई सवेर' मूलतः दलितों में अशिक्षा के कारण फैले अन्धविश्वास को केन्द्रित करके लिखा गया है। उपन्यास में आया दलित समाज हिन्दू धर्म का अनुयायी है परन्तु उनके अपने कुलदेवता जाहरवीर का भी वर्णन उपन्यास में आया है। जाहरवीर देवता के प्रसंग से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह प्राचीन काल में किसी कबीले के कुलदेवता रहे होंगे। हरसन्ना भगत जाहरवीर देवता का पुजारी है तथा पूजा और अन्धविश्वास का ढोंग रचकर दलित जातियों का शोषण करता है। दरअसल ब्राह्मण–पुरोहितों ने सदियों पूर्व ही कबीलाई देवताओं को स्वीकार करके दलित–शोषित जातियों का शोषण करने का एक नया तरीका इजाद किया था। इसी बात की तस्दीक करते हुए रामधारी सिंह दिनकर लिखते है कि ''शास्त्रानुसार, ग्राम–देवता की पूजा करना निषिद्ध है। ग्राम–देवता और देवियों के पूजकों को मनु ने नाना

स्थानों पर पतित कहा है। किन्तु, गांवों में अब ब्राह्मण भी भूत–प्रेत और ग्राम–देवता की पूजा करते है। अवश्य ही यह प्रेत–पूजा आग्नेय सभ्यता की देन होगी। आरम्भ में, इन देवताओं के पुरोहित भी शूद्र ही रहे होंगे, किन्तु आमदनी का रास्ता देखकर ब्राह्मणों ने उन्हें अपदस्थ कर दिया होगा।''[30] जाहरवीर देवता के ही सन्दर्भ में 'जात' जैसी प्रथा का प्रचलन दिखायी देता है। 'जात प्रथा' में सम्बन्धित दलित परिवार के घर पर उसके सगे –सम्बन्धी, रिश्तेदार तथा पड़ोसी भी समारोह में सम्मिलित होते हैं।

उपन्यास में हंसा के सन्दर्भ से पता चलता है कि दलित समाज जीवन–यापन के लिए या तो बटाई पर खेती करता है या तो मेहनत–मजदूरी करता है। घर की व्यवस्था चलाने के लिए दलित महिलाएँ भी घर से बाहर काम करती है। घर के बाहर काम करने के कारण दलित महिलाओं का ब्राह्मणवादी–सामंती संस्कृति का वाहक 'चौधरी' देवीपाल शारीरिक शोषण करता है। चौधरी देवीपाल दलित महिला धुसिया की बलात्कार के बाद हत्या कर देता है और इसी सामंती–संस्कृति की भेट दलित स्त्री रामरती का बेटा भी चढ़ जाता है। ब्राह्मणवादी–सामंती संस्कृति पर सवाल उठाते हुए अजमेर सिंह काजल लिखते है कि– ''कहा जाता है कि 'पाप का घड़ा एक दिन जरूर भरता हैं' लेकिन सदियों से वर्तमान सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा लाखों करोड़ों स्त्रियों की अस्मिता और मान–सम्मान पर हो रहे प्रहारों से इसका घड़ा आज तक क्यों नहीं भरा? असल में 'पाप का घड़ा एक दिन जरूर भरता है' नामक स्लोगन भी उसी व्यवस्था द्वारा प्रोयोजित है और इसका ध्येय इस विचारधारा को फैलाना है कि ईश्वर पापी को दंड जरूर देता है। लेकिन आपने साक्षात देखा कि स्त्रियों की अस्मिता पर हो रहे हमलों को रोकने और शोषकों को दंड देने कोई तथाकथित ईश्वर या उसका कोई प्रतिनिधि सामने नहीं आया।''[31]

उपन्यास में हंसा ओर सरवन के माध्यम से उपन्यासकार ने दलित समाज को आगाह किया है। हंसा अशिक्षित है इसीलिए अन्धविश्वास में फँसकर उसका तथा उसकी पत्नी का ब्राह्मणवादी–सामंती संस्कृति के द्वारा

शोषण होता है वहीं सरवन शिक्षित है चेतना सम्पन्न है इसीलिए वह शोषण के अन्धविश्वासी जाल से बचा रहता है। दलित समाज की सांस्कृतिक चेतना के वाहक सरवन, उनका बेटा शिवदास तथा पहलवान के समधी रूपलाल है। इन्हीं लोगों की प्रेरणा से दलित समाज ब्राह्मणों की शोषणकारी संस्कृति और व्यवस्था को त्याग कर बौद्ध धर्म अपनाता है।

उपन्यास मुक्तिपर्व में जिस दलित समाज का विवरण आया है वह गँवई और कस्बाई संस्कृति के बीच बसता है। दलितों को आधुनिकता के पर्याय शहरों में भी रहने के लिए वहाँ की सबसे गन्दी बस्तियों में ही जगह मिलती है। दलित बस्ती का विवरण उपन्यास में इस प्रकार आता है– ''चमार और डोम शहर की सीमा के इस तरफ रहते थे। उस तरफ सवर्ण रहते थे तो इस तरफ दलित। दोनों की दुनियाँ अलग थी। उधर बाग–बगीचे थे तो ईधर जंगल। उधर बाजार थे, पनघट थे, मंदिर थे, इधर श्मशान, कूड़ाघर, कलालों की दुकाने। दोनों तरफ के अपने–अपने संस्कार थे और अपनी–अपनी संस्कृति।... सवर्ण लाठियाँ बल्लम चलाते हुए गालियाँ देते, थूकते, खुले–आम पेशाब करते और अपनी उद्ण्ड संस्कृति का परिचय देते। फिर भी वे शहर भर में सभ्य कहलाते।''[32] इस पूरे वक्तव्य से भारत की 'तथाकथित महान' संस्कृति का दोहरा चरित्र सामने आता है। दलितों के मसले पर शहरों की आधुनिक संस्कृति ने परम्परा से गठजोड़ कर लिया और फिर से उन्हें हाशिये पर ही ठेल दिया गया। इसी वर्चस्ववादी संस्कृति ने सवर्णों द्वारा की गयी उद्दण्डता को भी 'सभ्य' होने का तमगा दिया और अपना दोहरा चरित्र दिखाते हुए मेहनतकश दलित जातियों पर असभ्य होने का ठप्पा लगा दिया।

उपन्यास में आये दलित समाज का 'श्रम संस्कृति' से गहरा जुड़ाव है। उसका जीवन किसी के शोषण पर नहीं टिका है वरन् यह समुदाय मेहनत–मजदूरी करके जीवन–यापन करता है। शहरों में भी दलितों को परम्परागत पेशे एवं मजदूरी करके जीविका चलानी पड़ती है। उपन्यासकार लिखता है– ''बस्ती में अधिकांश घरों में जूते–चप्पलों का व्यवसाय होता था। शेष मजदूरी करते थे, नवाबों की हवेलियों पर या जमींदारों के खेतों में। उनमें

न कोई कलक्टर था न पटवारी। शासन और प्रशासन की विसात पर या तो अंग्रेज काबिज थे या फिर हिन्दू।''[33] उपन्यास के इस प्रसंग से साफ जाहिर होता है कि अंग्रेजी प्रशासन में भी दलितों को भागीदारी का मौका नहीं मिला था। अंग्रेजों के सामाजिक–सांस्कृतिक दायरे से भी सदियों का अछूत बाहर ही रहा।

उपन्यास में ग्रामीण क्षेत्र के विवरण से साफ जाहिर होता है कि तत्कालीन समय में दलित समाज वस्त्रों के अभाव से जूझ रहा था। उपन्यासकार लिखता है– ''गाँव में किसी के बदन पर भी उजले कपड़े न देखे थे उसने। धूल–मिट्टी से सने बदन और उस पर फटे–पुराने कपड़े। गाँव में तो अधिकांश बच्चे अर्ध–नग्न ही होते। ''[34] शहरी दलित घरों की स्त्रियाँ साड़ी पहनती हैं परन्तु विवाह से पूर्व सलवार–कमीज पहनती है। दलितों के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में जानवर भी परिवार के सदस्यों की तरह होते हैं उदाहरण में हम बत्तों के मुर्गे–मुर्गियों तथा करतारा की गफूरन सूअर को देख सकते है। सवर्ण संस्कृति के बरक्स दलितों का जानवरों को लेकर सौन्दर्यबोध एकदम भिन्न दिखायी देता है। करतारा के मनोभावों तक को गफूरन सूअर समझती है।

आजादी मिलने के बाद उपन्यासकार ने दलित समाज और संस्कृति में हो रहे परिवर्तन को भी लक्षित किया है। बंशी नई सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना से लैस होकर बोलता है– ''जनाबे अली, हम न गुलाम थे, न गुलाम है और न गुलाम रहेंगे।''[35] बंशी ने इसी घोषणा के साथ दलितों की सामाजिक सांस्कृतिक गुलामी की बेड़ियाँ तोड़नी प्रारम्भ कर दी। बंशी के नेतृत्व में पूरे दलित समाज ने गुलामी को छोड़ दिया। बंशी ने अपने बेटे के जन्म के बाद बच्चे का नामकरण ब्राह्मण–पुरोहित से न कराकर, स्वयं किया। इससे पहले पुरोहित पूरे दलित मुहल्ले के बच्चों का मनुस्मृति की परम्परानुसार कालू चेतू, बुद्ध, रगडू, झगडू जैसे घृणित नाम रखता आया था। इसी बाबत हिन्दू संस्कृति की आलोचना करते हुए अजमेर सिंह काजल लिखते हैं कि ''परिवारों में देखने की बात यह है कि शोषित लोगों में पैदा हुई अस्मिता के कारण परम्परागत

शोषक, समाज अंधविश्वासों, शुभ–अशुभ, शकुन–अपशकुन के व्यवहारों के जरिये जातीय दुर्भावना फैलाने की परम्परागत चालों में फंसकर स्वयं खड़ा हो गया है। यह दलित चेतना का असर है। मनुस्मृति का विधान है कि ब्राह्मणों के नाम ज्ञानसूचक, क्षत्रियों का वीरता सूचक, वैश्यों का धनसूचक और शूद्रों के अपमानसूचक होने चाहिए। इसी मानसिकता के तहत पंडित ने नवजात का नाम बुद्धू सूझाया मगर परिवार और मोहल्ले ने पंडित की परम्परागत मानसिकता का विरोध करते हुए नवजात का नाम सुनीत रखा।''[36]

हिन्दू धर्म–संस्कृति की इन्हीं भेदभावपरक नीतियों से बंशी का जीवन भर साबका पड़ा। इसीलिए बंशी हिन्दू धर्म–संस्कृति की परम्परागत धारणाओं को नकारकर बौद्ध धर्म अपना लेता है। उपन्यास में इस बाबत विवरण आता है कि ''पर बंशी के सामने तो भगवान बुद्ध की दृष्टि थी, दर्शन था। सुनीत के आगे उसे और कोई नाम नहीं सुहाया था। उस नाम ने उसके मन को स्पर्श किया था। वह नाम समूची बौद्ध संस्कृति का द्योतक था। बंशी तो बौद्ध संस्कृति का उपासक था। बस्ती में बौद्ध बिहार न था, पर उसका घर ही बौद्ध विहार था।''[37] इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि आजादी के बाद बाबा साहब अम्बेडकर के धार्मिक चिन्तन का दलित समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा था। दलितों की नयी शिक्षित पीढ़ी (सुनीत) के नेतृत्व में दलित समाज में स्त्री–शिक्षा पर भी जोर दिया जाने लगा। सुनीत का करतारा के घर आना–जाना तथा उससे पारिवारिक सम्बन्ध बनाना, दलित वर्ग में आ रही नयी सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव है। सुनीत चमार जाति से है और करतारा भंगी जाति से, दोनों ही दलित जातियाँ है और दोनों ही जाति के लोगों का सामाजिक–सांस्कृतिक उत्पीड़न हुआ है। सुनीत इन दोनों जातियों को संगठित करके नई सामाजिक–सांस्कृतिक पहल करता है। हालांकि उपन्यासकार ने बदलते समय के साथ हो रहे सामाजिक–आर्थिक विकास के कारण दलितों के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन पर पड़ रहे नकारात्मक प्रभावों को भी दिखाया है। उदाहरणस्वरूप हम हगनहट की जमीन पर होने वाले अवैध कब्जों को देख सकते है। यह जमीन सिर्फ दलित परिवारों के

शौच–निवृत्ति के ही काम नहीं आती थी वरन् उस पर दलित समाज की विभिन्न समस्याओं को लेकर पंचायत वगैरह भी होती थी। इसी जमीन से दलित समाज के पूर्वजों की वीरता का इतिहास भी जुड़ा था। हालांकि उपन्यास के अन्त में भारतीय समाज में हो रहे सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन आदर्शात्मक स्थिति को दर्शाते है। आज भी भारतीय सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना वर्ण–जाति व्यवस्था को नकारने के लिए तैयार नहीं दिखायी देती है।

उपन्यास 'आज बाजार बन्द है' मुख्यतः वेश्यावृत्ति एवं देवदासी प्रथा पर आधारित है। देवदासी प्रथा के प्रसंग में ही उपन्यासकार ने दलित समाज का संक्षिप्त विवरण दिया है। जिससे पता चलता है कि दलित समाज में धार्मिक अनुष्ठान के नाम पर घर की लड़की को 'मंदिर के भगवान' के आधीन कर दिया जाता है। इसके अलावा उपन्यास में दलितों के अन्य सांस्कृतिक पहलू दिखायी नहीं देते हैं। उपन्यास 'मुक्तिपथ' में भी दलित समाज का संक्षिप्त विवरण ही आया। उपन्यास में प्रस्तुत दलित समाज हरियाणा और पंजाब के सीमावर्ती स्थानों का है। उपन्यास में आया दलित समाज भूमिहीन है। दलित समाज के लोग जीवन–यापन के लिए गाँव के किसानों के खेतों में मजदूरी करते है या आर्थिक तंगी में फंसकर किसानों के 'सीरी' बन जाते है। इससे पूर्व के अध्याय में हम 'सीरी प्रथा' पर चर्चा कर चुके है। उपन्यास में दलितों के आवास के मसले पर नफे सिंह नामक दलित पात्र के घर का विवरण आता है– ''नफे सिंह के परिवार की घर के नाम पर एक छोटी–सी कच्ची कोठरी थी। उसके दरवाजे के साथ चूल्हा था। जब वर्षा होती, तो झोपड़ी जगह–जगह से चूने लगती और वे अपना सामान, जो थोड़ा बहुत उनके पास था, कभी इस कोने में सरकाते और कभी उस कोने में। कभी ऊपर जाकर घास–फूस डालते, ताकि पानी रूक जाये।''[38] उपन्यास में आये दलित समाज की आवासीय स्थिति बेहद दयनीय है। पूरे गाँव के कूड़े–कचरे के ढ़ेर के बगल में गाँव की सबसे मेहनतकश जातियों को रहना पड़ता है। दलित परिवारों को ऐसी परिस्थितियों के कारण तमाम बीमारियों का खतरा भी रहता है। खान–पान के मसले पर भी इनकी निर्भरता उन्हीं किसानों के उपर है

जिनके वे सीरी है। उपन्यास में दलित जीवन वहीं दिखायी देता है जहाँ उपन्यासकार को वर्ग–व्यवस्था के अन्दर उन्हें समाहित करने की आवश्यकता दिखायी देती है। शायद इसीलिए उपन्यास में दलितों की सामाजिक–सांस्कृतिक स्थितियाँ जीवन्त रूप में नहीं आयी है।

उपन्यास 'मिस रमिया' में बिहार की दलित जीवन की सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रस्तुत हुई है। उपन्यास मूलतः एक दलित लड़की के शिक्षा–संघर्षों पर आधारित है। उपन्यास की नायिका रमिया मांझी जाति से है। रमिया का मुहल्ला भी पारम्परिक भारतीय गाँवों की तरह अलग है। दलितों की ग्रामीण सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों ही ऐसी है कि उनके बच्चों में अपने सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश के कारण दबाव रहता है। रमिया के बचपन में भी इस दबाव को साफ परिलक्षित कर सकते है– ''रमिया और श्यामली के घर थे तो एक ही गाँव में लेकिन टोला का अन्तर था। श्यामली कायस्थ टोला की रहने वाली थी और रमिया दलित टोली की। रमिया श्यामली से हर बात में सकुची और सहमी सी रहती थी।''[39] इसी सामाजिक–सांस्कृतिक दबाव के कारण दलित घरों के बच्चों के अन्दर ऐसी मानसिकता उपजती है जिसके कारण अपने उपर किये गये अत्याचारों के खिलाफ उनमें प्रतिरोधी चेतना का विकास नहीं हो पाता है।

ग्रामीण दलितों का जीवन पुनपुन नदी की बाढ़ के कारण और भी दयनीय हो जाता है। पारम्परिक रूप से मिली थोड़ी–बहुत खेती की जमीन भी कर्ज की भेट चढ़ जाती है। ग्रामीण दलित उसके बाद जीवन–यापन के लिए मजदूरी व हलवाही पर आश्रित हो जाते है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी खासियत गाँवों में मनाये जाने वाले त्यौहारों एवं विशिष्ट परिस्थितियों में गाये जाने वाले गीतों को दर्ज किया जाना है। हालांकि उपन्यास में आया दलित समाज जमीनी स्तर पर बहु–सांस्कृतिक है। एक तरफ जहाँ आदिवासियों का 'करमा' त्यौहार मनाता है, वहीं दूसरी तरफ वह 'गौरीशंकर' और 'लक्ष्मीपूजा' भी मनाता है। उपन्यास में करमा त्यौहार के बारे में कुछ इस प्रकार जिक्र आता है– ''आज करमा है। करमा तो यहाँ के मूलनिवासियों में ही मनाया

जाता है। परन्तु भाई का पर्व है इसलिए और लोग भी मनाते हैं। भादों में और भी बहुत–से पर्व तीज, जन्माष्टमी, जीतिया आदि मनाये जाते हैं। रात में लड़किया झूमर खेलती है। बूढ़े लोग इसे पसंद नहीं करते वे इसे संस्कृति का ओछापन समझते हैं।''[40] ये ग्रामीण पर्व और त्यौहार ही है जिनमें स्त्रियों को एक अलग सांस्कृतिक 'स्पेस' मिलता है। कर्ज और गरीबी से बेहाल ग्रामीण जनता के जीवन में इसी बहाने कुछ खुशियों के पल आते है। इसी ग्रामीण संस्कृति में लक्ष्मी–पूजा भी मनायी जाती है। इसी अवसर पर नाट्य मंडली द्वारा नाटक भी प्रस्तुत किया जाता है। हालांकि नाट्य मंडली में जाति–भेद नहीं माना जाता है। नाट्य मंडली पर उपन्यास में प्रसंग आता है कि ''नाटक की तैयारी बहुत पहले से की जाती है और इस पार्टी में बिना भेद सभी जाति के लोग भाग लेते है। युवक लोग पूरा उत्साह दिखाते हैं। बूढ़े लोग शाम को आपस में बैठकर बात करते। इस बार लक्ष्मीमाई की पूजा खूब धूम–धाम से मनावा लोग।''[41] हालांकि उपन्यास में हिन्दू देवी–देवताओं को लेकर ऐसे कई प्रसंग है जहाँ पर जाति भेद दिखायी नहीं देता है और जिससे कई सवाल खड़े होते हैं। लेखिका ने उपन्यास में जिस समाज विवरण दिया है उसमें 'जाति का दानव' कदम–कदम पर दिखायी देता है परन्तु पूजा–पाठ के विवरण में जाति भेद खत्म हो जाता है। उपन्यास में आये इन प्रसंगों के विश्लेषण से हम कयास लगा सकते है कि ब्राह्मणवाद ने सांस्कृतिक स्तर पर हिन्दू धर्म का ऐसा जाल बिछाया है कि दलितों का सामाजिक उत्पीड़न होता रहे परन्तु उन्हें हिन्दू धर्म के खांचे से बाहर नहीं जाने देना है। हालांकि उपन्यास में आये शादी–विवाह का विवरण दलित जाति से सम्बन्धित नहीं है इसलिए दलितों में शादी–विवाह के रीति–रिवाजों के बारे में हम नहीं जान पाते है। महिला उपन्यासकार होने के कारण कावेरी जी ने पूरे उपन्यास में पर्व–त्यौहार, शादी–विवाह आदि की रस्मों रीतियों को सूक्ष्मता से पिरोया है। पूरे उपन्यास में दलितों की संस्कृति के कुछ पहलू यथार्थ रूप में सामने आये है।

उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' में बुलन्दशहर के दरियापुर गाँव के दलितों (जाटव) की सामाजिक–सांस्कृतिक विशेषता का वर्णन है। दलित उपन्यासकार

ने दरियापुर गाँव की किस्सागोई में दलितों की पूरी एक पीढ़ी की बदलती हुई सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना को पकड़ने की कोशिश की है। दरियापुर गाँव की बसावट के बारे में लेखक ने स्वयं ही कहा है कि गाँव के तीन चौथाई हिस्से में गूजर बसते थे और एक चौथाई हिस्से में पाँच घर मुसलमानों का तथा जाटवों का मुहल्ला बसता था। जाटवों के मुहल्ले के बारे में उपन्यासकार लिखता है कि ''जाटव मुहल्ला भी अर्थात् जटवाड़ा भी, जिसमें जाटव बसते हैं, चार मुहल्लों में बंटा है। है तो जटवाड़ा किन्तु गूजर पुकारते हैं इसे चमरवाड़ा। चार मुहल्लों –सामलीजौम,' 'बिलौटाजौम', 'कल्लूजौम', मंगलापाड़ा में बंटा है जटवाड़ा और इन चार मुहल्लों में मुकदमेंबाजी, जूतमपैजार, सिरफुटौव्वल चलती ही रहती है।''[42] हालांकि जाटवों के इन आपसी टकरावों से हमें यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि उनमें एकता नहीं है। चार मुहल्लों में बंटे होने के बावजूद उनकी अपनी पंचायत् भी है जिसके माध्यम कई मसलों पर सामूहिक निर्णय लेकर जाटव समाज गूजरों की वर्चस्वता का प्रतिरोध भी करता है। यह प्रतिरोध सामूहिक सशस्त्र संघर्ष तक चला जाता है।

जाटव मुहल्ले की सामाजिक–सांस्कृतिक हिस्सेदारी में कुएँ का विशेष स्थान है। यह कुआँ पूरे मुहल्ले के पेयजल से लेकर नहाने तक में विभिन्न सामूहिक क्रियाकलापों का अड्डा है। कुएं के जल से ही जाटवों की कई पीढ़िया पली–बढ़ी हैं। गूजरों द्वारा कुएं पर कब्जा जमाने के बाद जाटवों की पंचायत गूजरों के खिलाफ मान–मनौव्वल से लेकर लाठी–भाले से सशस्त्र संघर्ष तक की यात्रा तय करती है। कुंए पर कब्जे की लड़ाई का यही मामला पंचायत जाटव बुजुर्ग मथुरा के नेतृत्व में कोर्ट तक लेकर जाती है। कोई कह सकता है कि जाति संगठन सामन्तीकाल की संरचना है परन्तु यहाँ पर इसी पंचायत द्वारा दलितों के सामूहिक प्रतिरोध को एक सकारात्मक दिशा मिलती है। लेकिन समय के बदलते दौर में नल के अविष्कार ने कुएँ की सामाजिक–सांस्कृतिक सत्ता को अपदस्थ कर दिया। कुँए से जुड़ी वो सामूहिक–सांस्कृतिक चेतना जिसमें मुहल्ले के पनिहारिनों के हंसी–ठिठोले थे, पुरुषों का सामूहिक स्नान था, दल्ले गपोड़ी की कथायें थी और इन सबसे

बढ़कर गुजरों के खिलाफ सामूहिक प्रतिरोध की स्मृतियाँ थी, इन सब पर विस्मृति की धूल छा गई। कुएं के विवरण से हम कह सकते हैं कि– समय के बदलते दौर ने दलितों के जीवन में सामूहिक, सामाजिक–सांस्कृतिक क्रियाकलापों को बदला है।

जाटव मुहल्ले की जीविका का आधार खेत मजदूरी है। दरियापुर गाँव के लगभग सारे खेतों के मालिक गूजर है और लगभग पूरा जाटव–समाज उनका खेत–मजदूर है। गूजरों में फसल कटाई के मौसम में जाटव मजदूरों के लिए होड़ लग जाती है। उपन्यास में प्रसंग आता है– ''वैसे लगभग हर गूजर किसान के पास पूर्णकालिक जाटव मजदूर है लेकिन इस महीने की बात ही कुछ और है। समय रहते जाटवों को हाँककर न लाए तो दूसरे ले जाएंगे। गूजरों के मुहल्ले में इसी को लेकर बेचैनी है। बूढ़े अपने जवान बेटे, पोतों को नींद से उठा रहे हैं– उठो–उठो 'मजूर' घेर कर खेतों में पहुँचों।''[43] फसल कटाई का यह मौसम दलितों के मुहल्ले में भी उत्साहवर्धन कर देता है। चूँकि खेत तो उनके पास है नहीं इसीलिए उनको आधे वर्ष के खाने का इंतजाम इसी मौसम में करना होता है। मुहल्ले के जो लोग भी कामगार वय में आते है, वह सभी गूजरों के खातों में फसल कटाई के काम में लग जाते है। उपन्यास में ऐसे मौसम में जाटव मुहल्ले का वर्णन आता है– जाटवों का इन दिनों पूरा मुहल्ला ही जैसे खाली हो जाता है, गाँव में या तो खाँसते–खँखारते बूढ़े झटोला हुई खांटो पर हुक्का गुड़गुड़ाते मिलेंगे या बहुत छोटे बच्चे ठीकरों–कंचों से खेलते,.... औरते–लड़कियाँ हाथों में दराँती और कमर में 'नातने' (मोटे वस्त्रों से फाड़कर बनाया गया रूमालनुमा बड़ा टुकड़ा) में बंधी चार मोटी–झोटी रोटियाँ और प्याज के गंठे लटकाएँ, पैरों के छन्न बजाती, समवेत स्वरों में न जाने किन राजकुमार–राजकुमारियों के गीत गाती खेतों की ओर निकल पड़ेंगी।''[44] उपन्यास के इस प्रसंग से साफ जाहिर होता है कि दलितों की इस श्रम संस्कृति में स्त्रियों की भी बराबर हिस्सेदारी है। इस श्रम संस्कृति के लिए फसल कटाई का ये मौसम किसी पर्व जैसा हो जाता है, जहाँ नहाने–धोने की सुध छोड़कर उनके मन–मस्तिष्क में सिर्फ काम ही काम होता है।

समय और परिस्थितियों के दबाव में जाटवों की इस श्रम संस्कृति में भी परिवर्तन आया है। कुएँ के झगड़े के फलस्वरूप गूजरों ने जाटवों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया। परिस्थितियों के दबाव में आकर जाटव समुदाय ने भुखमरी से बचने के लिए दूसरे तरह के कार्य करने की कोशिश की लेकिन बाजार ने उन्हें यहाँ भी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। बाबूराम ने मूंज की रस्सी बनाने का काम शुरू किया परन्तु बनियों ने उसे लेने से इन्कार कर दिया। जाटव मुहल्ले के कुछ लोगों द्वारा चाँदी के वर्क बनाने के कार्य का भी यही हश्र हुआ। इस पूरे प्रकरण से साफ जाहिर होता है कि दलित समाज ने जब भी अपने परम्परागत पेशे को छोड़ने की कोशिश की है तो पारम्परिक समाज ने उन्हें उनके दायरे में लौट जाने को विवश किया है। समय के एक लंबे दौर के बाद जब उपन्यास का नायक दरियाव गाँव वापस पहुँचता है, तो जटवाड़े के परम्परागत जीविका के साधनों में बाजार ने तब्दीली कर दी है। पहले जटवाड़े का श्रम शोषण गूजर समाज करता था बस परिस्थितियाँ इतनी ही बदली है कि जटवाड़े के युवाओं का शोषण अब मिल और फैक्ट्रियाँ कर रही हैं। गाँव का गपोड़ी दल्ले दरियाव से कहता है– अब वे दिन तो रहे नहीं, भैया, कि गूजरों के खेतों में काम करके साल–भर के लिए नाज का इन्तजाम हो जाया करता था। अब तो यह है कि चाहे बगल के शहर में फैक्ट्री में सफाई का काम ही क्यूँ न पड़ जाय गूजरों के खेत में कोई मजदूरी नहीं करता।''[45] उपन्यास का यह वक्तव्य दलित समाज में जीवन–यापन के साधनों में आये बदलाव को रेखांकित करता है। परम्परागत पेशों से मुक्त होते दलित समाज के सामने रोजगार को लेकर बाजार ने नई समस्याएँ खड़ी की है। दलित उपन्यासकारों को अब इन समस्याओं के संरचनागत तथा व्यावहारिक विरोधाभासों को लेकर साहित्य सृजन करने की आवश्कता है। बदलती हुई व्यवस्था में दलित मजदूरों का ही शोषण प्रबल हुआ है। अर्थव्यवस्था के नये रूप में भी दलित समाज के ही सबसे ज्यादा अकुशल मजदूर हैं और मिलों–फैक्ट्रियों में इन्हीं का शोषण बढ़ रहा है।

दरियापुर गाँव का जाटव समुदाय धर्म को लेकर संक्रमणकालीन स्थिति में दिखायी देता है। उपन्यास के आरम्भिक हिस्से में ही लेखक कहता है कि

''यद्यपि न तो इनके मुहल्ले में कोई बौद्ध मंदिर–विहार ही है और न ही किसी बौद्ध भंते ने इनको बुद्ध धर्म की दीक्षा दी है क्योंकि ये लोग बाबा साहब के अनुयायी हैं सो बुद्ध धर्म के भी अनुयायी स्वतः ही हो गए हैं, लेकिन पूजा–पाठ करते है अनगिनत हिन्दू देवी–देवताओं की ही। ये शीतला माता को धोक लगाते है, 'भूमियामाई', अहोमाई छट के व्रत रखते है, पीर और नौगजापीर को चढ़ावे चढ़ाते है, चामुंडा माई के थान पर माथा टिकाते है, लंगुरिया के गीत गाते ज्वाला जी और हिंगलाज देवी की जात लगाते सैकड़ों कोस भटकते है।''[46] उपन्यास में आया यह विवरण जहाँ धर्म के मसले पर कुछ चीजों को स्पष्ट करता है, वहीं धर्म परिवर्तन की मुहिम जनता के बीच यथार्थ के धरातल पर किस रूप में पहुँची, उस पर भी सवाल खड़े करता है। हिन्दू देवी–देवताओं के इतर जिन देवी–देवताओं का नाम आता है, वे इसकी निशानदेही हैं कि किसी समय में दलितों का अपना भी कोई धर्म था। विपक्षी सत्ता की सनक तथा खुद की जहालत और भुखमरी की जिंदगी ने उनकी सामुदायिक सांस्कृतिक पहचान को नष्ट कर दिया। बाबा साहब अम्बेडकर के धर्म परिवर्तन ने दलितों के बीच इस मुहिम की शुरुआत की कि उन्हें हिन्दू धर्म में रहकर बराबरी का दर्जा नहीं हासिल होने वाला है। परन्तु धर्म द्वारा निर्मित संरचनायें, स्मृतियाँ किसी भी समुदाय से एकाएक समाप्त नहीं होती है। किसी समुदाय की पीढ़ियों में सदियों से वो स्मृतियाँ रची–बसी हैं, सिद्धान्त के स्तर पर किसी विशेष को धर्म ख़ारिज करने के बावजूद उसके अवशेषों से वह समुदाय पीछा नहीं छुड़ा पाता है। उपन्यास में आया चावली के पिता का प्रसंग इसी यथार्थ को प्रस्तुत करता है। चावली के पिता ने आर्य समाज से मोह भंग होने के बाद ईसाइयत स्वीकार कर लिया । चावली अपने पिता के धार्मिक–विश्वास के हश्र पर बताती है कि– ''धर्म के प्रति और चर्च के प्रति बाबा की श्रद्धा दिनों–दिन बढ़ रही थी। लेकिन बहुत ही विचित्र रूप में बाबा शराब पीकर कभी भी ईसाइयत की कोई बात मुँह से न निकालते थे, अर्धबेहोशी की हालत में उनके मुख से केवल ओम....शांति.... ही निकलता था जिसके पश्चात वे अपने आपको प्रताड़ित करते थे और उस धर्म को गालियों से नवाजते थे।''[47]

उपरोक्त वक्तव्य में चावली के पिता की स्थिति उन दलितों की नज़ीर है जिन्होंने धर्म परिवर्तन किया। चावली के पिता में बचपन से भरे गये वे हिन्दू संस्कार ही हैं जो अवचेतन के स्तर पर बाहर निकलकर आते है। चेतन मस्तिष्क से तथा जिंदगी की परिस्थितियों के कारण उन्होंने अपने पुराने धर्म को छोड़ दिया परन्तु उसकी स्मृतियों से मुक्त होने के लिए वह संघर्ष कर रहे हैं। गुजरते वक्त के साथ दलितों की नयी पीढ़ियों में आ रही हिन्दू धर्म की ललक को भी उपन्यासकार ने लक्षित किया है। दरियाव द्वारा बाबा साहब के अनुयायी जयचंद से कांवड़ के बारे में सवाल पूछने पर जयचंद जवाब देता है कि ''भैया बड़े बेटे को हिन्दुत्व का शौक चढ़ा है। प्रतिवर्ष सावन के महीने में कांवड़ कंधे पर लटकाए गाँव से 'हरदुआर' तक जाता है। वहाँ से गंगाजल लाने के लिए कांवड़ियों के गिरोह में शामिल होकर प्रन्द्रह दिन तक न जाने कहाँ–कहाँ तक भटकता है।''[48] यह वक्तव्य दलित आन्दोलन को उस हकीकत से रूबरू करवाता है जिसमें गाँवों के दलितों की नयी पीढ़ियाँ तेजी से हिन्दुत्व की तरफ रूख कर रही है। साथ ही यह सवाल भी उठता है कि क्या दलित आन्दोलन शहर कन्द्रित हो गया है या उसका प्रभाव उच्च शिक्षित जनता तक ही सीमित हो रहा है?

दरियापुर के पुरुषों की वेशभूषा समान है परन्तु जाटव स्त्रियों की वेशभूषा में विभिन्नता दिखायी देती है। उपन्यास में जाटव स्त्रियों की वेशभूषा का निम्न वर्णन आता है– ''जाटवों की बहुँए भाषा के समान ही अपने पीहरों से साड़ियाँ भर संदूकचियों समेत जब इस दरियापुर में ब्याह कर आती है, तो ठीक ब्रजभाषा की तर्ज पर दो चार बच्चों की माँएँ बनने तक साड़ियों में लिपटी रहती है और जिस प्रकार ब्रजभाषा का दरियापुर की लट्ठमार भाषा में पारगमन धीरे–धीरे होता है उसी के समान ये बहुँए भी साड़ियों से बीस गज के लहंगा–घाघरे में धीरे–धीरे जाती है। इस प्रकार जाटवों के मुहल्ले में नई बहुएँ तो साड़ियों में लिपटी मिलेंगी और पुरानी हो चुकी बहुएँ और ठेठ बुढ़ियाएँ बीस–बीस गज के घाघरों में भी दिख जाएंगी। मर्द, गूजर और जाटव दोनों ही कुर्ता, कमीज, पाजामा धोती में।''[49] हालांकि उपन्यास के अन्त में

लेखक ने जाटव समाज के वेशभूषा में किसी परिवर्तन पर बात नहीं रखी है परन्तु सिनेमा, टी.वी. तथा बाजार के बढ़ते हुए प्रभाव ने ग्रामीण पारम्परिक वेशभूषा को बदलकर एकसार बनाने की कोशिश की है। अतः यह भी जानने का एक विषय होगा कि ग्रामीण जाटव समाज की पारम्परिक वेशभूषा में क्या कोई परिवर्तन आया है। साथ ही विवरण से स्पष्ट होता है कि वेश–भूषा के मसले पर जाति से ज्यादा प्रभाव क्षेत्र का पड़ता है।

जहाँ तक दलित समाज के पारम्परिक रीति–रिवाज, शादी–विवाह एवं अन्य संस्कारों की बात है, वह समाज के मुख्यधारा से भिन्न हैं। जाटव समाज में शादी–विवाह तय करने के मसले मुहल्ले के बुजुर्गों के द्वारा तय होते थे। भागो के विवाह के प्रसंग में हमें बान तेल तथा लड़की के घर के आंगन में मंढा स्थापित करने की रस्म का विवरण मिलता है। हालांकि उपन्यास में आये विवरणों से स्पष्ट होता है कि जाटव समाज की शादियाँ बगैर ब्राह्मण–पुरोहित के मंत्रों एवं संस्कारों के होती थी परन्तु आर्य समाज के प्रभाव में महाशय डालचंद गायत्री मंत्र पढ़कर विवाह करवाते हैं। कुएँ वाली लड़ाई के प्रसंग में दसोंदी की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रसंग में दरियापुर के जाटव समाज का मृत्यु संस्कार आता है। यह दलित समाज मृत्यु संस्कार के मसले पर हिन्दू धर्म की प्रक्रियाओं जैसे मुखाग्नि, चिता, आदि का पालन करता है परन्तु इन संस्कारों में भी किसी ब्राह्मण–पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार 'थमेगा नहीं विद्रोह' में आये जाटव समाज की संस्कृति कुछ मायनों में हिन्दू धर्म का पालन जरूर करती है परन्तु वहाँ पर भी ब्राह्मण की सर्वोच्चता की मुखालफत दिखायी देती है। उपन्यासकार ग्रामीण दलित जीवन की संस्कृति को प्रस्तुत करने में कामयाब रहा है तथा समय के साथ इसमें आ रहे परिवर्तनों को भी कामयाबी के साथ पकड़ा है।

'उधर के लोग' उपन्यास में आया दलित समाज शहरी मध्य वर्ग से है। उपन्यास में आये दलित पात्र आई.ए.एस., आई.पी.एस. तथा प्रोफेसर जैसे उच्च पदों पर आसीन हैं। हालाकि इन पात्रों का बचपन दलितों की उन्हीं बस्तियों में बीता है तथा उनके पहले की पीढ़ियों ने दलितों के हिस्से में सौंप दिये गए

परम्परागत पेशों से ही परिवार का पालन–पोषण किया है। उपन्यास का नायक जो कि प्रोफेसर है, उसके पिता सफाई विभाग में काम करते हैं तथा दलितों की खटिक जाति से है। सुशील आई.पी.एस है तथा उसकी माँ ने पिता की मृत्यु के बाद 'वाटर वुमैन' की नौकरी करके उसका पालन–पोषण किया है। सुशील दलितों की 'वाल्मीकि' जाति से सम्बन्धित है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि दलित जातियों के जिन लोगों ने शहरों का रूख अख्तियार किया था, उनकी अगली पीढ़ियों को चेतनशील होने एवं शहरी संसाधनों के कारण इसका फायदा मिला। उन्होंने अपने पारम्परिक पेशों से हटकर नौकरी, व्यवसाय आदि में हाथ आजमाये तथा सफल भी हुए। उपन्यास में ज्यादातर विवरण दलितों की खटिक जाति का ही है।

उपन्यास में आया खटिक समाज धर्म के मसले पर स्पष्ट नहीं है। उपन्यास का नायक धर्म के मसले पर कहता है कि, ''पापा ने हिन्दू धर्म में तो आस्था छोड़ दी थी कभी की, पर किसी धर्म की तरफ, औपचारिक रूप से वह भी नहीं बढ़ पाए थे। पापा से कोई उनका धर्म पूछता था तो वह बौद्ध धर्म ही बताते थे। पर विधिवत रूप से, वह उसकी शरण में नहीं गए थे। माँ कम से कम साफ थी कि वह हिन्दू है।''[50] उपन्यासकार ने आगे की पंक्तियों में बताया है कि बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कोई शासकीय व्यवस्था नहीं है। उपन्यास की इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि दलितों में भी चेतना के कारण जिन लोगों ने हिन्दू धर्म को छोड़ दिया है उनके परिवार के बाकी सदस्यों ने जरूरी नहीं है कि अपने पुराने धर्म को छोड़ा हो। दूसरी बात जो उपन्यासकार कहता है कि शासन–प्रशासन के प्रमाण पत्रों में अभी भी उनकी पुरानी स्थिति बरकरार रखी गयी है तथा बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं है।

उपन्यास में आये विभिन्न प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि शहरी दलित मध्य वर्ग में अन्तर्जातीय विवाह को स्वीकार कर लिया जाता है। नायक ने स्वयं अपना पहला प्रेम विवाह ब्राह्मण लड़की से किया था। नायक के पिता चेतनशील हैं इसीलिए उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह पर कोई विरोध नहीं किया।

उन्होंने स्वयं भी अपने बेटों की शादियाँ दलितों की अन्य जातियों में की। नायक का दूसरा विवाह बौद्ध धर्म के रीति–रिवाजों से सम्पन्न हुआ व वही नायक के छोटे भाई का विवाह मिश्रित रीति से होता है। उपन्यास में इसका विवरण निम्न प्रकार आता है– ''शादी सकुशल निपट गई थी। पंडित ने फेरे कराते वक्त सप्तपदी की जगह गायत्री मंत्र पढ़कर विवाह करा दिया था। भन्ते ने पहले ही अपना कार्यक्रम निपटा लिया था। उन्हें पंडित की तरह महूर्त का इन्तजार नहीं था। पंचशील और त्रिशरण के माध्यम से शादी के सामाजिक बन्धन में बंध गए थे, राहुल–सुमन।''[51] इस विवरण से स्पष्ट होता है कि दलित मध्यम वर्ग ने रस्मों–रिवाजों के मसले पर सुविधा–परक रूख अख्तियार किया है। उनके लिए कहीं–कहीं पर शादी–विवाह में ब्राह्मण की उपस्थिति सामाजिक स्वीकार्यता के प्रतीक के रूप में उभरी है।

दलितों के इस शहरी समाज में विवाह से पूर्व दुल्हे की माँ के भाईयों द्वारा 'भात–चढ़ाने' जैसी रस्मों का भी जिक्र आया है। यह दूल्हे की माँ के पीहर का रूतबा तथा उसके प्रति भाइयों के प्रेम को दर्शाता है। हालांकि ऐसी रस्मों के दूसरे पक्ष में हम पितृसत्ता का प्रभाव भी देख सकते है। जिन घरों में लड़का पैदा नहीं होता है, उस घर की लड़कियों को ऐसे अवसरों पर अपमानित होना पड़ता है। उपन्यास में इसी प्रसंग पर लेखक ने स्त्रियों द्वारा गये जाने वाले गीतों को भी प्रस्तुत किया है–

''नैना मार–मार
नणदी ने
मोह लियो भातैया,''[52]

× × ×

इसके अलावा भी उपन्यासकार ने विवाह के अवसर पर दूल्हे को हल्दी लगाने के प्रसंग में स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले विभिन्न गीतों को प्रस्तुत कर उपन्यास के सांस्कृतिक पक्ष को मजबूत किया है। हालांकि उपन्यास में शादी के अवसरों पर दहेज के बारे में खुलकर चर्चा नहीं हुई है। दलितों के बनते

इस मध्यवर्ग में दहेज की चर्चा स्त्रियों के ही बीच होती है। आधुनिकता और बाजार ने दहेज को 'गिफ्ट' में तब्दील कर दिया है। खान–पान के मसले पर दलित समाज में भी परिवर्तन आया है। बाजार ने शादी–विवाह के अवसरों पर मनुहार करके अतिथियों को खिलाने की परम्परा को बदल दिया है। उपन्यासकार शादी–विवाह के अवसरों पर इस बदली हुई परम्परा को रेखांकित करता है– ''इन पिछले बीस वर्षों ने इसकी काया और माया दोनों पलट दी थी। साग–पूरी और सन्नाटे की जगह छोले, मटर–पनीर और नान ने ले ली थी। पंगत, बुफे में उठ खड़ी हुई थी। मिट्टी के सोंधियाए सकोरे और भीगी पत्तलों की जगह गन्दे पानी में बार–बार धुलती चीनी की प्लेटे आ गई थी। अब खाने की पूछते–दौड़ते और जबरदस्ती एक–एक पूरी खिलाते हाथ रोकते–रोकते भी लड्डू बरफी, इमरती रखते रिश्तेदार गायब हो गए थे।''[53] उपन्यास में आये इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि उपन्यासकार ने दलितों के बीच बनते हुए शहरी मध्य वर्ग की संस्कृति को सूक्ष्मता से उकेरा है। शहर और बाजार ने दलित संस्कृति में जो परिवर्तन किये हैं उपन्यासकार ने उसकी भी नोटिस ली है। दलितों के बीच बनते इस मध्यवर्ग की तमाम सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं पर बाजार ने गहरा प्रभाव डाला है। तमाम सामाजिक–सांस्कृतिक मसलों पर यह वर्ग उच्च तबके की ही नकल कर रहा है।

उपन्यास 'सुबह के लिए' मूलतः शिक्षा संघर्षों पर केन्द्रित है। उपन्यास में आया दलित समाज 'वाल्मीकि' जाति से संबंधित है। उपन्यास में आये दलित समाज के सांस्कृतिक पहलुओं पर उपन्यासकार ने कम ध्यान दिया है। उपन्यास में आया दलित समाज भूमिहीन है तथा उसकी जीविका का साधन खेत–मजदूरी है। गाँवों की परम्परानुसार वहाँ के दलित जाट किसानों के यहाँ स्थायी मजदूरी करते है। उपन्यास में आये दलित समाज का शैक्षिक स्तर निम्न है जिसके फलस्वरूप पूरा समाज घोर अन्धविश्वासी है। लोगों के बीमार होने पर डॉक्टर से इलाज करवाने के बजाय सोखा–ओझा की शरण में जाते हैं। इसी अन्धविश्वास के कारण उपन्यास के नायक के पिता की मृत्यु भी हो जाती है।

उपन्यास में विवाह का भी वर्णन आता है। हालांकि उपन्यासकार ने शादी की रस्मों का कोई खास विवरण नहीं किया है जिससे हम यह नहीं जान पाते कि शादी हिन्दू रीति–रिवाजों से होती है या दलितों की अपनी कोई विशिष्ट परम्परा है। चूँकि उपन्यास में आया दलित समाज बेहद गरीब है इसीलिए दहेज के मसले पर नकद लेन–देन न होकर कपड़े और अन्य सामानों के रूप में होता है जिसे हम दहेज न कहकर लड़की वालों की तरफ से 'उपहार' के रूप में देख सकते हैं। उपन्यास के नायक विक्रम के पिता काले की मृत्यु का प्रसंग आता हे। यहाँ पर उपन्यासकार ने मृत्यु के प्रसंग में सिर्फ पत्नी की चूड़िया तोड़ने तथा बेटे का सर मुंडन करने का सिर्फ जिक्र किया है। अतः हम उपन्यास के बारे में कह सकते है कि लेखक के सामाजिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करने की वजह से उपन्यास के सांस्कृतिक पक्ष की अवहेलना हुई है।

उपन्यास 'भंवर' में आया दलित समाज 'वाल्मीकि' जाति से सम्बन्धित है। उपन्यास में आये दलित समुदाय में संयुक्त परिवार व्यवस्था दिखायी देती है। इस दलित समुदाय में ज्यादातर लोग सफाई का कार्य करके जीवन यापन करते हैं। हालांकि पढ़ा लिखा समूह (लोकेश) लीक से हटकर अन्य व्यवसायों में भी रूचि दिखाता है तथा उसमें सफल भी होता है। शिक्षा का स्तर निम्न होने के कारण यह समुदाय अंधविश्वासी भी है जिसकी बानगी हमें पुत्र पैदा करने के 'टोटके' में दिखायी देती है। इस समाज में भी पितृसत्ता के प्रभाव के कारण जिन स्त्रियों द्वारा पुत्र नहीं पैदा होता, उनका समुदाय एवं परिवार में स्तर गिर जाता है।

पुष्पा की शादी के विवरण में हम देखते हैं कि दलितों में शादी से पूर्व लड़की के मामा की तरफ से 'छोचक भरने' जैसी रस्में अदा की जाती हैं। तत्कालीन समय में दलित समुदाय में भी गोत्र मिलाने जैसी कवायदें की जाती थी। उपन्यास में विवरण आता है– ''तीन–तीन गोत्र मानते है बताओ। बाप का भी, माँ का भी और दादी का भी। तीनों गोत्रों में से एक भी सामने वाले का हो तो रिश्ता नहीं हो सकता। शुक्र है अब नानी के गोत्र 'नानी कानी किसने

मानी' के तहत नहीं चलाते वरना परेशानी और ज्यादा बढ़ती।''[54] उपन्यासकार ने शादी–विवाह के अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों को प्रस्तुत कर संस्कृति को सहेजने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस दलित समुदाय में हिन्दू रीति रिवाजों से ही विवाह होता है तथा समय के बदलते दौर ने दलित समुदाय में भी तमाम परिवर्तन किये हैं। सुधाकर और अनामिका के विवाह प्रस्ताव की स्वीकृति से हम समझ सकते है कि दलित समुदाय में अन्तर्जातीय विवाह को अनिच्छित रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। नेहा की शादी के प्रसंग में हम देखते है कि आर्थिक रूप से मजबूत होने पर दलित समुदाय भी शादी–विवाह के अवसर पर मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों को अपना रहा है। उसने भी सामाजिक समारोहों के अवसर पर बाजार तथा उच्च तबके की नकल करना प्रारम्भ कर दिया है। हालांकि उपन्यास में दलित जीवन संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को और अधिक उभारने की आवश्यकता दिखाई देती है।

इस प्रकार हम देखते है कि विवेच्य उपन्यासों में दलित समाज की संस्कृति के विविध पक्ष सूक्ष्म रूप से सामने आते हैं। दलित समुदाय में प्रचलित विभिन्न रीति–रिवाज एवं मान्यताएँ उसे उच्च वर्ण–जाति की संस्कृति से अलग करती है। सत्ता एवं बाजार ने दलित संस्कृति में भी सेंध लगाई है तथा जिसके कारण इस समुदाय में भी कुछ मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ है। हालांकि दलित उपन्यासकारों ने अपने तई दलित संस्कृति के कुछ प्रतिरोधी मूल्यों को सूक्ष्मता से उकेरा है परन्तु उसके जीवन्त–चित्रण की कमी स्पष्ट दिखायी देती है। हालांकि दलित उपन्यास लेखन के नियमित दौर की यह अभी शुरुआत है। इससे यह उम्मीद बनती है कि आगे चलकर कुछ और सशक्त रचनायें आएँगी। जिनमें दलित संस्कृति की सशक्त छवि उभरकर सामने आयेगी।

संदर्भ

[1] प्राथमिक स्त्रोत– सचदेव डी.आर./विद्याभूषण, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, पृष्ठ 734
द्वि. स्त्रोत– कुमार निरंजन साहित्य का समाजशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एडं डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. नई दिल्ली, प्र. सं. 2010, पृष्ठ 87

[2] वही

[3] सईद एडवर्ड, वर्चस्व और प्रतिरोध, प्रस्तुति और अनुवाद– रामकीर्ति शुक्ल नयी, किताब, दिल्ली, प्र.सं. 2015, पृष्ठ 298

[4] कश्यप श्री ओमप्रकाश (सं.), बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड 17, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सं. 2000, पृष्ठ 77

[5] लिम्बाले शरण कुमार, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, अनु. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2010, पृष्ठ 102

[6] सेठ, कैलाश चन्द्र (सं.), बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड–10, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सं. 2013, पृष्ठ 168

[7] बड़त्या सूरज, सत्ता संस्कृति और दलित सौन्दर्यशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स प्रा.लि. दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ 22

[8] वही, पृष्ठ 39

[9] वही, पृष्ठ 26

[10] सईद एडवर्ड, वर्चस्व और प्रतिरोध, प्र. और अनु. रामकीर्ति शुक्ल, नयी किताब, दिल्ली, प्र. सं. 2015, पृष्ठ 298

[11] सेठ कैलाश चन्द्र, नैमिशराय मोहनदास (सं.), बाबा साहेब, डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड–7, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, सं. 2000, पृष्ठ 157

[12] दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2009, पृष्ठ 138

[13] कर्दम जयप्रकाश, समाज संस्कृति और दलित, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2015, पृष्ठ 103

[14] दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सं. 2009, पृष्ठ 199

[15] सेन देवीदयाल, मानव की परख, आत्माराम एंड सन्स पब्लि, सं. 1954, पृष्ठ 3

[16] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010, सं. तेज सिंह, पृष्ठ 132

[17] सेन देवी दयाल, मानव की परख, आत्माराम एंड संस पब्लिशर्स, 1954, पृष्ठ 31

[18] वही

[19] वही, पृष्ठ 98

[20] कर्दम जयप्रकाश, करुणा, कंचन प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ 9

[21] वही, पृष्ठ 10

[22] वही, पृष्ठ 22

[23] वही, पृष्ठ 23

[24] कर्दम जयप्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ 5

[25] वही, पृष्ठ 10

[26] वही, पृष्ठ 11

[27] वही, पृष्ठ 17

[28] वही, पृष्ठ 59

[29] सिंह तेज, आज का दलित साहित्य, आतिश प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2000, पृष्ठ 78

[30] दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2009

[31] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जनू 2010 पृष्ठ 79

[32] नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 65

[33] वही, पृष्ठ 02

[34] वही, पृष्ठ 65
[35] वही, पृष्ठ 28
[36] कर्दम डॉ. जयप्रकाश (सं.) दलित साहित्य वार्षिकी–2011, पृष्ठ 171
[37] नैमिशराय, मोहनदास, मुक्ति–पर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 36
[38] मौर्य अभय, मुक्ति–पथ, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2007, पृष्ठ 26
[39] कावेरी, मिस रमिया, आकाश पब्लि. एंड डिस्ट्री. गाजियाबाद (उ.प्र.) प्र.सं. 2007, पृष्ठ 7
[40] वही, पृष्ठ 27
[41] वही, पृष्ठ 33
[42] जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृष्ठ 24
[43] वही, पृष्ठ 27
[44] वही, पृष्ठ 31
[45] वही, पृष्ठ 310
[46] वही, पृष्ठ 310
[47] वही, पृष्ठ 223
[48] वही, पृष्ठ 319
[49] वही, पृष्ठ 24
[50] नावरिया अजय, उधर के लोग, प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2013, पृष्ठ 63
[51] वही, पृष्ठ 107
[52] वही, पृष्ठ 97
[53] वही, पृष्ठ 120
[54] चौहान कैलाश चन्द, भंवर, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2013, पृष्ठ 138

षष्ठ अध्याय

हिन्दी दलित उपन्यास की विकास यात्रा : भाषा एवं शिल्प का बदलता स्वरूप

(क) भाषा

अपने शुरुआती दौर से ही दलित साहित्य ने पारम्परिक हिन्दी साहित्य के बने–बनाये मापदण्डों को खारिज़ करके अपने खुद के मापदण्ड विकसित करने का कार्य किया। दलित साहित्यकारों को समाज से मिलने वाले अनुभव का प्रभाव इतना तीक्ष्ण एवं दग्ध कर देने वाला था कि वह साहित्य के बने–बनाये खांचों में समा ही नहीं सकता था। दलितों की जिंदगी का जो यथार्थ अभी तक साहित्यिक दायरे से बाहर था, या जिन पर पारम्परिक साहित्यकार लिखने में कोताही बरत रहे थे, उसे दलित साहित्यकारों ने अपनी सहित्यिक विधाओं में केन्द्रपरक बना दिया। दलितों के शोषण का इतिहास सदियों पुराना है, सदियों से ही उन्हें हीनताबोधक सम्बोधनों एवं गालियों का सामना करना पड़ा है, परन्तु इन हीनताबोधक सम्बोधनों एवं गालियों को साहित्यिक दायरे से बाहर ही रखा गया और अगर इनको जगह मिली भी तो उसका महत्व महज प्रतीकात्मक ही रहा। जिन गालियों एवं अपनामसूचक सम्बोधनों का सामना दलित समाज ने अपने रोजमर्रा की जिंदगी में किया या कर रहा है, पारम्परिक साहित्य के भद्रवादी एवं शुद्धतावादी दायरे में उसका जिक्र भी नहीं किया गया। साहित्य अगर समाज का दर्पण है तो यह सवाल उठना लाज़मी है कि यथार्थवादी, समाजवादी कहे जाने वाले साहित्य में भी दलित समाज के इस यथार्थ को अछूता क्यों छोड़ दिया गया? दरअसल हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी कहे जाने वाले साहित्य ने भी अपना खुद का दायरा बना लिया और उस दायरे में 'दलित समाज' के प्रवेश की साफतौर पर मनाही दिखाती है। अगर उस यथार्थवादी दायरे में दलितों के साथ होने वाली गाली–गलौज एवं अपमानजनक भाषा का प्रवेश हुआ भी तो वह प्रतीकात्मक या प्रचारात्मक ही रहा। एक–दो साहित्यकारों को छोड़कर ज्यादातर पारम्परिक

साहित्यकारों ने दलित जीवन की रोजमर्रा की भाषा को अपनी विशिष्टता दिखाने के क्रम में ही प्रयोग किया और इसे यह प्रचारित करने का माध्यम बनाया कि उन्होंने दलित जीवन के यथार्थ को सूक्ष्मता से साहित्य में प्रस्तुत किया है। इसी प्रवृत्ति के कारण ज्यादातर यथार्थवादी साहित्य में भी दलित जीवन संस्कृति एवं भाषा का कटा–छटा सतही रूप ही दिखायी देता है। सरलीकरण की इन्हीं समस्याओं से रूबरू होते हुए अंर्स्ट फिशर समाजवादी साहित्यकारों को ताकीद करते हैं कि ''कोई भी समाजवादी कलाकार नैतिक इरादे के बिना रचना नहीं कर सकता लेकिन उसे हमेशा ही यह कोशिश करनी चाहिए कि यह इरादा 'स्वार्थपूर्ण' इरादा न बन जाए, प्रचार की दृष्टि से किया गया सरलीकरण न बन जाए, बल्कि कला की दृष्टि से किया गया सरलीकरण न बन जाए।''[1] हिन्दी साहित्य के पारम्परिक साहित्यकारों में दरअसल इसी नैतिक इरादे की कमी दिखती है जिसके कारण उनके द्वारा प्रस्तुत 'दलित चेहरा' सतही एवं सरलीकरण का शिकार हो जाता है। इसी लिए पारम्परिक साहित्य में दलित समाज के प्रस्तुतीकरण को नकारकर दलित समाज के साहित्यकारों ने अपने मुकम्मल हाव–भाव, विरोध–प्रतिरोध, भाषा–संस्कृति के साथ साहित्यिक दायरे में उपस्थिति दर्ज करायी।

दलित साहित्यकारों ने साहित्यिक परिदृश्य में अपनी उपस्थिति के साथ ही अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में प्रयोग होने वाली गाली–गलौज तथा घृणास्पद भाषायी सम्बोधनों को भी साहित्यिक जगत में प्रस्तुत किया। आश्चर्य की बात यह है कि अपनी निजी जिंदगी में ऐसी ही भाषा से दोचार होने वाले दलित साहित्यकारों पर पारम्परिक हिन्दी साहित्यकारों ने अश्लीलता एवं घृणा फैलाने का भी आरोप जड़ दिया। यानि कि दलित समाज के द्वारा झेली जाने वाली इन समस्याओं को एक तो पारम्परिक साहित्यकारों ने शुचिता सम्पन्न दृष्टिकोण के कारण साहित्य में प्रस्तुत नहीं किया, दूसरी तरफ उसी तबके के साहित्यकारों ने जब इन तथ्यों को प्रस्तुत किया तो उन्हीं को सवालों के घेरे में खड़ा कर दिया। इसी शुचितावादी दृष्टिकोण को खारिज़ करते हुए माता प्रसाद लिखते है कि ''दलित साहित्यकार अपने या अपने समाज के दलन,

उत्पीड़न, शोषण, अपमान, महिलाओं के साथ बलात्कार, व्यभिचार की बातें सामने रखकर उसके विरोध, प्रतिरोध या प्रतिशोध के लिए उकसाता है, इसीलिए उसकी भाषा में कड़वाहट, रोष, क्रोध, चिल्लाहट, आन्दोलन और संघर्ष को बढ़ाने वाले शब्द होते हैं।... दलित साहित्यकार की भाषा घुमाव–फिराव वाली न होकर स्पष्ट और सपाट होती है। वह श्रमण संस्कृति का पोषक है, इसलिए उसमें स्वाभिमान होता है।''[2] माता प्रसाद ने प्रस्तुत वक्तव्य के माध्यम से न केवल उन आरोपों का जबाव दिया है वरन् उन स्थितियों–परिस्थितियों की शिनाख्त भी की है जिनके कारण दलित साहित्यकारों की भाषा में वो गुस्सा व तनाव दिखता है। इन्हीं बातों की तस्दीक करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि भी लिखते हैं कि ''कुछ आलोचक दलित साहित्य में गन्दी और अश्लील भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करते हैं। उन्हें लगता है साहित्य का पाठ 'पवित्र' होना चाहिए। भले ही उसमें बनावटी भाषा, जो अभिजात्य संस्कारों से रची–बसी हो, का प्रयोग करना पड़े। यह धारणा उचित नहीं है क्योंकि दलित साहित्य कल्पना में नहीं जीता। वह जीवन के कटु यथार्थ से रूबरू होता है।''[3]

उपरोक्त वक्तव्य में वाल्मीकि ने अब तक चली आ रही हिन्दी साहित्य की अभिजात्यवादी भाषा को नकार दिया है। जाहिर सी बात है कि 'जूठन', 'अपने–अपने पिंजरे' या 'मेरा बचपन मेरों कंधों' पर जैसी आत्मकथाओं के लेखकों के जीवन वृत्तांतों को प्रकट करने में यह अभिजात्यवादी भाषा के संस्कार आड़े आ जायेंगे। इसी प्रकार दलित उपन्यासों में ('मुक्तिपर्व' के हगनहट का विवरण, 'थमेगा नहीं विद्रोह' में चावली का दर्द या 'जस तस भई सवेर' के धुसिया, सन्नों या रामरती की वेदना) दलित पात्रों के जीवन संघर्ष, उनके शोषण आदि को प्रस्तुत करने में यह अभिजात्य संस्कारों से युक्त भाषा नाकाफी साबित होगी। इसीलिए दलित साहित्यकारों ने भाषा को नये संस्कार, नया रूप, नए शब्द दिए जिससे उनके जीवन संघर्ष, उनकी वेदना, उनका यथार्थ साहित्यिक विधाओं में समा सके। इन्हीं विचारों की तस्दीक करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि ''दलित साहित्य ने संस्कृतनिष्ठ परम्परागत साहित्यिक भाषा, काव्य शैली, प्रस्तुतीकरण को नकारकर सर्वग्राही भाषा का

प्रयोग किया है। ऐसी भाषा जो दलितों की पीड़ा, अपमान व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति बन सके। दलित साहित्य की भाषा नकार और विरोध की भाषा है जिसमें युगों की यातनाएँ साकार हो उठी हैं।''[4]

दलित साहित्य में विभिन्न विधाओं में नियमित लेखन ने हिन्दी साहित्य की 'सुरुचिपूर्ण एवं संस्कारित' भाषा में विभिन्न क्षेत्रों की श्रम संस्कृति एवं लोक भाषा के शब्दों को जोड़कर न केवल उसके कोष में वृद्धि की वरन् उसके कलेवर को भी बदला। इसी क्रम में दलित समाज में प्रचलित खेत–मजदूरी से लेकर उनकी कारीगरी तक में प्रचलित तमाम शब्दों ने साहित्य से जुड़कर साहित्यिक भाषा को लोकपरक बनाने में सहायता की।

भक्तिकाल के जमाने में भी निर्गुण सन्त काव्यधारा के सन्तों ने अपनी वाणियों में अपने व्यवसाय में प्रचलित शब्दों के माध्यम से भक्ति साहित्य को नया आयाम दिया था। कबीर, रैदास तथा दादू जैसे सन्तों ने बुनकर, चर्मकार आदि व्यवसायों में प्रचलित शब्दों के माध्यम से भक्तिकालीन काव्यधारा को एक नये सौन्दर्यबोध से परिचित करवाया। दलित समाज की इसी भाषायी अलहदगी एवं विशेषता की हिमायत करते हुए शरण कुमार लिम्बाले लिखते हैं कि ''दलित साहित्य का यथार्थ अलग है। इस यथार्थ की भाषा अलग है। यह भाषा दलितों की गंवार–असभ्य भाषा है। यह भाषा दलितों की बोली भाषा है। यह भाषा शिष्ट संकेत और व्याकरण के नियम न मानने वाली भाषा है। ऐसा कहा जाता है कि हर एक दस कोस पर भाषा बदलती है किन्तु दलितों के सम्बन्ध में अंतर का गणित गलत ठहरता है। एक ही गाँव में–गाँव की भाषा और अछूत टोली की भाषा में भेद दिखाई देता है।''[5] दरअसल लिम्बाले ने दलितों की भाषा की विशिष्टता दर्शाने के क्रम में सही सवाल उठाया है। जिस तरह एक ही गाँव के उच्च जाति के मुहल्लों तथा दलितों के मुहल्लों में तमाम सामाजिक–सांस्कृतिक अन्तर होता है उसी प्रकार दलित मुहल्ले की भाषा भी गाँव के अन्य मुहल्लों से अलहदा होती है। दलित साहित्यकारों ने अपने घर–मुहल्ले की भाषा को साहित्यिक परिवेश में लाकर साहित्यिक भाषा का लोकतांत्रीकरण किया है।

हिन्दी दलित उपन्यास हिन्दी दलित साहित्य की विकसित होती परम्परा का एक हिस्सा है। हिन्दी दलित उपन्यासकारों ने भी भाषा के स्तर पर अपने उपन्यासों में संस्कृतनिष्ठ, दुरूह भाषा शैली से बचते हुए साधारण बोलचाल की तथा प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग किया है। दलित उपन्यासकारों ने क्षेत्रीय बोली के शब्दों का प्रयोग खड़ी हिन्दी के साथ किया है। उन्होंने कुशलतापूर्वक इस मिश्रित भाषा का प्रयोग किया है जिससे उपन्यास की भाषा के प्रवाह में दुरूहता नहीं आयी है। हालांकि अभी तक हिन्दी दलित उपन्यास लेखन में ज्यादातर उपन्यास दिल्ली या इससे सटे हुए पश्चिमी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं इसीलिए भाषा में इन क्षेत्रों की बोलियों के काफी शब्द आये हैं। हिन्दी प्रदेश के अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित या इन क्षेत्रों के विषय वस्तु पर आधारित दलित उपन्यास का लेखन कम हुआ है। जैसे–जैसे दलित आन्दोलन का विकास होगा, इन बचे हुए क्षेत्रों में भी दलित उपन्यास लेखन होगा जिससे उनके भी क्षेत्रीय श्रम संस्कृति के शब्द साहित्यिक परिवेश पर दस्तक देंगे और हिन्दी साहित्य की भाषा को समृद्ध करेंगे। हालांकि प्रारम्भिक दलित उपन्यासों के लेखन में खड़ी बोली का ही विवरणात्मक शैली में प्रयोग दिखायी देता है। दलित साहित्य लेखन का साहित्यिक महत्व कम, सामाजिक और राजनीतिक महत्व ज्यादा है। इसीलिए दलित उपन्यासों के लेखन में साधारण खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है जिससे अधिक से अधिक दलित जनता इनको पढ़कर प्रेरणा ले और जाति विरोधी आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी कर सके। दूसरे कारण के रूप में हम कह सकते हैं कि दलित साहित्यकारों की सक्रिय साहित्यिक लेखन की यह पहली पीढ़ी है। भाषा के साथ स्वच्छंदता से प्रयोग करने के लिए जिस कुशलता की आवश्यकता होती है, उसका कोई प्रशिक्षण इनको नहीं मिला है। साहित्यिक रचना के लिए जिस अनुभव की आवश्यकता होती है, जिंदगी में संघर्षों के कारण इसकी मात्रा इनके पास अपरम्पार है परन्तु उसको साहित्यिक लहजे में प्रस्तुत करने की शैली का विकास धीरे–धीरे ही होगा।

हिन्दी दलित उपन्यासों में प्राप्त पहला उपन्यास 'मानव की परख' मथुरा–आगरा क्षेत्र पर आधारित है। उपन्यासकार ने अपने स्वकथन में प्रेमचन्द की जिस कदर तारीफ की है उसका प्रभाव उसकी भाषा पर भी दिखायी देता

है। उपन्यास में आया प्रसंग चाहे मथुरा शहर का हो या उसके आसपास के किसी गाँव का, भाषा के स्तर पर दोनों ही जगह समानता दिखायी देती है। उपन्यासकार ने खड़ी बोली की वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। पात्रों के अनुसार भाषा की गति तथा शब्दों में परिवर्तन अवश्य दिखायी देता है। चिरंजी के पिता धर्मू चौधरी कलजुग को समझाते हुए कहते हैं कि ''बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध लेई। लोग है महीने दो महीने बाद आप बक–बक, झक–झक करके रह जायेंगे। परन्तु यदि गिरधारी पर बिरादरी का दण्ड हो गया तो बात तमाम उम्र को पत्थर की लकीर हो जायेगी।''[6] प्रस्तुत वक्तव्य में खड़ी बोली का वही आमफहम स्वरूप दिखायी देता है परन्तु बात करने के लहजे से स्पष्ट होता है कि घर का कोई बुजर्ग अपने बच्चों को समझा रहा है।

इसी प्रकार चिंरजी की माँ जब अपने बेटे के खिलाफ फैलायी गयी अफवाहों के कारण पूरे मुहल्ले को गलियाँ देती है तब भी उपन्यासकार ने संयमित शब्दों का ही प्रयोग किया है। चिरंजी की माँ गालियाँ देते हुए कहती है– ''इनकी अम्मा राँड हो जाय। इन्हें ढ़ाई घड़ी का हैजा आय। सब इन्हीं जलगयों का कसूर है। मेरे बेटे पर सारे के सारे खार खाये बैठे है।''[7] जाहिर तौर पर इस वक्तव्य की भाषा किसी ग्रामीण अनपढ़ महिला की नहीं हो सकती है परन्तु उपन्यासकार ने भाषा के प्रवाह के कारण लोक भाषा के शब्दों के चयन के बावजूद खड़ी हिन्दी का ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार गाँव के जमींदार की भाषा में ठसक रहने के बावजूद भी भाषा का स्वरूप वही रहता है। उपन्यासकार ने कहीं–कहीं पर अपने उपन्यास में सांकेतिक भाषा का भी प्रयोग किया है। मथुरा शहर में सेठ के द्वारा रानी का बलात्कार होता है और उसी दिन उसका बेटा भी यमुना में गिरकर बह जाता है। रानी द्वारा सफाई का काम छोड़ने के बाद उपन्यासकार लिखता है कि ''सेठ जी का 'गुसलखाना' साफ होना बन्द हो गया और कतई बन्द हो गया जिससे सेठ जी उदास–से रहने लगे।'' [8] हालांकि ये कथन दलित–स्त्री दृष्टिकोण से उपन्यासकार की हृदयहीनता तथा चेतना की कमी ही दिखाता है परन्तु गुसलखाना साफ करने से उपन्यासकार ने बलात्कार की तरफ ही संकेत किया

है। हालांकि इसी तरह के संकेतों का प्रयोग 'फाख्ता एवं गौरैया' वाले प्रसंग में भी दिखायी देता है।

उपन्यासकार ने कॉलेज के वातावरण को प्रस्तुत करने के क्रम में उपन्यास में अंग्रेजी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। इंदु के चरित्र को अंग्रेजीदा बनाने के लिए उसके शुरुआती संवादों में डेमिट, फुलिश जैसे शब्द आते हैं। अन्त में पूरे उपन्यास को देखते हुए कहा जा सकता है कि उपन्यासकार ने उपन्यास में पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। उपन्यास की भाषा सरल, सहज खड़ी बोली है जिससे भाषा का प्रवाह कहीं बाधित नहीं होता है।

दलित उपन्यासों में भाषा के स्तर पर हम दोहन, करुणा तथा छप्पर उपन्यासों को एक क्रम में रख सकते हैं। तीनों ही उपन्यासों में खड़ी बोली की विवरणात्मक शैली देख सकते हैं। 'दोहन' उपन्यास में उपन्यासकार ने ग्रामीण प्रकृति का सजीव चित्रण किया है। ग्रामीण संध्या के वर्णन में उपन्यासकार लिखता है कि ''जंगलों में चहुँ दिशी चरते भटकते पशु अब समूहबद्ध होकर गाँव की दिशा में लौट रहे है। दूर–दूर तक फैला पशुधन जिनके खुरों से उखाड़ी रास्ते की कच्ची धूल उपर पर्यावरण को धुंधला बना रही है। चलते–चलते कोई बैल जानवर आपस में सींग फँसाकर गुर्राने लगते है जिससे मन्द–मन्द बढ़ता पशु दल रूकने सा लगता।''[9] इसी प्रकार उपन्यास में ग्रामीण दृश्यों के कई चित्रण हैं। परन्तु उपन्यास के सभी पात्र एक ही लहजे की भाषा बोलते हैं जिससे उपन्यास में भाषायी प्रभाव की कमी खटकने लगती है। इसी प्रकार ग्रामीण विषयवस्तु पर आधारित उपन्यास में दातून को लकड़ी बताना हास्यास्पद हो जाता है। उपन्यास में इसका वर्णन आता है कि ''बनवारी आंगन में पहुँच नल की दिशा में बढ़ गया। उसने मुँह में दबाई लकड़ी फेंक हत्था पकड़ कर झुकाया। और टोंटी से गिरती धारा में गरारा करने लगा।''[10] क्या उपन्यासकार अगर लकड़ी की बजाय दातून लिख देता तो इससे उपन्यास के ग्रामीण वातावरण के प्रभाव में कोई कमी हो जाती? उपन्यास में इन्हीं भाषागत कमियों को देखते हुए ईश कुमार गंगनिया लिखते हैं कि ''लेकिन संवाद का

प्रादेशिक डायलेक्ट में न होना पाठकों को वास्तविक भाषा के आनन्द से महरूम करता है। लेखक को पाठकों के साथ ऐसा अन्याय नहीं करना चाहिए। जहाँ तक वाक्यों के गठन की बात है, यह कई जगह पर करारा झटका देता है जैसे 'हुए' के स्थान पर 'हुए'। 'और' से बार–बार वाक्य की शुरुआत करना, जबकि यह योजक है। कि से नया वाक्य ही नहीं नया पैरा शुरू करना बड़ा अजीब लगता है।''[11]

'करुणा' तथा 'छप्पर' दोनों ही उपन्यासों में खड़ी बोली तथा विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। दोनों ही उपन्यासों में पात्रों के अनुसार उनकी भाषा शैली एवं लय दिखायी देती है। उपन्यास छप्पर में काणे जैसे धूर्त चरित्र की भाषा को उपन्यासकार ने बड़े ही सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है। सुक्खा ने अपने बेटे को पढ़ने के लिए शहर भेज दिया था। काणे पण्डित गाँव के जमींदार को इस घटना के कारण गुस्सा दिलाने के लिए कहता है कि ''तू कितना ही बड़ा हो जा सुक्खा, लेकिन धर्मशास्त्रों से बड़ा नहीं हो सकता तू। अपमान करता है। धर्मशास्त्रों का, वेद–वेदागों का और पूछता है क्या हुआ नास्तिक...।''[12] सुक्खा काणे पण्डित तथा गाँव के जमींदार ठाकुर साहब द्वारा अपने बेटे को वापस बुलवाने के दबाव की साजिश को समझ रहा है परन्तु उसकी दयनीय आर्थिक–सामाजिक स्थिति उसे सीधे मुखालफ़त से रोक देती है। वह लरजती हुई भाषा में कहता है कि ''आप माई–बाप हैं मालिक! आपका दिया खाते हैं। आपका गुलाम हर समय में आपकी ताबेदारी में हाजिर है। पर बेटा नहीं माना, जिद कर बैठा आगे पढ़ने की और शहर चला गया।''[13] सुक्खा के पूरे वक्तव्य में भाषा एवं शब्दों के चुनाव में उपन्यासकार ने गजब की समझदारी दिखायी है। हर शब्द से सुक्खा की लाचारगी झलकती है।

इसी प्रकार उपन्यासकार ने कमला के बलात्कार के प्रसंग में संयत एवं संतुलित भाषा का प्रयोग किया है। चन्दन द्वारा कमला के बच्चे के पिता के सम्बन्ध में सवाल करने पर वह कहती है ''कैसे बताउ बाबू साहब, मैं खुद नहीं जानती इसका बाप कौन है? इसके आगे जब वह कहती है हाँ बाबू साहब!

एक होता तो नाम बता देती लेकिन एक नहीं कई थे वे लोग।''[14] हालांकि उपन्यासकार आगे बताता है कि वह सामूहिक बलात्कार की शिकार है परन्तु यदि वह न भी बताता तो पाठक पूरे विवरण से समझ जाता कि पूरा मसला क्या है। यहाँ पर उपन्यासकार पूरी घटना को बगैर शब्दों के ही पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है।

उपन्यास में कहीं–कहीं खड़ी बोली के मोह तथा शब्दों के चुनाव के कारण पात्रानुसार भाषा व्यवस्थित नहीं हो पाती। सुक्खा जैसा अनपढ़ ग्रामीण कहता है– ''जीवन भर सब तरह के जुल्म और ज्यादतियाँ सही मैंने। पीढ़ियों से नारकीय जीवन जीना पड़ा हमको। इससे ज्यादा बुरा क्या हो सकता है हमारे जीवन में।''[15] पूरे वक्तव्य की भाषा एवं शब्दों का चुनाव उसे पात्र की स्थिति के विपरीत कर देता है। उपन्यास में भाषा का प्रयोग करते समय पात्रों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उपन्यास की इसी कमी के कारण रजतरानी मीनू कहती हैं कि ''छप्पर के पात्रों की भाषा परिवेश के अनुकूल नहीं है। 'छप्पर' के ग्रामीण और अशिक्षित पात्र खड़ी बोली बोलते है या कहे कि भाषा पात्रों की नहीं उपन्यासकार की है।''[16] यदि उपन्यास में आयी इस तरह कमियों को छोड़ दिया जाय तो हम कह सकते है कि उपन्यास में भाषा का प्रवाह बना रहता है तथा सीधे एवं सरल शब्दों के चुनाव के कारण पाठक को एकबारगी में ही समझ में आ जाता है।

'मिट्टी की सौगंध' उपन्यास नाट्कीय शैली में लिखा गया है। इसकी भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। उपन्यासकार ने पात्रों के अनुसार संवादों की भाषा तय की है। उपन्यासकार कहीं–कहीं पर संवादों में प्रतीकात्मक शब्दों का चयन करके पात्रों का आशय प्रकट किया है और इसी क्रम में पात्रों की चारित्रिक अच्छाईयाँ–बुराईयाँ भी सामने आ जाती हैं। उपन्यास का पात्र ठाकुर मोहन सिंह उपन्यास के प्रारम्भ में ही शीला नामक दलित स्त्री का बलात्कार करता है। उपन्यास में आगे जब उसका नौकर शीला का जिक्र करता है तो ठाकुर मोहन सिंह कहता है– ''यानी वह बासी फूल भी वहाँ महक रहा है।''[17] इस एक पंक्ति के संवाद से ही पाठक मोहन सिंह की मानसिकता से परिचित हो

जाता है। उसका स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण कितने निम्न स्तर का है यह बात भी उपन्यास के इसी एक वाक्य के माध्यम से प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार उपन्यास में दादी माँ के संवादों की भाषा से सामन्ती मानसिकता झलकती है। हालांकि उपन्यास में कुछ प्रूफ की गलतियों की तरफ टेकचंद जी इशारा करते है जिसमें उपन्यासकार ने पात्रों के नाम अलग–अलग पृष्ठों पर बदल दिये है। टेकचंद लिखते हैं कि ''उपन्यास के पहले पृष्ठ से ठाकुर का नाम मदन सिंह चलता है जो 32 वे पृष्ठ पर मोहन सिंह हो जाता है 35 वे पृष्ठ पर स्वयं कहता है– 'मेरा नाम मदन सिंह है' इस बीच उनका नाम तीन बार मोहन सिंह ही लिखा जाता है। इसी क्रम में आगे वे लिखते है कि इसी प्रकार विजेन्द्र सिंह के फार्म हाउस पर काम करने वाली गंगा भी अंतिम पृष्ठों में कमला बन जाती है।''[18] हालांकि प्रूफ की ऐसी गलतियों को अगर नजरंदाज कर दिया जाए तो उपन्यास की भाषा अपने पाठकों के उपर प्रभावी छाप छोड़ती है।

नैमिशराय के सम्मिलित तीनों उपन्यासों की भाषा खड़ी बोली की विवरणात्मक शैली है। उपन्यास 'मुक्तिपर्व' में कथ्य के अनुसार उर्दू तथा देशज शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। 'मुक्तिपर्व' उपन्यास की भाषा की विशिष्टता बताते हुए अजमेर सिंह काजल लिखते है कि ''उपन्यास की भाषा शैली सरल, स्पष्ट और सुबोध है। अभिव्यक्ति को मुखर और धारदार बनाने के लिए इसमें कहीं–कहीं उर्दू मिश्रित वाक्यों, अंग्रेजी और देशज शब्दों का प्रयोग किया गया है। लेखक संस्कृतनिष्ठ शब्दावली से दूर रहते हुए जनभाषा में संप्रेषण करता है लेकिन सहज रूप से जनजीवन में प्रचलित उक्तियों, मुहावरों लोकोक्तियों का प्रयोग करता है।''[19] नैमिशराय ने 'मुक्तिपर्व' में भाषिक शुचिता की दृष्टि से अब तक की चली आ रही परम्परा को तोड़ने का कार्य किया है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही दलित मुहल्ले के बगल पड़ी जमीन 'हगनहट' का विवरण आता है। पारम्परिक साहित्य में चली आ रही परम्परा के अनुसार साहित्यकारों ने ऐसे शब्दों के बदले में शौच निवृत्ति, नित्य क्रियाकर्म आदि जैसी शब्दावली का प्रयोग किया है परन्तु नैमिशराय ने हगनहट, चूतड़ धुलने जैसे शब्द जो कि दलित समाज में प्रचलित होते हैं, का प्रयोग करके मुख्यधारा के बरक़्स दलित भाषा को खड़ा किया है।

उपन्यास में भाषा का स्वरूप एवं उनमें आये शब्दों का चयन पात्रों के सामाजिक एवं मानसिक स्तर को ध्यान में रखकर किया गया है। उपन्यास में आये नवाब साहब नामक पात्र की भाषा सामन्ती प्रवृत्तियों को दर्शाती है। उसके हर वाक्य में उर्दू मिश्रित भाषा में गालियाँ होती हैं। वह अपने नौकर बंशी से कहता है– ''अरे आ गया है तो मरदूद, क्या मेरे सिर पर बैठेगा।''[20] इसी प्रकार आगे के प्रसंगों में भी वह मरदूद, कमबख़्त जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। नवाब साहब की भाषा के विश्लेषण से पाठक की समझ में आ जाता है कि यह पात्र सामंती संस्कृति का परिचायक है। इसी प्रकार दलित मुहल्ले के प्राइमरी स्कूल में जो टट्टी विश्लेषण का प्रसंग है वह ग्रामीण दंपत्तियों की विशेषता बतलाता है। अध्यापक बच्चों के टट्टी करने पर जब उनके माँ–बाप को बुलाता है तो उनका जवाब इस प्रकार होता है– ''नाजी न, म्हारे बच्चे की टट्टी ना है। उसने तो कल सरसों का साग खाया था, अर यह तो पीली–पीली है।''[21] इसी प्रकार सवर्ण अध्यापकों की भाषा उनकी जातिवादी मानसिकता को प्रकट करती है। उपन्यासकार ने जातिवादी भेदभाव को प्रकट करने के लिए कहीं–कहीं पर प्रतीकात्मक भाषा का भी प्रयोग किया है– ''रात के अंधेरे में टकराने वाले भेड़िये न थे वे बल्कि दिन के उजाले में रंगे सियार थे। गेंडे की खाल पहन कर वे दलितों पर तरह–तरह से हमला करते थे।''[22] इस प्रकार हम देखते है कि उपन्यासकार ने पात्रों एवं परिस्थितियों के आधार पर भाषा शैली का उपयुक्त चुनाव किया है।

'आज बाजार बंद है' तथा 'ज़ख़्म हमारे' दोनों ही उपन्यासों की भाषा शैली एक जैसी है। दोनों ही उपन्यासों में भाषा शैली वातावरण एवं परिस्थितियों के अनुकूल है। 'आज बाजार बंद है' उपन्यास में वेश्या बाजार के वर्णन में उपन्यासकार ने संयमित एवं प्रतीकात्मक भाषाशैली का प्रयोग किया है। उपन्यासकार वेश्या बाजार के वर्णन में लिखता है कि ''इस बाजार में नीचे पानी बिकता था उपर आग। आग घौंसलों में सुरक्षित थी। घौंसले जलते न थे। वहाँ कुछ और ही जलता पिघलता था और पिघलते हुए आसपास बहता था। लोग आते और इस उफनती नदी में भी डुबकी लगाकर चले जाते।''[23]

इसी प्रकार उपन्यास में वेश्याओं की भाषा भी यथार्थवादी है। उपन्यास में भाषा शैली के स्तर पर जो समस्या आती है, वह है पात्रों के अनुसार भाषा के चयन में असावधानी। इसी मुद्दे पर वेदप्रकाश आलोचना करते हुए कहते हैं कि ''सभी पात्र एक सी भाषा बोलते है। सुमीत कस्बाई पृष्ठभूमि से आया, एक पत्रकार है, शबनम बाई पुराने जमाने की वेश्या है, लेकिन भाषा दोनों की एक जैसी है।''[24] इसी प्रकार की समस्या 'ज़ख़्म हमारे' उपन्यास में दिखायी देती है। उपन्यासकार ने कथा का विकास गुजराती पृष्ठभूमि पर किया है परन्तु भाषा के स्तर पर न तो गुजराती लय दिखती है और न ही शब्दों का चयन। उपन्यासकार ने साम्प्रदायिक घटनाओं पर भी जिन शब्दों को पात्रों से कहलवाया है वह हिन्दी प्रदेश की ही शब्दावली दिखायी देती है।

उपन्यास 'जस तस भई सवेर' में खड़ी बोली तथा विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। उपन्यासकार ने पात्र एवं परिस्थितियों के अनुसार देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। उपन्यास के कुछ प्रसंगों में भाषा शैली बदलकर चित्रात्मक हो जाती है। अन्धविश्वास में फंसकर हंसा 'जाहरवीर देवता' की पूजा चढ़ाता है। हरसन्ना भगत इसी अंधविश्वास का फायदा उठाकर जाहरवीर देवता का वर्णन इस प्रकार करता है– ''सावधान सब लोग रास्ता छोड़कर हट जाओ। इष्टदेव जाहरवीर की सवारी आ रही है। देवता महाराज नीले घोड़े पर सवार है। कोई भूले से भी आगे मत आ जाना क्योंकि साथ में भुज्जू कोतवाल काले भैंसे पर सवार होकर हाथ में मोटी लाठी लिए चले आ रहे है।... नरसिंह पाण्डे भी साथ है।''[25] उपन्यासकार ने भाषा एवं देवताओं के नाम तक का चयन बड़ी सूझबूझ से किया है जिससे एक पूरे अन्धविश्वासी माहौल का सजीव चित्र बन जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी सोखा–ओझा लोग एक अन्धविश्वासी वातावरण तैयार करने के लिए ऐसी भाषा एवं शब्दावली का प्रयोग करते मिल जायेंगे।

हालांकि उपन्यासकार ने प्रेम प्रसंगों अथवा नायिका के सौन्दर्य वर्णन में रीतिकालिन पदावलियों का प्रयोग किया है जिसके कारण भाषा शैली का जो

रूप दिखायी देता है वह दलित साहित्य के दृष्टिकोण से उचित प्रतीत नहीं होता है। उपन्यासकार ने नायिका सुमेधा का वर्णन इस प्रकार किया है– ''उसकी सघन अलकमुक्त काली कुंचित दीर्घ चोटी उसके पृष्ठ भाग भुजंगनी की भाँति ऐसे लहराती थी मानो गीली बेंत के समान लचकदार कोमल कटि को अवलम्ब देते हुए उन्नतोदर शोभा विधायकों की चौकस सुरक्षा कर रही हो। कदली वृक्षों के नवीन पत्रों के समान उसका आभामय मुखमण्डल, अधखिले गुलाब की भाँति कमनीय अधर, हीरकावली सी उज्जवल दंत पंक्ति... लबालब भरे सांकी के जाम की तरह छलक जाना चाहता हो।''[26] इसी तरह की भाषा का प्रयोग उपन्यासकार ने प्रेम प्रसंगों के विवरण में भी किया है। दलित साहित्य के दृष्टिकोण से उपन्यासकार ने भाषा के चुनाव में असावधानी बरती है। ऐसी भाषा शैली के माध्यम से जो बिम्ब उभरता है उसे दलित साहित्य ने कब का नकार दिया है।

'मुक्तिपथ' उपन्यास में आम बोलचाल की खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया गया है। उपन्यास में हरियाणा के ग्रामीण क्षेत्रों के प्रसंग में भाषा का स्वरूप बदलकर हरियाणवी मिश्रित हिन्दी हो जाता है। उपन्यास में हरियाणा के ग्रामीण क्षेत्रों के प्रसंग में उपन्यासकार ने पाठकों को कुछ देशज शब्दों से भी रूबरू करवाया है जैसे सूंड मटकाना, गाय बाखड़ी हो जाना, सीरी प्रथा इत्यादि। उपन्यास में पात्रों के अनुसार भाषा का चयन दिखायी देता है। मधु की पारिवारिक पृष्ठभूमि अंग्रेजीदा एवं संभ्रान्त है इसीलिए कुछ प्रसंगों में वह अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करती दिखायी देती है। उपन्यास के कुछ प्रसंगों में जातिसूचक शब्दों के साथ गालियाँ आयी हैं जिनके माध्यम से उपन्यासकार ने सवर्ण पात्रों की मानसिकता को दर्शाया है। उपन्यास की भाषा के मूल्यांकन में हम कह सकते हैं कि ग्रामीण क्षेत्र की भाषा को यदि छोड़ दिया जाए तो पूरे उपन्यास में भाषा का सरल प्रवाह दिखायी देता है।

उपन्यास 'मिस रमिया' में बोलचाल की खड़ी हिन्दी का प्रयोग दिखायी देता है इसकी भाषाशैली भी विवरणात्मक है। उपन्यास में आये गीतों तथा कुछ प्रसंगों में मगही एवं भोजपुरी का मिश्रित रूप भी दिखायी देता है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही श्यामली रमिया की माँ से कहती है– ''चाची एगो लगवले मास्टर

हथिन न, वही रमिया के बलटिया हुए से मार लथिन। हल हमनी के प्यास लगत हल पनियों ने पीली हल।''[27] हालांकि उपन्यास में भाषा परिवर्तन बहुत कम स्थानों पर हुआ है। उपन्यास में भाषायी प्रूफ की भी गलती दिखायी देती है। रमिया के साथ बद्तमीजी करने वाले शख्स का नाम प्रारम्भ में ए.के.सिंह रहता है जो बाद में परिवर्तित होकर ए.पी.सिंह हो जाता है। उपन्यास लेखन में ऐसी गलतियों के प्रति सावधानी रखनी चाहिए।

'थमेगा नहीं विद्रोह' उपन्यास के प्रारम्भ में ही उपन्यासकार ने गाँव की भाषा को दलित समाज की भाषा तथा उच्च जाति की भाषा के रूप में बाँटकर देखने की आवश्यकता पर बल दिया है। भाषा को जातीय आधार पर विश्लेषित करने के क्रम में वह लिखता है कि '' उदाहरण के लिए कहाँ जैसे शब्द को जाटव उच्चारित करते है कहाँ और गूजर उच्चारित करते हैं 'कौंहो' कौन को कूण, डरौ को डर्यौ, पानी को पौणी इत्यादि उच्चारण करते हैं। बेहद साधारण से वाक्य 'कहाँ जा रहे हो' को जाटव उच्चारित करते हैं 'कहाँ जा रहयो है,' और गूजर उच्चारित करते है ''रै, कौंहौं जा रहयो है'। इस 'रै' में उनकी सारी उद्दण्डता छिपी है।''[28] इस प्रकार उपन्यास की भाषा में सामाजिक तबके के हिसाब से परिवर्तन देखने की हिमायत की गयी है। उपन्यास की भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही है जिस पर पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव दिखायी देता है।

उपन्यास में पात्रों की भाषा भी उनके सामाजिक तबके के हिसाब से तय हुई है। गुजरते वक्त के साथ उर्दू का प्रभाव लगातार सिकुड़ते हुए मुस्लिम घरों तक सीमित हो गया है। उपन्यास में आये मुस्लिम पात्र उर्दू मिश्रित हिन्दी में अपनी बातें रखते हैं। उपन्यास में खाला कहती है– ''अय हय, अल्ला भला करे चेता जनमजले का, रोजीना की तरियों अपने 'घेरे' में खाट पै हुक्के सै चिपटा पड़ा खाँस रिया था। अब तुम जानो उस बेगैरत को शरम का नामो निशान हय्यैगा नहीं मरे को।''[29] इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग हमीद की पत्नी भी करती है– ''जुलैखा को मैंने कल रात इमरत नाई के बेटे सुमरत के साथ गंदी हरकत में मुबतिला होते देखा है।''[30] पूरे वक्तव्य में ग्रामीण स्त्री की भाषा का वह रूप दिखायी देता है जिसमें कुछ मुद्दों पर इशारों में ही बातों

को समझाया जाता है। इसी प्रकार ग्रामीण समाज में फैले साम्प्रदायिकता के प्रभाव ने किस कदर लोगों को प्रभावित किया है इसकी बानगी हमीद की आत्महत्या पर सरना गूजर के वक्तव्य में दिखायी देती है। सरना गूजर की मुस्लिमों के प्रति घृणा का प्रभाव उसकी भाषा में भी दिखायी देता है। वह कहता है– कटुआ नै गंदौ कर दियौ कुआँ। अब सफाई करवानी पड़ेगी।''[31]

भाषा के स्तर पर इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता श्रम संस्कृति के देशज शब्दों के प्रयोग में है। उपन्यासकार ने कृषि कार्य में उपयोग आने वाले देशज शब्दों जैसे पूलियों को गहाना, लाक लगाना, दाय चलाना इत्यादि से पाठकों को रूबरू करवाया है। इसी प्रकार उपन्यास में चाखी, बेझड़ नाज, बच्चों का खेल लाल बहौड़िया आदि का वर्णन भी किया गया है। बावजूद इन देशज शब्दों के उपन्यास की भाषा का प्रवाह कही बाधित नहीं होता है।

उपन्यास 'उधर के लोग' की विषय वस्तु का विस्तार दिल्ली महानगर में होता है इसीलिए उपन्यास की भाषा खड़ी बोली है जिसमें पात्रों के परिवेश के अनुसार आमफहम रूप से अन्य भाषाओं का प्रभाव भी दिखायी देता है। उपन्यास में भाषा शैली संस्मरणात्मक है परन्तु उपन्यास में घटती घटनाओं के बाद उनका विश्लेषण भी दिखायी देता है। आयशा नामक स्त्री पात्र का परिवेश उच्च तबके से है तथा वह स्वयं भी उच्च शिक्षित है इसलिए उसकी भाषा में परिवेश के अनुसार कभी–कभी अंग्रेजी भाषा का भी प्रयोग दिखायी देता है। इसी प्रकार उपन्यास में आया पात्र बनवारी लाल हरियाणा से है तो उसकी भाषा में हरियाणवी लय का प्रभाव दिखायी देता है। उपन्यास के ज्यादातर पात्र उच्च शिक्षित है इसलिए उनकी भाषा में आमफहम बोलचाल वाले अन्य भाषाओं के शब्द भी आ जाते हैं।

इसी प्रकार शोध में सम्मिलित अन्त तीन उपन्यासों (ग़दर जारी रहेगा, सुबह के लिए तथा भंवर) की भाषा बोलचाल की खड़ी बोली हिन्दी ही है तथा उनकी भी भाषा शैली विवरणात्मक है। 'सुबह के लिए' तथा 'भंवर' की कथावस्तु दिल्ली पर आधारित है इसलिए उसमें देशज शब्दों का न होना उपन्यास की भाषा के साथ न्यायपूर्ण है। 'ग़दर जारी रहेगा' की विषय वस्तु

का फैलाव भारत के विभिन्न क्षेत्रों तक है। साथ ही उसमें आदिवासी समाज का भी विवरण आया है परन्तु उपन्यासकार ने न केवल देशज शब्दों का वरन् अन्य संस्कृतियों में प्रचलित शब्दों का भी उपन्यास में जिक्र नहीं किया है जिससे भाषायी स्तर पर रचना की सार्थकता में कमी दिखायी देती है।

दलित उपन्यासों के विकास के साथ ही हम उनकी भाषा शैली की गुणवत्ता में वृद्धि देख सकते हैं। दलित उपन्यास लेखन में जैसे–जैसे हिन्दी के अन्य क्षेत्रों के दलित लेखक आयेंगे वैसे–वैसे क्षेत्रीय शब्दावली के माध्यम से भाषा का भी विस्तार होगा। दलित लेखन के माध्यम से हिन्दी भाषा का लगातार लोकतांत्रीकरण हुआ है। यह प्रक्रिया जितनी अधिक विकसित होगी, दलित यथार्थ को प्रस्तुत करने में भाषा उतनी अधिक सक्षम होगी।

(ख) शिल्प

प्रेमचंद ने नई सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए साहित्य में सौन्दर्य की कसौटी को बदलने की हिमायत की थी। उनका मानना था कि साहित्य में सौन्दर्य का पारम्परिक पैमाना नये यथार्थबोध को प्रकट करने में अक्षम हो चुका है। 'कसौटी परिवर्तन' की उनकी इस अवधारणा के पीछे रचनाकारों का नया यथार्थबोध तथा युगबोध था। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में छायावादी रचनाकारों ने भी शिल्प के स्तर पर अब तक चली आ रही छन्दबद्ध रचना प्रणाली को नकार कर अपने भावबोध के अनुरूप नई रचना प्रणाली का निर्माण किया। नयी कहानी के रचनाकारों ने भी अपनी रचनाओं के मूल्यांकन के लिए पारम्परिक शिल्प की अवधारणाओं को नकारकर, अपनी कहानी के मूल्यांकन के लिए 'संवेदना' को मुख्य आधार बनाने की वकालत की थी। यह तथ्य इस बात को प्रमाणित करते है कि साहित्यिक रचनाओं के मूल्यांकन के लिए कोई भी बना–बनाया शास्त्रीय मापदण्ड अनावश्यक होता है। साहित्य के मूल्यांकन का मापदण्ड साहित्यिक रचनाओं के बीच से ही विकसित होता है। साहित्य के इतिहास में जब भी कोई नई धारा अपने सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण से निर्मित यथार्थबोध के साथ साहित्यिक

पटल पर प्रवेश करती है, तो यह पुराने साहित्यिक मापदण्ड की अवधरणाओं को तोड़कर नये सौन्दर्यबोध का निर्माण करती है। अंर्स्ट फिशर नये रचनाकारों पर लिखते हैं कि, ''जो लोग दर्जनों की संख्या में सुघड़ और आपत्तिरहित साहित्यिक या सांगीतिक रचनाएँ करते हैं, उनकी निंदा करना मूर्खतापूर्ण होगा, लेकिन इससे कही ज्यादा गंभीर गलती यह होगी कि ऐसे लोगों को उन कलाकारों के सामने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाए, जो नई वास्तविकताओं को नएँ कलात्मक साधनों से अभिव्यक्ति देने का प्रयास करते है।''[32] दलित साहित्यकारों ने भी दलित समाज की सदियों से चली आ रही शोषण, वंचना और अपमान की वास्तविकता को साहित्यिक परिदृश्य में रखा। 'भद्रलोक' के साहित्यकार जब उनकी अनुभूति की सच्चाई को नकार नहीं पाये तो उन्होंने परम्परागत शिल्प के पैमाने पर उनकी रचनाओं को दोयम दर्जे की साबित करने की कोशिश की। हिन्दी समीक्षकों की इसी मानसिकता को रेखांकित करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि ''इसीलिए हिन्दी समीक्षा की यह वैचारिक त्रासदी है कि जिस कृति की भाषा गूढ़ अध्यात्मिक तत्व ज्ञान से भरी हो वह कृति समीक्षकों को श्रेष्ठ लगती है। और जिसमें आम आदमी अपनी सामान्य साधारण रोजमर्रा की भाषा में अपना दुख–सुख, व्यथा व्यक्त कर रहा है, वह समीक्षकों को कमजोर कच्चेपन की रचना लगती है।''[33] इस कथन से स्पष्ट होता है कि परम्परागत साहित्य आलोचकों ने नितान्त अपने ही कलात्मक मानदण्डों पर दलित साहित्य का मूल्यांकन करने की कोशिश की ओर उसी शिल्प के आधार पर दलित रचनाओं को कमजोर माना।

दलित साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में परम्परागत शिल्प की इस तलाश को नकार दिया। चूंकि इन दलित रचनाकारों को जीवन के जिस कठोर यथार्थ से टकराना पड़ा, उसकी अनुभूति की वेदना ने इनके अनुभवों में खुरदुरापन एवं आक्रोश भर दिया। उनके अनुभवों की अलहदगी ने पारम्परिक शिल्प विधान को नकार दिया। शायद इसीलिए दलित रचनाकारों के एक समूह ने साहित्य में शिल्प विधान को अनावश्यक करार दिया। मोहनदास नैमिशराय शिल्प की अवधारणा को नकारते हुए कहते हैं कि, ''दलित साहित्य

के सन्दर्भ में जब शिल्प के बारे में सवाल उठाये जाते हैं, तो वैसे लेखक और समीक्षक दलित समाज की भीतरी संरचना, भाषा, लोक कला और उनकी परम्पराओं का अध्ययन नहीं कर पाते, इसीलिए शिल्प की बात उठती है मेरी राय में कोई भी शिल्प, दलित साहित्य पर लागू नहीं होता।''[34] नैमिशराय के वक्तव्य से यह स्पष्ट होता है कि पारम्परिक शिल्प विधान दलित समाज की भीतरी सच्चाई को बयां नहीं कर पाता है। इसीलिए इसके शिल्पगत मूल्य विधान को दलित साहित्य नकारता है। वहीं ओमप्रकाश वाल्मीकि जी पारम्परिक शिल्प को नकारने के कारणों में दलित साहित्य के उद्देश्यों को देखते हैं। वह कहते हैं कि, ''शिल्प और कलात्मकता के पैरोकार साहित्यिक मूल्यों को महत्ता देते हैं। जबकि दलित लेखक जीवन मूल्यों के प्रति ज्यादा संवेदनशील है। दलित साहित्य की मान्यता है कि साहित्य को ज्यादा अमूर्त और अकादमिक बनाने से दलित साहित्य के प्रति न्याय नहीं होगा।'' [35] वाल्मीकि जी ने दलित साहित्य के आन्दोलनधर्मी कलेवर के कारण उसमें शिल्प एवं कलात्मकता को नकारा है। इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि किसी भी साहित्य में अत्यधिक कलात्मकता एवं उच्च कोटि का शिल्प विधान उसे अकादमिक महत्व का तो बना सकता है परन्तु उसके मूल उद्देश्य को अर्थात सामान्य पाठक से उसे दूर भी कर सकता है।

दलित उपन्यास लेखन भी दलित आन्दोलन की एक कड़ी है। हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथा लेखन की विधा का प्रचलन सबसे पहले हुआ। हालांकि दलित लेखकों द्वारा लिखित उपन्यास हमें 1954 ई. से ही मिलते है परन्तु दलित चेतना से सम्पन्न जिस साहित्यिक विधा की चर्चा सबसे ज्यादा हुई वह आत्मकथा लेखन ही है। दलित उपन्यास लेखन में भी आत्मकथात्मक तत्वों की मौजूदगी ज्यादा रही है। आत्मकथात्मक तत्वों की उपस्थिति के बारे में अभय कुमार दुबे लिखते है कि, ''अकेले पड़ जाने की अनुभूति ने सदियों से हो रहे अन्याय के प्रति उनकी वाणी को ओर कर्कश बना दिया। उनकी मुद्रा युद्ध की हो गयी और अभिव्यक्ति आक्रामक। अकेलेपन ने उन्हें बार–बार अपने निजी अनुभव की ओर मोड़ा जिसकी प्रमाणिकता पर अत्यधिक जोर देने के

कारण उनकी चेतना का कला रूप यथार्थवाद तक सीमित रह गया। राजनीतिक जुड़ाव ने उसमें पूर्व निर्धारण के तत्वों की समस्या पैदा कर दी।''[36] हिन्दी दलित उपन्यास के नियमित लेखन के शुरुआती दौर के उपन्यासों में हमें इसका प्रभाव दिखायी देता है। उपन्यासकारों ने औपन्यासिक कथा में विभिन्न परिस्थितियों में जातीय विषमता की पीड़ा को बार–बार प्रकट करने की कोशिश की है। औपन्यासिक पात्रों के वक्तव्य कई बार उनके चरित्र से मेल नहीं खाते परन्तु उपन्यासकार के अपने अनुभव, विचार इतने तीव्र है कि वह वक्तव्य में आ ही जाते हैं। शुरूआती उपन्यासों में चाहे वह 'छप्पर' का सुक्खा हो या 'मुक्तिपर्व' का बंशी, जातीय भेदभाव पर उनके जो विचार आते हैं वह उनके न होकर लेखक के स्वयं के होते हैं। 'मानव की परख' उपन्यास का लेखन गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित है। उपन्यास के अंतिम हिस्से में 'कबूतर और फाख्ता' (पृष्ठ 166) का प्रसंग आता है। औपन्यासिक कथा में विषय और संरचना के दृष्टिकोण से रोहित और इन्दु के विवाह में जाति की समस्या न होने के बावजूद उपन्यासकार प्रतीकों के माध्यम से जातीय समस्या का विवरण देता है। कथावस्तु एवं उपन्यासकार की विचारधारा दोनों ही इस प्रसंग के विरुद्ध हैं परन्तु लेखक का अपना निजी अनुभव इतना तीव्र है कि अवचेतन में समायी जाति–समस्या उसके इच्छा के विरुद्ध उपन्यास में आती है।

आधुनिकता के आगमन ने पारम्परिक साहित्य में नायक की रूढ़ छवि को तोड़ दिया। अभी तक की साहित्यिक परम्परा में साहित्य का नायक धीरोदात्त चरित्र का होता था। आधुनिकताबोध ने उसे सामान्य मनुष्य के रूप में स्थापित किया। इससे एक कदम आगे बढ़कर उत्तर आधुनिक उपन्यासकारों ने उपन्यास के नायक की छवि को लिजलिजा एवं घृणास्पद बना दिया। उदाहरण में हम मनोहर जोशी के उपन्यासों के नायकों को देख सकते हैं। परन्तु दलित साहित्य चिंतन में बाबा साहब अम्बेडकर के रूप में उपन्यासकारों के पास एक महानायक छवि का चरित्र मौजूद है। बाबा साहब अम्बेडकर की छवि हम दलित उपन्यासों के नायकों में देख सकते हैं, चाहे वह 'छप्पर' का चन्दन हो, 'मुक्तिपर्व' का सुनीत हो, 'ज़ख़्म हमारे' का राजू परमार हो या 'मिस

रमिया की रमिया' हो। इस प्रकार के नायक की छवि का पैटर्न हमें दलित उपन्यासों में शुरू से अन्त तक दिखायी देता है। बाबा साहब अम्बेडकर ने संघर्ष कर शिक्षा पायी एवं जातीय विषमता के खिलाफ जीवनभर लड़ाई लड़ी। इन उपन्यासों के नायक भी संघर्ष कर शिक्षित होते हैं तथा वे सभी जातीय विषमता के खिलाफ आन्दोलन करते हैं। उपन्यास लेखन में इसी प्रवृत्ति के कारण दलित उपन्यासों का एक बड़ा हिस्सा चरित्र प्रधान उपन्यासों के रूप में दिखायी देता है। हालांकि दलित उपन्यासों में चरित्र प्रधानता की इस विशिष्टता के बावजूद विभिन्न घटनायें एवं सामाजिक विवरण उसे पारम्परिक चरित्र प्रधान उपन्यासों से अलग करते हैं।

इन चरित्र प्रधान उपन्यासों के नायकों के संघर्ष के विवरण में जो समस्याएं आती है, वो सारी ही दलित समाज से जुड़ी हुई हैं। उपन्यास में नायक के विकास में जो समस्याएं (गरीबी, वर्ण–जाति व्यवस्था आदि) आती हैं, उससे सारा ही दलित समाज जूझ रहा है। इसी कारण से उन समस्याओं का स्वरूप वैयक्तिक से बदलकर सामूहिक हो जाता है। समस्याओं का सामाजीकरण होने से उपन्यास का कलेवर बदल जाता है। उपन्यास के नायक का संघर्ष, उसका वैयक्तिक संघर्ष न होकर पूरे दलित समाज के संघर्ष में तब्दील हो जाता है। इस बदले हुए संरचना के उपन्यासों को हम पारम्परिक शिल्प विधान में व्याख्यायित नहीं कर सकते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि दलित उपन्यासों का यह अपना स्वयं का शिल्प है। दलित उपन्यासों के माध्यम से उपन्यासकार जिस सन्देश या चेतना को पहुँचाने की कोशिश कर रहा था, वही उसका अभीष्ट है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि, ''दलित साहित्य आशय को महत्व देता है। अभिव्यक्ति और शिल्प दूसरे स्थान पर आता है। जीवन अनुभवों की प्रमाणिकता आशय को अर्थगाम्भीर्य बनाती है। यह डॉ. अम्बेडकर के विचार तत्व पर आधारित होनी चाहिए।''[37] वाल्मीकि जी के वक्तव्य से यह बात स्पष्ट होती है कि उपन्यासों के नायक के संघर्ष के माध्यम से दलित उपन्यासकारों ने बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों को दलित जनता तक पहुँचाने का महती कार्य किया है।

इसी प्रकार 'जस तस भई सवेर', अन्धविश्वास एवं आरक्षण के विरोध की समस्या पर आधारित है। 'आज बाजार बन्द' है वेश्यावृत्ति पर आधारित उपन्यास है। इन समस्याओं को देखते हुए भी हम इसे पारम्परिक शिल्प के आधार पर 'समस्यापरक उपन्यास' नहीं कह सकते हैं। 'आज बाजार बन्द है' में उपन्यासकार ने उपन्यास के प्रारम्भ में कथानक की सुगढ़ता से छूट लेते हुए पत्रकार शैली में घटनाओं को प्रस्तुत किया है। पूरे समाज की वेश्याओं पर क्या सोच है इसको प्रस्तुत करने लिए अखबारों द्वारा घटनाओं को प्रस्तुत किया है। अखबारी समाचारों के माध्यम से पूरी घटनाओं को प्रस्तुत करने में यही शिल्प विधान उसके लिए नफीस था जिसके कारण एक साथ लोगों के विचार, पुलिस महकमे के क्रियाकलाप, समाचार माध्यमों की कार्य प्रणाली सभी को प्रस्तुत करने में उसे आसानी हुई। इसके बाद उपन्यासकार वेश्याओं के मुहल्ले के विवरण में समस्याओं का विश्लेषण करते हुए पूरी समस्या को प्रस्तुत करता है। उपन्यास के दोनों हिस्से को देखने पर कथानक में एक तनाव उत्पन्न होता है जिसके माध्यम से उपन्यासकार वेश्या जीवन के यथार्थ तथा समाज में उनके खिलाफ फैली मनोवृत्ति को दिखाने में सफल होता है। इसी प्रकार 'जस तस भई सवेर' में उपन्यासकार औपन्यासिक कथा में गाँव में फैले अन्धविश्वास एवं गरीबी के कारण दलित महिलाओं के सामन्ती शोषण को दिखाता है वहीं दूसरी तरफ शहर में सवर्ण तबके द्वारा बराबरी एवं योग्यता के आधार पर आरक्षण विरोध की घटनाओं को दिखाता है। इन दोनों की कथाओं के माध्यम से भारतीय समाज के यथार्थ को प्रस्तुत करता है और इसी क्रम में नये शिल्प की रचना करता है। गाँव और शहर की कथाओं को एक साथ लेकर कई उपन्यासकारों ने उपन्यास रचना की है परन्तु जातीय भेदभाव की समस्या से दोनों कथाओं को जोड़ने की पहल दलित उपन्यासकारों ने ही की है।

'मिट्टी की सौंगध' उपन्यास में उपन्यासकार ने नाट्कीय शैली का प्रयोग किया है। नाट्कीय उपन्यास की विशेषता में गोपाल राय लिखते हैं कि ''नाट्कीय उपन्यास किसी एक वर्ग विशेष तक, किसी एक जीवन पद्धति या

क्रिया–व्यापार तक सीमित होता है, जिसके फलस्वरूप कथा–संसार में सघनता उत्पन्न हो जाती है। यह सघनता या तीव्रीकरण नाट्कीय उपन्यास का अनिवार्य गुण है।''[38] 'मिट्टी की सौगंध' उपन्यास में शीला नामक दलित स्त्री का बलात्कार एक पात्र या व्यक्ति विशेष की समस्या न होकर पूरे दलित समाज की स्त्रियों की समस्या के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उपन्यास के कथानक का विकास विभिन्न प्रवृत्तियों वाले पात्रों के क्रिया–प्रतिक्रिया से होता है। उपन्यास में पात्रों का वक्तव्य भी नाट्कीय होता है। उपन्यास में जमींदार का वक्तव्य आता है– ''देख रे कलुआ, जमींदार मोहन सिंह अपने गले की चेन उतार कर एक जवान युवक को देते हुए बोले वह दरोगा... बचना नहीं चाहिए.. . उसकी हत्या के इनाम के रूप में ही तुम्हे यह चेन दे रहे हैं।''[39] इस पूरे वक्तव्य से जमींदार के हाव–भाव एवं भाषा से उसकी पूरी सामन्ती मानसिकता झलकती है। इसी प्रकार 'ग़दर जारी रहेगा' उपन्यास में भी नाट्कीय दृश्य दिखायी देते हैं।

'थमेगा नहीं विद्रोह' उपन्यास किस्सागोई शैली में लिखा गया है। उपन्यासकार ने दरियाव नामक पात्र के माध्यम से दरियापुर गाँव की कई कहानियों को एक साथ जोड़कर उन्हें उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है। रामजी यादव उपन्यास के शिल्प पर लिखते हैं कि, ''जाहिर है सूत्रधार के लिए सुसंगत कथानक विकसित करना और पात्रों को नियति के चंगुल से निकालकर सुसंगत कथाभूमि पर खड़ा करना एक कठिन काम है। इसके लिए उपन्यासकार ने किस्सागोई से काम लिया है। यह किस्सागोई आगे के पन्नों में अपने पूरे फार्म में चली है और शायद लगभग सवा तीन सौ पृष्ठों में फैले उपन्यास के लिए यह सबसे मौजूं प्रविधि थी।''[40] इस किस्सागोई के माध्यम से उपन्यासकार ने अपने से पूर्व की दलित पीढ़ी की वेदना, प्रतिरोध, समस्या एवं संत्रास को औपन्यासिक शिल्प में प्रस्तुत किया है। उपन्यास का अन्तिम हिस्सा विश्लेषणात्मक हो जाता है और इसी विश्लेषण के माध्यम से उपन्यासकार पाठक को यथार्थ की जमीन पर उतारकर दलित आन्दोलन एवं विकसित हो रहे दलित समाज का मूल्यांकन भी करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं दलित उपन्यासकारों ने उपन्यास रचना–कर्म में पारम्परिक शिल्प विधान को तोड़ा है। उन्होंने दलित समाज के यथार्थ को प्रस्तुत करने एवं दलित समाज तक अम्बेडकरवादी चेतना पहुँचाने के लिए नये औपन्यासिक शिल्प का विकास किया है। औपन्यासिक कथा में लेखक की उपस्थिति पाठक को यह एहसास दिलाती रहती है कि वह कथा रस में न खोकर दलित यथार्थ पर अपनी दृष्टि जमाये रखे।

सन्दर्भ

[1] फिशर अंर्स्ट, कला की जरूरत, अनु. रमेश उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2011, पृष्ठ 266

[2] प्रा. स्त्रोतः प्रसाद माता (सं.), दलित साहित्यः दशा और दिशा, पृष्ठ 6–7
द्वि. स्त्रोतः यादव चौथीराम, उत्तरसदी के विमर्श और हाशिए का समाज, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लि., प्र.सं. 2014, पृष्ठ 55

[3] वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2015, पृष्ठ 81

[4] वही

[5] लिम्बाले शरणकुमार, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, अनु. रमणिका गुप्ता वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृत्ति सं. 2010, पृष्ठ 45

[6] सेन देवीदयाल, मानव की परख, आत्माराम एंड सन्स पब्लि., दिल्ली, 1954, पृष्ठ 16

[7] वही, पृष्ठ 24

[8] वही, पृष्ठ 135

[9] महर्षि जयप्रकाश नवेन्दु, दोहन, प्रखर प्रकाशन, दिल्ली,सं. 2015, पृष्ठ 47

[10] वही, पृष्ठ 57

[11] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 94

[12] कर्दम जयप्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृष्ठ 32

[13] वही, पृष्ठ 33

[14] वही, पृष्ठ 47

[15] वही, पृष्ठ 60

[16] मीनू रजतरानी, हिन्दी दलित कथा साहित्यः अवधारणाएं एवं विधाएं, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लि., दिल्ली प्र.सं. 2014, पृष्ठ 268

[17] कपाड़िया प्रेम, मिट्टी की सौगंध, इण्डियन सोशल इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली, सं. 1995, पृष्ठ 41

[18] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010, पृष्ठ 123

[19] कर्दम डॉ. जयप्रकाश (सं.), दलित साहित्य वार्षिकी 2011, पृष्ठ 193

[20] नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002, पृष्ठ 22

[21] वही, पृष्ठ 44

[22] वही, पृष्ठ 66

[23] नैमिशराय मोहनदास, आज बाजार बंद है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006, पृष्ठ 21

[24] सिंह तेज (सं.), अपेक्षा जनवरी–जून 2010, सं. तेज सिंह, पृष्ठ 59

[25] सत्यप्रकाशन, जस तस भई सवेर, सागर प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं. 2012, पृष्ठ 35

[26] कावेरी, मिस रमिया, आकाश पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, सं. 2007, पृष्ठ 8

[27] वही, पृष्ठ 39

[28] जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृष्ठ 23

[29] वही, पृष्ठ 37

[30] वही, पृष्ठ 54

[31] वही, पृष्ठ 60

[32] फिशर अंर्स्ट, कला की जरूरत, अनु. रमेश उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2011, पृष्ठ 226

[33] वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2015, पृष्ठ 99

[34] प्रा.स्त्रोतः नैमिशराय मोहनदास, कल के लिए, दिसम्बर 1998, पृष्ठ 62
द्वि. स्त्रोत, मीनू रजतरानी, हिन्दी दलित कथा–साहित्यः अवधरणाएं और विधाएं अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लि., दिल्ली, सं. 2014, पृष्ठ 248

[35] वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित साहित्य–अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2013, पृष्ठ 7

[36] दुबे अभय कुमार (सं.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2007, पृष्ठ 116

[37] वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2015, पृष्ठ 51

[38] राय गोपाल, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2012, पृष्ठ, 44

[39] कपाड़िया प्रेम, मिट्टी की सौगंध, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली 1995, पृष्ठ, 65

[40] पृष्ठ 21, अपेक्षा, सं. तेज सिंह, जनवरी–जून 2010

उपसंहार

हिन्दी दलित उपन्यास लेखन की परम्परा आजादी के प्रथम दशक से प्रारम्भ हो जाती है। आजादी के प्रथम दशक के दोनों उपन्यास (बंधन मुक्त एवं मानव की परख) गाँधीवादी चेतना से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। इससे यह साबित होता है कि तत्कालीन समाज में दलित जातियों में एक ऐसा वर्ग था जो गाँधीवादी दृष्टि से दलित समाज एवं संस्कृति की कथा को साहित्य में प्रस्तुत कर रहा था। आजादी के प्रथम दशक से 90 के दशक तक दलित उपन्यासों की एक क्षीणकाय परम्परा मिलती है। 90 के बाद दलित समाज की एक ऐसी पीढ़ी लेखन में आयी जिसने दलित चेतना से युक्त होकर दलित समाज एवं संस्कृति की कथा को नियमित रूप से साहित्यिक दायरों में रखना प्रारम्भ किया। इस साहित्यिक पीढ़ी की दलित चेतना का निर्माण दलित आन्दोलन की ऐतिहासिक परम्परा से हुआ है तथा इस आन्दोलन की वैचारिक आधारभूमि आदिकालीन भौतिकवादी परम्परा से लेकर बुद्ध, कबीर, फुले एवं अम्बेडकर के विचारों पर आधारित है।

हिन्दी दलित उपन्यासकारों ने कथावस्तु के चुनाव में पर्याप्त विविधता दिखायी है। दलित उपन्यासकारों ने दलित समाज की गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास एवं शोषण को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने उपन्यासों की कथा वस्तु में दलित समाज में उभर रहे मध्यवर्ग, बाजार एवं पूँजी के कारण दलित समाज के मूल्यों में हो रहे ह्रास को भी सम्मिलित किया है। दलित उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की कथावस्तु में समाज के अन्य हाशिए के लोगों (वेश्या, मुस्लिम, आदिवासी) की समस्याओं को भी सम्मिलित किया है। दलित उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण दलित समाज एवं शहरी दलित समाज दोनों की समस्याओं को प्रस्तुत किया है। इन्होंने ग्रामीण स्तर पर दलित समाज की पारम्परिक शोषण की समस्याओं की शिनाख्त तो की है परन्तु बदली हुई परिस्थितियों में ग्रामीण दलित समाज के शोषण की बारीक होती संरचना को पकड़ने से लगभग चूक गये हैं। इसी

प्रकार ग्रामीण दलित समाज में आ रहे परिवर्तनों (सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों) को भी बहुधा दलित उपन्यासों में प्रस्तुत नहीं किया गया है। दलित उपन्यासकारों ने ग्रामीण दलित समाज एवं शहरी दलित समाज दोनों की आधुनिक संसाधनों तक की पहुँच में विभिन्नता को भी नजरंदाज किया है।

दलित उपन्यासों में दलितों की गरीबी के कारण होने वाले शोषण के रूप भी कम ही आये है। उपन्यासों में पारम्परिक व्यवस्था की संरचनागत कमियों के कारण दलितों की गरीबी तो दिखायी देती है। परन्तु वैश्वीकरण, पूँजीवाद एवं बाजार ने दलितों के जीवन में शोषण को किस प्रकार बढ़ावा दिया है, इसकी शिनाख्त कम हो पायी है। पारम्परिक संरचना के कारण वर्ण–जाति व्यवस्था एवं शोषण के अन्तर्सम्बन्धों को दलित उपन्यासों में बखूबी प्रस्तुत किया गया है।

दलित उपन्यासों में निम्न वर्ण–जाति के कारण दलित समाज के होने वाले शोषण के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करने में दलित उपन्यासकार कामयाब रहे हैं। परन्तु कई सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों में सत्ता एवं वर्ण–जाति व्यवस्था के बदले हुए सम्बन्धों तथा इसके कारण शोषण के बदले हुए स्वरूपों की पहचान ढंग से नहीं हो पायी है। इसी प्रकार दलित उपन्यासों में गरीबी एवं निम्न वर्ण–जाति के कारण होने वाले शोषण से मुक्ति का उपाय शिक्षा एवं अन्तर्जातीय विवाह को बताया गया है। इस मसले पर दलित उपन्यासकारों में कोई संशय नहीं दिखायी देता है। उत्तर आधुनिक होती व्यवस्था में शिक्षा का बाजारीकरण बढ़ा है तथा वह लगातार महँगी होती गयी है। ऐसे में दलित समाज जो कि पहले से ही संसाधन विहीन है उसकी शिक्षा के संसाधनों तक पहुँच कैसे होगी इसके बारे में भी दलित उपन्यासकार खामोश है।

दलित उपन्यासों में वर्ण–जाति भेदभाव को समाप्त करने के लिए अन्तर्जातीय विवाह की बात की गयी है और निश्चित ही जातीय भेदभाव को तोड़ने का यह अचूक यंत्र है। परन्तु वर्तमान समाज में लोग लगातार अपनी जाति के दायरे में सिमट रहे हैं। 'ऑनर किलिंग' की घटनायें लगातार बढ़ रही

हैं। साथ ही में दलित उपन्यासकारों ने जाति के साथ सामाजिक–सांस्कृतिक विभिन्नता को भी ज्यादातर नजरंदाज ही किया है। दलित उपन्यासों में इन समस्याओं पर भी सृजनात्मक बहस होनी चाहिए।

दलित उपन्यासों में आये स्त्री–चरित्र कमजोर प्रतीत होते हैं। दलित स्त्रियों का आया चरित्र दलित पुरुष की सहयोगी भूमिका में ही दिखायी देता है। (अपवाद में मिस रमिया)। ग्रामीण समाज की दलित स्त्रियों का चरित्र उनके शारीरिक शोषण की सच्चाई तो जरूर बयां करता है परन्तु उपन्यासों में उनके जुझारू चरित्र की अवहेलना ही दिखायी देती है। ग्रामीण समाज में भी तमाम दलित स्त्रियाँ चेतनशील होकर समाज को बदलने के लिए संघर्षशील हैं। इसी प्रकार उपन्यासों में जो गैर दलित स्त्रियाँ नायिका के रूप में आयी हैं, उनकी चेतना के पीछे भी कोई महत्वपूर्ण सामाजिक–सांस्कृतिक कारण नहीं दिये गये हैं। दलित उपन्यासों में जो गैर दलित स्त्रियाँ शोषक के रूप में आयी हैं, उनके ऐसे चरित्र निर्माण के पीछे व्यवस्थागत संरचना का भी संक्षिप्त जिक्र ही हुआ है।

इन उपन्यासों में दलित समाज की संस्कृति के विविध रूप आये हैं। दलित उपन्यासकारों ने स्थानीय दलित समाज के रहन–सहन, खान–पान, शादी–विवाह एवं विश्वास–अविश्वास को सूक्ष्मता से पकड़ा है। उपन्यासों में आये दलित समाज के ढेरों जीवन–संस्कार उसे उच्च वर्ण–जाति की संस्कृति से अलग करते हैं। दलित उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में श्रम–संस्कृति की विशेषताओं को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया है। दलित उपन्यासों में बाजार एवं पूंजी के कारण दलित संस्कृति में आ रहे परिवर्तनों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। दलित समाज में उभर रही मध्य वर्गीय प्रवृत्तियों के कारण दलित संस्कृति में आ रहे परिवर्तनों को ज्यादातर नजर अंदाज किया गया है।

उपन्यासकारों ने शिल्प की बनी–बनायी संरचना को तोड़ा है। उन्होंने दलित समाज के शोषण को बेनकाब करने के लिए ग्रामीण कथा एवं शहरी कथा का अद्‌भुत संयोग किया है। कुछ दलित उपन्यासों में दलित समाज की किस्सागोई की जातीय परम्परा का भी प्रयोग हुआ है। दलित उपन्यासकारों ने

अपने उपन्यासों में आमफहम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने श्रम–संस्कृति के शब्दों का उपयोग करके हिन्दी भाषा को समृद्ध किया है। दलित अवमानना के लिए प्रयोग होने वाले शब्दों को साहित्यिक दायरे में लाकर भाषा के शुचिता सम्पन्न रवैये को दलित उपन्यासकारों ने चुनौती दी है। दलित उपन्यासकारों का खड़ी बोली की तरफ आग्रह कुछ प्रसंगों में नकारात्मक प्रभाव डालता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. कपाड़िया प्रेम, मिट्टी की सौंगध, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली, 1995
2. कर्दम जयप्रकाश, करूणा, कंचन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
3. कर्दम जयप्रकाश, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
4. कावेरी, मिस रमिया, आकाश पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, यू.पी., प्रथम संस्करण 2007
5. चौहान कैलाश चंद, सुबह के लिए, आरोही, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
6. चौहान कैलाश चंद, भंवर, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013
7. जाटव उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
8. नावरिया अजय, उधर के लोग, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
9. नैमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2002
10. नैमिशराय मोहनदास, आज बाजार बंद है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004
11. नैमिशराय मोहनदास, ज़ख्म हमारे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
12. पंजम एस.के., गदर जारी रहेगा, दिव्यांश पब्लिकेशन्स, लखनऊ, प्रथम संस्करण 2010
13. महर्षि जयप्रकाश नवेन्दु, दोहन, प्रखर प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2015
14. मौर्य अभय, मुक्ति–पथ, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006
15. सत्यप्रकाश, जस तस भई सवेर, सागर प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2012
16. सेन देवीदयाल, मानव की परख, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1954

सहायक ग्रंथ

1. अम्बेडकर डॉ. भीमराव राम जी, भगवान बुद्ध और उनका धर्म, अनु. डॉ भदन्त आनन्द कौसल्यायन, बुद्ध भूमि प्रकाशन, नागपुर, बुद्धवर्ष, 2547–1996
2. इमाम हसन, कलापुरा जोस, दलित लोकगाथाओं में प्रतिरोध, दानिश बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण दिसम्बर 2009
3. इलैया कांचा, मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ, अनुवादः मुकेश मानस, आरोही बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पहला संस्करण 2003
4. ईगलटन टेरी, मार्क्सवाद और साहित्यलोचन, अनुवादः वैभव सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम पेपरबैक संस्करण 2006
5. ओमवेट गेल, दलित और प्रजातांत्रिक क्रान्ति, अनु. नरेश भार्गव, रावत पब्लिकेशन, जयपुर 2009
6. कर्दम डॉ. जयप्रकाश, दलित अभिव्यक्तिः संवाद और प्रतिवाद, नटराज प्रकाशन, दिल्ली 2007
7. कर्दम जयप्रकाश, तिनका तिनका आग, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004
8. कसबे रावसाहेब, आंबेडकर और मार्क्स, अनुवादः उषा वैरागकर आठले, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण 2009
9. कश्यप श्री ओम प्रकाश (सं.), बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पर्ण वाङ्मय खंड–2, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, संस्करण 2000
10. कीर धनंजय, डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर (जीवन चरित्र), अनुवादः गजानन सुर्वे, पापुलर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
11. कुमार अजय, दलित पैंथर आन्दोलन, गौतम बुक सेन्टर, नई दिल्ली, सं. 2015
12. कुमार दीपक, चौबे देवेन्द्र (सं.), हाशिए का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्रथम संस्करण 2011
13. कुमार निरंजन, साहित्य का समाजशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2010
14. कुमार विजय, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, दूसरा संस्करण 2010
15. कुमार डॉ. विवेक, प्रजातंत्र का विरोधाभास, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012

16. गाँधी महात्मा, हिन्दू धर्म क्या है?, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2009

17. ग्राम्शी अंतोनियो, सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, अनुवादः कृष्णकान्त मिश्र, ग्रंथ शिल्पी, प्रथम हिंदी संस्करण 2002

18. गुहा रामचन्द्र, भारतः गाँधी के बाद, अनु. सुशांत झा, पेंगुइन बुक्स, 2014

19. गौतम एस.एस. (सं.), भारतीय संस्कृति में दलितों और शूद्रों का योगदान, गौतम बुक सेंटर दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011

20. गौतम एस.एस. (सं.), भारतीय राजनीति में वंशवाद, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011

21. चट्टोपध्याय देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन–सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

22. चतुर्वेदी पं. ज्वाला प्रसाद (अनु.), मनुस्मृति, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, पाँचवां संस्करण 2000

23. चन्द्र डॉ. सुभाष, जाति क्यों नहीं जाती?, उद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2006

24. चन्दन संजीव (सं.), दलित स्त्रीवाद, द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन, दिल्ली, 2017

25. चानना देवराज, प्राचीन भारत में दास प्रथा, अनुवादः डॉ. शम्भू दत्त शर्मा, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 2009

26. चौहान सूरजपाल, क्यों विश्वास करूं, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004

27. चौधरी उमाशंकर, हाशिये की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2012

28. चौधरी उमाशंकर (सं.), हिस्सेदारी के प्रश्न–प्रतिप्रश्न, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012

29. चौबे देवेन्द्र, आलोचना का जनतंत्र, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण 2011

30. चौबे देवेन्द्र, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरिएंट ब्लैक स्वॉन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009

31. झा. पं. जनार्दन (टीकाकार), मनुस्मृति, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, संस्करण 2011

32. टाकभौरे सुशीला, हाशिए का विमर्श, शिल्पायन, दिल्ली, 2015

33. टॉमबुल्फ, फुले अपने ही शब्दों में, अस्पायार प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010

34. डांगे श्री अमृतपाद, भारतः आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक, अनुवाद–आदित्य मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2008

35. तेलतुम्बड़े आनन्द, जनवादी समाज और जाति का उन्मूलन, सं. रूबीना सैफी, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, 2016

36. तेलतुम्बड़े आनन्द, साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन, अनु. अनिल सिन्हा, ग्रन्था शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, हिन्दी सं. 2010

37. थापर रोमिला, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009

38. थोराट विमल, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, 2010

39. दामोदरन के., भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 2009

40. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2009

41. दुबे, अभय कुमार (सं.), आधुनिकता के आइने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

42. दुबे अभय कुमार (सं.), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2003

43. दुबे अभय कुमार (सं.), लोकतंत्र के सात अध्याय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2002

44. दुबे अभय कुमार (सं.), राजनीति की किताब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2003

45. देसाई ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, अनु. प्रयागदत्त त्रिपाठी, मैकमिलन इण्डिया, नई दिल्ली, सं. 1984

46. धर्मवीर डॉ., कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009

47. धर्मवीर डॉ., दलित चिन्तन का विकास (अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर) वाणी प्रकाशन, संस्करण 2012

48. नाथ के., पलायन, बौद्ध उपासक संघ साहित्य प्रकाशन, कानपुर, उ.प्र. 2006

49. नरिके हरि, महात्मा फुलेः साहित्य और विचार, महात्मा फुले चरित्र साधने समिति, मुम्बई, प्र.सं. 1993

50. नैमिशराय मोहनदास, महानायक बाबा साहेब अम्बेडकर, धम्मज्योति चैरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली, 2012

51. नैमिशराय मोहनदास, वीरांगना झलकारी बाई, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

52. नैमिशराय मोहनदास, हिंदी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्र. सं. 2011

53. पटनायक किशन, भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010

54. पाण्डेय मैनेजर, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2005

55. पाण्डेय मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्र. सं. 1974

56. प्रधान गोपाल सं., धर्म की मार्क्सवादी अवधारणा (गोरख पाण्डेय), समकालीन प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण 2003

57. प्रसाद चन्द्रभान, भारतीय समाज और दलित राजनीति, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, संस्करण 2006

58. पाण्डेय मैनेजर, उपन्यास और लोकतंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

59. प्रेमशंकर डॉ., नयी कविता नया मूल्यांकन, अयन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006

60. प्रियदर्शी, डिप्टी साहब, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2003

61. फिशर अंर्स्ट, कला की जरूरत, अनु. रमेश उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2011

62. फॉक्स रैल्फ, उपन्यास और लोक जीवन, अनु. डॉ. रामविलास शर्मा, पी. पी. एच. नई दिल्ली, 1957

63. बड़त्या सूरज, सत्ता संस्कृति एवं दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, सं. 2012

64. बाशम, ए.एल., अद्भूत भारत, अनुवादः वेंकटेश चन्द्र पाण्डेय, शिवपाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, संशोधित हिंदी संस्करण

65. बेलिंस्की, हर्जन, चेनी शेवस्की, दोब्रोल्युबोव, दर्शन साहित्य और आलोचना अनुवादः नरोत्तम नागर, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण फरवरी 2004

66. बेचैन श्यौराज सिंह (सं.), बहिष्कृत भारत (डॉ. अम्बेडकर), गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008

67. बेचैन श्यौराज सिंह, (सं. एवं अनु.) मूकनायक, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली

68. बिष्ट पंकज (सं.), धर्मः प्रासंगिकता के सवाल, समयांतर प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण 2006

69. भारती कंवल (सं.), स्वामी अछूतानन्द हरिहर संचयिता, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2012

70. भारती कंवल, जाति धर्म और राष्ट्र, उद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्र. सं. 2005

71. भारती कंवल, मायावती और दलित आंदोलन, रमणिका फाउण्डेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004

72. भारती कंवल, दलित चिंतन में इस्लाम, साहित्य उपक्रम, सं. दिसम्बर 2010

73. भारती कंवल, दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (यू.पी.), सं. 2006

74. भारती कंवल, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2007

75. भारती अनिता, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

76. मिश्र शिव कुमार, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2005

77. मणिमाला (सं.) धर्मान्तरण जरा सी ज़िंदगी के लिए, बुक्स फॉर चेन्ज, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण अप्रैल 2003

78. मिश्र शिव कुमार, (सं.), मार्क्सवाद और साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2001

79. मौर्य सर्वेश कुमार (सं.), हिन्दी दलित एकांकी संचयन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012

80. मौर्य सर्वेश कुमार, यथार्थवाद और हिन्दी दलित साहित्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012

81. मीनू डॉ. रजतरानी हिंदी दलित कथा साहित्यः अवधारणाएं एवं विधाएं, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, प्र. सं. 2010

82. मार्क्स–एंगेल्स, धर्म के बारे में, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, पहला संस्करण 2008

83. मुद्राराक्षस, धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ, साहित्य उपक्रम, तृतीय संस्करण 2009

84. मेघवाल कुसुम, हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, संधी प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. 1985

85. मुक्तिबोध गजानन माधव, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2011

86. यादव राजेन्द्र, उपन्यासः स्वरूप एवं संवेदना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आ.सं. 2015

87. यादव चौथीराम, उत्तरसदी के विमर्श और हाशिए का समाज, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, 2014

88. राजकिशोर, जाति कौन तोड़ेगा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2002

89. राही श्यामलाल, सिर्फ कांटे नहीं, अध्यापक बंधु प्रकाशन, पीलीभीत, उत्तर प्रदेश, 1995

90. रावत विद्याभूषण, अंबेडकर, अयोध्या और दलित आंदोलन, दानिश बुक्स, दिल्ली, पहला संस्करण 2006

91. रावत विद्याभूषण (सं.), तर्क के योद्धाः भारत में भौतिकवाद, अनीश्वरवाद और मानववाद की परंपरा, दानिश बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011

92. रंगनायकम्मा, 'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफी नहीं, अम्बेडकर भी काफी नहीं, मार्क्स जरूरी है, अनुवादः सी.एल. गुप्ता, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, पहला संस्करण 2008

93. राय गोपाल, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2012

94. लाल प्रो. अंगने एवं राज डॉ. राहुल, उत्तर प्रदेश में दलित आंदोलन, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011

95. लूकाच जार्ज, समकालीन यथार्थवाद, अनु. कर्ण सिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2006

96. लिम्बाले शरण कुमार, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र अनु, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010

97. वॉट आयन, उपन्यास का उदय, अनु. डॉ. धर्मपाल शरीन, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्र. सं. 1947

98. वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

99. वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित साहित्य–अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

100. वाल्मीकि ओमप्रकाश, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2009

101. विषपायी बाबूलाल खांडा, धापोदाई, विषपायी प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. 1998

102. विजयश्री प्रियदर्शिनी, देवदासी या धार्मिक वेश्या? एक पुनर्विचार, अनु. विजय कुमार झा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

103. विश्वनाथ (सं.), हिंदू समाज के पथभ्रष्टक तुलसीदास, विश्व विजय प्रा. लि., नई दिल्ली, तेरहवां संस्करण 2009

104. 'विमलकीर्ति' एल.जी. मेश्राम (सं.), महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली (1–2), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009

105. वोउवार सीमोन द, स्त्रीः उपेक्षिता, अनु. डॉ. प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, नवीन सं. 2002

106. शाह घनश्याम, भारत में सामाजिक आंदोलन, अनुवादः हरिकृष्ण रावत, रावल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण 2009

107. शत्रुघ्न डॉ., हिस्से की रोटी, साहित्यिक संस्थान, गाज़ियाबाद, प्रथम संस्करण 2001

108. शर्मा प्रो. श्रीराम (सं.), समकालीन हिंदी साहित्य विविध विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

109. शर्मा रामशरण, भारतीय सामंतवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010

110. शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, अनुवादः प्रो. पूरनचंद्र पंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010

111. शर्मा रामशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010

112. शास्त्री रजनीकांत, हिन्दू जाति का उत्थान एवं पतन, किताब महल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, सं. 2014

113. सईद एडवर्ड, वर्चस्व एवं प्रतिरोध, प्र. और अनु. राम कीर्ति शुक्ल, नयी किताब, दिल्ली, 2015

114. सन्तोषी हरकिशन सिंह (सं.), दलितों के दलित, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009

115. सिंह, पी.एन., अम्बेडकर चिंतन और हिंदी दलित साहित्य, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्रथम संस्करण 2009

116. सांकृत्यायन राहुल, दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 2011

117. सांकृत्यायन राहुल, बौद्ध दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 2012

118. सिंह गोपेश्वर (सं.), मध्य युगीन भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, सं. 2009

119. सिंह तेज, आज का दलित साहित्य, आतिश प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2000

120. सिंह भगत, मैं नास्तिक क्यों हूँ, अनुवादः पंकज चतुर्वेदी, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2006

121. सिंह एन., दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम, आम प्रकाशन, बंबई, प्र. सं. 1996

122. सिंह तेज, अंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा, लोकमित्र, प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2012

123. सिंह डॉ.एन., दलित साहित्य परंपरा और विन्यास, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, संस्करण 2011

124. सेठ कैलाश चन्द्र, नैमिशराय मोहनदास (सं.) बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खंड–9, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1995

125. श्रीनिवासन एम.एन., आधुनिक भारत में जाति, अनुवादः रश्मि चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012

126. सिंह डॉ. राजपाल, स्वामी अछूतानन्द हरिहर (व्यक्तित्व एवं कृतित्व), सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, 2009

अंग्रेजी पुस्तकें

1. Engels Marx, On Literature and Art,Progress Publishers, Mascow, 1978 Edition

2. Ilaiya Kancha, God as Political Philosopher: Buddha's Buddha's Challenge to Brahminism, Samya Publication, July 2004 Edition
3. Jaffrelot Christophe, India's Silent Revolution : The vise of the Low Castes in North Indian Politics, Permanent Black, Delhi, Edition 2008
4. Sharma Pardeep Kumar, Dalit Politics and Litrature, Shipra Publication, Delhi, First Edition 2006
5. Teltumbde Anand, The Presistence of Caste, Navayana Publishing, New Delhi, Edition 2008

पत्र–पत्रिकाएँ

1. अखिलेश (सं.), तद्भव, विशेष प्रस्तुतिः दलित वैचारिकी की दिशाएँ,
2. उपाध्याय प्रवीण (सं.), आजकल, फरवरी 2007 अंक
3. कर्दम डॉ. जयप्रकाश (सं.), दलित साहित्य वार्षिकी, 2002–2016
4. दलित अस्मिता, (सं.) विमल थोराट, अप्रैल–जून 2011
5. दलित अस्मिता, (सं.) विमल थोराट, जुलाई–दिसम्बर 2011
6. कोस्का आयवान (सं.), फॉरवर्ड प्रेस 'बहुजन साहित्य वार्षिकी, अप्रैल 2012
7. निगम क्रान्ति कुमार (सं.), अम्बेडकर इन इंडिया, अंक 59, 2006
8. सिंह नमिता (सं.), वर्तमान साहित्य, अप्रैल 2010
9. पंत सुभाष (सं.), शब्दयोग 'दलित लेखन विशेषांक' सितम्बर 2009
10. यादव राजेन्द्र (सं.), हंस 'सत्ता और दलित विशेषांक', अगस्त 2004
11. सिंह तेज (सं.), अपेक्षा, जनवरी–जून 2010
12. हरिनारायण (सं.), कथादेश, नवम्बर 2011
13. जनसत्ता 'संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट', 1 फरवरी 2010
14. जनसत्ता, संपादकीय दिलीप मण्डल, 5 फरवरी 2010
15. बिष्ट पंकज (सं.), समयांतर, फरवरी 2008 अंक